॥ अस्मद्गुरुचरणसरोरुहेभ्यो नमः ॥

सम्पादकीय निवेदन

आज इस कराल कलिकाल में धर्म एक अन्ध-विश्वास का पात्र समझा जा रहा है, दैनिक अनुष्ठान एक आडम्बर-सा होता जा रहा है। वैदिक संस्कार एक निर्वाह्य या दिखावे की वस्तु होती जा रही है। लेकिन कभी इस परम पुनीत देवभूमि का ईश्वरीय परम्परागत सनातन धर्म और तदनुकूल कर्म श्रुति-विहित नियमों से संयुक्त था। वहीं आज जड़वादों की भरमार के कारण तरल तरङ्गित अज्ञानता-समुद्र में विमोहित होने से आधुनिक तमोमय वातावरण, उस कर्म से वञ्चित होता गया, और अब तो उससे अनिच्छा प्रकट करता एवं पुरानी शृङ्खलताओं को छोड़ता जा रहा है।

फलतः ज्यों ज्यों वह इससे विरक्त होता जा रहा है, त्यों त्यों अपने आपको ज्ञान-कर्म से तिरोहित करता जा रहा है। इसीसे आज का संसार अपने आध्यात्मिक विकाश की सीमा से च्युत होकर परस्पर वैमनस्य, क्रोध, दुर्भावना, दुराचार प्रभिति में फँसता जा रहा है।

इसी कारण से उनके वंशज पूर्णायु (चिरायु) बौद्धिक-विकाश, संयमित-जीवन, ज्ञान, ध्यान, चिन्तना, यहां तक की सभी दृष्टिओं से निरन्तर प्रवहणशील-वारिधारा के समान निम्नगामी होते जा रहे हैं। उनकी सत्ता क्षीण-तम होती जा रही है।

प्रकृति का यह कठोर सत्य नियम है कि "जो जिस तरह अपने जीवन और उसके परिपोषणार्थ-वृत्ति की व्यवस्था करेगा, उसकी बुद्धि संधारण-शक्ति तथा रक्तादि उपकरण भी उसी के अनुरूप होंगे"।

अतएव सृष्टि की यह कड़ी, इस युग का यह एक अंश या फिर आज का समाज, भले ही अपने को समुन्नत समझने का दावा करे, परन्तु वस्तुतः वह तम के महान्धकूप में प्रति पल गिरता जा रहा है। यहां तक कि विनाश की दारुण-दावाग्नि में स्वयं ही पतङ्गायित होता जा रहा है।

इस महाभयङ्कर परिस्थिति का सामना करने तथा संसार को

सन्मार्ग-प्रदर्शित करने के लिए, हमारे आराध्यदेव, परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय आचार्य-देव श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य, वेदान्त-प्रवर्त्तकाचार्य, सत्सम्प्रदायाचार्यादि विरुदाङ्कित, जगद्गुरु श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डी स्वामी जी महाराज ने इस व्रत का सत्संकल्प किया है।

मुख्य-तीर्थ गङ्गा की पावन-भूमि तथा संगमादिक्षेत्रों में अनेक तरह के महायज्ञों के अनुष्ठान से, वेदादिके गंभीरज्ञान को जन-साधारण को बोधगम्य कराकर, सदुपदेश देकर, नित्यनैमित्तिक कर्मों का पालन कराकर श्रुतिस्मृत्यादिव्यवस्थित विधियों को सब के लिये सुगम कराकर, उसे युगानुरूप आचार करने की प्रेरणा देकर, आध्यात्मिक सुप्रज्वलित-प्रदीप मनुष्य मात्र के मस्तिष्क मे जलाकर दिव्यचक्षु प्रदान कर सत् रूप में परिणत कर देने के लिये महान् प्रयत्नों से जन-साधारण को उपासना प्रधान जीवन में अग्रसर कराकर प्रकृति-एवं मायाकृत कामादि व्यामोहों से जल कमल की तरह पृथक बनाकर सकल-सृष्टि को तन्मय बना देना ही अपना उद्देश्य बना लिये हैं। जगदाचार्य श्रीस्वामी जी महाराज चिदचिद्विशिष्ट श्रीमन्नारायणोत्पन्न त्रिदेव (ब्रह्म, विष्णु रूद्र) के तीनों स्वरूपों को इस तरह वशवर्ती बना लिये हैं, मानों वे इनकी आध्यात्मिक महत्ता और ईश्वर सामीप्य से ही विवश हो स्वयं चेतन होते हुए भी सृष्टि, स्थिति, और विनाश रूप निजी कर्मों की विभिन्नता का ध्यान भी छोड़ स्वरूपान्तर त्रिदण्डरूप धारण कर आपके कर-कमलों में विराजमान हैं।

इस प्रकार कल्पनातीत प्रयत्नों में निरत वेदमार्ग प्रतिष्ठापक श्री स्वामी जी महाराज की स्तुति किन-किन शब्दों में करूं। अशेष जिह्वा शेष भी जिनकी स्तुति में अपने को असमर्थ समझ रहे हैं। केवल श्रीमान् के प्रयत्न ही श्रीमान् की स्तुति कर रहे हैं।

पूर्वोक्त कारणों से ओत प्रोत आराध्यदेव श्री स्वामी जी महाराज ने प्रस्तुत उपनिषत्त्रयी पुस्तक में माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय उपनिषदों की सरल-सुबोध व्याख्या "गूढार्थदीपिका" नामक टीका से प्रकाशित कराई है। जैसे वेदत्रयी (ऋक यजुः साम) चिदचिद्विशिष्ट श्रीमन्नारायण महाप्रभु

की स्तुति किया करती है। तथा जैसे नाड़ीत्रयी (इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना) सर्वभूतों के जीवनाधार आत्मा को सदा झंकृत किया करती हैं। और रीतित्रयी (गौडी, वैदर्भी, पाञ्चाली) जैसे काव्य की सुषुमा के उत्कर्षाधायक हैं उसी तरह यह उपनिषत्त्रयी विश्ववन्द्य सनातन-सदाचार सूत्रधार श्री स्वामी जी महाराज के अनवरत यश-गान से धरा को धवलित कर रही हैं। उपनिषत्त्रयी में—

१—"माण्डूक्योपनिषद्" अथर्ववेदीय जाजल शाखा का है।

२—कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखान्तर्गत तैत्तिरीयारण्यक के सातवें, आठवें और नववें प्रपाठक को "तैत्तिरीयोपनिषद्" कहते हैं।

३—ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यकान्तर्गत द्वितीय आरण्यक के चौथे, पाचवें और छठवें अध्याय को "ऐतरेयोपनिषद्" कहते हैं।

उपर्युक्त उपनिषदो में मुमुक्षुओं के प्रति माता पिता से भी अधिक कल्याण चाहनेवाली श्रुति मुमुक्षु अधिकारियों का सकल क्लेश निवृत्तिपूर्वक परमानन्दपद प्राप्ति के लिये वेदादि परिशीलन निष्णातमति आचार्यों ने समस्त तथा व्यस्त प्रणव से ही परब्रह्मनारायण की सुगम उपासना प्रतिपादित की है। साथ ही सार्वजनीन हितकामना से श्रुतियों में आये भिन्न-भिन्ननामों से परब्रह्मनारायण की उपसना भी बतलाई है। और गृहस्थोपयोगी तथा अन्याश्रमियों के उपयुक्त समुचित लौकिक वैदिक अनेक विध व्यवहार बतलाये गये हैं। जैसे-अतिथि सत्कार, सन्तानोत्पत्तिविधि, गुरु सेवा, ऊर्ध्व पुण्ड्रधारणविधि, यज्ञोपवीत धारण विधि आदिक सप्रमाण इस उपनिषत्त्रयी में ग्रथित हैं।

अतएव यह ग्रन्थरत्न स्वाध्यायशील उपासकों का तथा विद्वत्समुदायका ध्यान अवश्य ही आकृष्ट करेगा।

श्री त्रिदण्डिदेव ग्रन्थरत्न सम्पादकः—

रामदेव रामानुज श्रीवैष्णव दास

संस्कृत कालेज, छपरा।

॥ अस्मद्गुरुभ्यो नमः ॥

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य्याणां वेदान्तप्रवर्तकाचार्य्याणां श्रीमज्जगद्गुरुश्रीभगवद्रामानुजसिद्धान्तनिर्वाहकाचार्याणां शमदमाद्यनन्तकल्याणगुणालंकृतानां सर्वतंत्रस्वतंत्राणां परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीमच्छठरिपुयतिवरसौम्यवरवादिभीकरनिबन्धननिबद्धहृदयानां स्वनुष्ठापितशताधिकक्रतूनामनन्तश्रीसम्पन्नानामस्माकं प्राप्यप्रापकभूतानां प्रपन्नपारिजातानामखिलभूमण्डलालङ्काराणां लक्षाधिकशिष्यसमादृतपादपद्मानां श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यत्रिदण्डिस्वामिनां श्रीचरणारविन्दयोः एकचक्रामण्डले गङ्गासरयूसुमेले सभक्तिश्रद्धं विद्वत्सन्निधौ समुपह्रियमाणः पद्यपुष्पोपहारः।

विशालेभाले भा विलसति सदाभातितिलकं
विशुभ्रं यस्यास्ते कलितमुपवीतं सुविततम्।
करे दक्षादक्षे करकशुभगं वैणववरं
तमासीनं पद्मे यतिपतिमहं नौमि सततम् ॥१॥
तपोमूर्ते स्वामिन् जनकजननी धन्यतनयौ
गुरुर्धन्यो धन्यं तव जनिधराधामसुभगम्।
कुलं धन्यं धन्याः नयनपरिपूता भुवि जनाः
यशोगीतैर्धन्या वयमपिनतास्तेऽङ्घ्रिमधुपाः ॥२॥
पुरे श्रीपालाख्ये सुरधुनिकृते मञ्जुरुचिरे
पदीभूतेस्तम्भे विरसमुपयाते सरसताम्।
सुसंजाते जाता हरितनवशाखासुललिता
महाश्चर्यं दृष्ट्वा भवति न हि को यस्य हृदये ॥३॥
श्रुतः पूर्वं यागो मुनिवरवशिष्ठादिविहितः
तदीया संजाता निगमभणितिर्नेत्रपथगा।
परं लुप्तो लोके क्वचिदपि न दृष्टो जनपदे
यतीन्द्रैरादर्शि क्रतुभिरमलैः सार्धशतकैः ॥४॥
महायोगिन् योगैरतिकृशतनुर्दीप्तिबहुलः
समाधिष्ठातस्तेऽवनितलतपः ख्यातिप्रचुरा।
महाविद्याचार्य्य प्रणतरिपुयूथाधिपतिको
यते पादाम्भोजे नतिततिरभिन्ना लसतुमे ॥५॥

ले० व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ
संस्कृत-अध्यापक पं० मदनमोहन द्विवेदी
महात्मा गान्धी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय
[illegible] (बलिया)

द्वादश्याम्
सं० २०१० वि०

॥ ओं गदाधराय नमः ॥

वाग्वादिनी सुरशिरोमणि कोटि कोटी
कोटीररञ्जितपदा विपदां निहन्त्री ।
हेतुः समस्तजगतां नलिने निषण्णा
सर्वार्थसाधनमना भवत प्रसन्ना ॥१॥

धन्येयं नगरी समास्तिकजनैराद्रीऽयमाणा गया
तस्यां भाग्यवशात्समस्तजनता कल्याणकृत् श्रीयतिः ।
विष्वक्सेन इव श्रुतो बुधवरैः स्वामी त्रिदण्डी महान्
विष्वक्सेन इति श्रुतो विजयते श्रीविष्णुयागोत्सवे ॥२॥

यागे यत्र च कर्मठाः श्रुतिविदो वाराणसेया बुधाः
काञ्चीतोऽपि समागताः शुभतरे काले हि यागोत्सवे ।
अत्रत्या विबुधाः प्रसन्नभनसः श्रीस्वामिसेवापरा
यत्रासन् धनिनोऽपि मङ्गलमयः सम्पन्न एवाधुना ॥३॥

यैरारद्धि मखेन लोकहृदये धर्मेऽनुरागः परा
भक्तिः सद्विनयप्रियत्वममलं काले कराले कलौ ।
तेषां पुण्यवताञ्च पूर्णमहिमश्रीस्वामिनां दण्डिनां
पादाम्भोजयुगे समर्पितमिदं पत्रं प्रसादाय वः ॥४॥

नानापुराण निगमागमसंमतेन
सत्सम्प्रदायवचनेन नृणां मनांसि ।
पूतानि संविदधुना भगवत्स्वरूपः
विद्यालयीयजनताभ्युदयं करोतु ॥५॥

ले० साहित्य व्याकरणाचार्य-
श्री गणेशदत्तमिश्रः
श्रीसोना विद्यालयाध्यापकः
ब्राह्मणीघाट, गया ।

मार्गशीर्ष पूर्णिमायाम्
सं० २००८ वि०

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

पूर्वाखण्डतपोभिराप्तसुकृतैर्यद्दर्शनं लभ्यते
शश्वद्देववचोऽमृतेन सहसा ज्ञानाङ्कुरो वर्धते ।
मोहध्वान्तनिवारणाय तरणिः कारुण्यरत्नाकरः
आचार्यो जयतात्सुपूज्यचरणः सेनेशयोगीश्वरः ॥१॥

वेदाभ्यासविनाशितं कलिमलं योगेऽनुरक्तं सदा
पद्मोपासितपादपद्मयुगलं श्रीविष्णुध्याने स्थितम् ।
पापाज्ञानविनाशनाय जगतां हस्ते त्रिदण्डं दधत्
भक्तानां सुखदं त्रिदण्डिचरणं ध्याये सदाहं मुदा ॥२॥

धन्या गया सम्प्रति भूमिभागे सुशोभते श्रीचरणारविन्दम् ।
वयं च धन्याः शुभदर्शनेन लभामहे जन्मफलं कृतार्थाः ॥३॥

सद्यज्ञेऽत्र समागताः श्रुतिधरा वाराणसेया बुधाः
काश्चीतः समुपस्थिताः बुधवराः श्रीवैष्णवाः सद्गुणाः ।
यागेऽत्रत्यनिवासिनो हि विबुधाः शास्त्रार्थपारङ्गताः
सर्वेऽस्मिन् धनिनोऽप्यनन्यमनसः संलग्नचित्तादराः ॥४॥

पौराणिकाः सुकलकीर्तनकारिणश्च
व्याख्यानदाः नयविदो ह्युपदेशकाश्च ।
यज्ञे समेत्य परहर्षतयाथ सर्वे
शोभां सुचक्रुरिह विष्णुपदे सुयज्ञे ॥५॥

धूमैर्मेदुरमम्बरं दशदिशो ध्वन्या श्रुतेः पूरिताः
अग्नेरिद्धशिखाश्च भान्ति चपलाः वृष्टिः घृतस्याहुतिः ।
जानन्तो नभसीह पक्षिनिवहाः प्रावृट् क्षणं भ्रान्तितः
व्यस्ता सर्वत एव खे कलरवैः मार्गन्ति स्वं नीविडम् ॥६॥

अष्टाभ्रखाक्षौ शुभवैक्रमाब्दे सन्मार्गशीर्षे गुरुपूर्णिमायाम् ।
यज्ञे मनोज्ञे श्रुतिधर्ममार्गे रामप्रपन्नेन सुवैष्णवेन ॥७॥

श्रीलक्ष्मीनारायणमूर्तिभव्यां रामानुजीये हि गयामठेऽस्मिन् ।
त्रिदण्डधारी परमः दयालुः संस्थापयामास गुरुर्यतीन्द्रः ॥८॥

मानदीपः द्विजश्चैषः श्रीविष्णुपदसंश्रितः ।
सर्वतो भक्तिभावेन त्वामेव शरणं गतः ॥९॥
अपूर्वश्च समारोहः यज्ञस्यास्तीह सुन्दरः ।
वचोऽतीतो यतस्तस्मादलं लेखनतो मम ॥१०॥

मार्गशीर्ष पूर्णिमायाम्
सं० २००८ वि०

लें० साहित्याचार्य्यः माधवाचार्यः
(पं० मानदीप मिश्रः)
(श्रीरामानुजाचार्य मठ देवघाट, गया)

॥ श्रीविष्णवे नमः ॥

विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी जी का जग में शुभ अवतार ।
हुआ धर्म संस्थापन के हित, सुरगण रक्षक परम उदार ॥१॥
नन्द व्योम नख-अंक सुसम्वत् लेने आया जब उपहार ।
शुभ अवसर पर स्वामीजी ने है गूढार्थ दिया तब हार ॥२॥
ईश केन कठ प्रश्न तथा मुण्डक श्रुतियों का ले आधार ।
धवल बही 'गूढार्थ दीपिका' स्वामी जी के उर की धार ॥३॥
उपनिषदों की श्रुतियों में गूढार्थ-दीपिका मालाकार ।
जिनके श्रवण मनन से होता मुमुक्षुओं का है उद्धार ॥४॥
वैदिकधर्म प्रचारक यतिवर आस्तिकजन के प्राणाधार ।
भव विरक्त अनुरक्त ध्यानमें प्रतिपल आगम करें विचार ॥५॥
अखिलेश्वर के पादपद्म में कियो समर्पित विश्व अपार ।
भगवद्भक्त अचलव्रतधारी धर्म कर्म प्रतिमा साकार ॥६॥
कष्ट अनेकों पड़ने पर भी सदा साधुता पर उपकार ।
दीनदशा अवलोक हृदय में बहती जिनके करुणाधार ॥७॥
अनहित करने वाले का भी हित करते जो बारम्बार ।
शुभाचार सम्पन्न सुजनता क्षमा शीलता के भण्डार ॥८॥
स्वयं बुभुक्षित रहकर भी जो करते भूखों का सत्कार ।
ऊँच नीच का भाव त्यागकर करते समता मूलक प्यार ॥९॥

स्वामी जी के शुभाचार से सत् शिक्षा पाता संसार।
"यज सेवायाम्" से ही होगा वसुधा में सुख का संचार ॥१०॥
महिमा अमित कहांलगि वरणौं विद्या बुद्धि न पावे पार।
रामविलास दास चरणों का जय हो जय हो जगदाधार ॥११॥

विजयदशम्याम्
सं० २००६ वि०

पं० रामविलास शर्मा
कछुआ रामपुर, (बलिया)।

श्री १००८ श्रीमदखिलभूमण्डलालङ्कारविद्वद्वरसेवितानवरताद्यविद्याविनोदरसिकानां निरन्तरालङ्कृतिशान्तदान्तभूम्नां सकलभुवनचक्रप्रतिष्ठापकश्रीसम्प्रदायप्रतिष्ठाविख्यातयशोऽलङ्कृतानां पाषण्डमतखण्डनवेदोभयवेदान्तमार्गप्रतिष्ठापकाचार्याणां श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्णातानां पाषण्डमार्गमत्तकुञ्जरमर्दनमृगेन्द्रानाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तषड्दर्शनस्थापनाचार्यजगद्गुरुभगवदनन्तपादीयश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यत्रिदण्डिस्वामिवर्याणां करसरोरुहेषु सादरं शुभाभिनन्दनपत्रसमर्पणम्।

अभिनन्दनं स्वभिनन्दनं परमार्थतत्त्वविधायिने।
सेनान्तविष्वक् श्रीसुशोभित श्रीमते च त्रिदण्डिने ॥१॥
श्रीशङ्खचक्रगदाम्बुजाङ्कितविष्णुवैभवरूपिणे।
काषायवस्त्रविभूषिताय विशेषशेषस्वरूपिणे ॥२॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रविराजिताय सुयज्ञसूत्र प्रधारिणे।
यज्ञदानप्रदानमानसुगानध्यानप्रचारिणे ॥३॥
वेदशास्त्रसुशस्त्रस्वस्त्रप्रबुद्धबुधगुणगामिने।
नीतिप्रीतिसुरीतिर्गीतिप्रतीतिपूर्णप्रदायिने ॥४॥
विहितब्रह्मानन्दपदपुष्पेणसार्धं ते नमः।
स्वभिनन्दनं स्वभिनन्दनं स्वभिनन्दनं स्वभिनन्दिने ॥५॥

ले० श्रीस्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती
व्याकरणाचार्य पोष्टाचार्य सांख्य-योग-वेदान्त-
धर्मशास्त्रशास्त्री काव्यतीर्थश्च
प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज ... (पटना)

विजयदशम्याम्
सं० २००६ वि०

॥ श्री मते रामानुजाय नमः ॥

अभिनन्दन पत्र

श्री १००८ श्रीमद्वेऽमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य वेदान्तप्रवर्त्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य सत्सम्प्रदायाचार्य्य जगद्गुरुभगवदनन्त-पादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्य श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज के चरण कमलों में "श्रीमहालक्ष्मीनारायण यज्ञ" "ज्ञानपुर-सेमरिया" में सादर समर्पित ।

यज्ञ महालक्ष्मीनारायण, पावन संगम धारा ।
विमलाधार सलिल मन भावन, लखत सबहिं विधि न्यारा ॥१॥
पूरब ग्राम सेमरिया प्यारा पश्चिम है पुर न्यारा ।
उत्तर सुन्दर संगम दक्षिण कपिलधाम शुभ द्वारा ॥२॥
ताहि मध्य स्वामीजी राजै, सुन्दर भद्र समाना ।
धर्म धुरंधर यतिवर नायक, सुमिरत हरि गुण ज्ञाना ॥३॥
कपिल कणाद सरिस निपुणाई, पुनि कलिमल भय हारी ।
विमल सुमति नारद शारद सम, सदा सत्य व्रत धारी ॥४॥
स्वामी करहिं त्रिदण्ड विराजत, पावन यश जग गाये ।
सदा यज्ञरत हरिपद पंकज, निशिदिन ध्यान लगाये ॥५॥
ग्राम अनेक यज्ञ प्रभु कीन्हे, सबसे वृहत् यहां हैं ।
जीवन मुक्त मही पर विचरत, नर सौभाग्य जहां हैं ॥६॥
कहौं आज मख होत यहां जो, सुनिये मन चित लाई ।
सम्वत् दो सहस्र दस माहीं शरदी ऋतु जब आई ॥७॥
अश्विन मास सुहावन दसमी, शुक्ल पक्ष रविवारा ।
यज्ञारम्भ हुआ तेहि दिन ते, पूर्ण हुआ गुरुवारा ॥८॥
मोहन मूरत मुनि की सोहे, गड़ी रहे हृत् देशा ।
लखि स्वामी का रूप अलौकिक, रहे न सुधि लव लेशा ॥९॥
बड़भागी गंगा तट वासी नित दर्शन के पाये ।
धन्य भूमि यह आज यहां की, श्री स्वामीजी आये ॥१०॥
ऐसे प्रणत पाल पद पंकज ढिग मधुकर मन मेरा ।
सदा लीन हो अटल विराजे, भक्ति सहित कर डेरा ॥११॥

हृदय धरातल धर्म-मूल जो सूखत नित मुरझाई।
ज्ञान नीर सींचत स्वामी के, उठत परत हरषाई ॥१२॥
गंग नदी के पावन तट पर, ग्राम सेमरिया भाये।
"रामशुभग" पद रत स्वामी के, गुण गाये चित लाये ॥१३॥
अरजी एक और है स्वामी, कहत डरत मन मोरे।
मम पुरवासिन दर्शन चाहत, विनय करत करजोरे ॥१४॥

स्वामी पद सेवक
रामसुभग पांडेय
(कथावाचक)
मो० सेमरिया, पो० बड़हरा
(शाहाबाद)

विजयादशमी
सं० २०१०

॥ हरि ॐ ॥

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचाय वेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसत्संप्रदायाचार्यजगद्गुरुभगवदनन्तपादीयश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यश्रीत्रिदण्डिस्वामिमहाराजाय पुष्पपत्रमिदम्।

॥ ॐ ॥ ॥ ॐ ॥ ॥ ॐ ॥ ॥ ॐ ॥ ॥ ॐ ॥

श्रीपरमहंसायविष्वक्सेनविष्णुस्वरूपिणे।
पुष्पमाल्यमिदं समर्पणमीशरूपत्रिदण्डिने ॥श्रीपरम०॥
वेदमार्गप्रवर्तकाय सनातनाय महात्मने।
सत्समर्थक-शैव-वैष्णव-विशदविश्वपरात्मने ॥श्रीपरम०॥
उर्ध्वपुण्डविराजिताय-सुयागयज्ञविधायिने।
सद्धर्मकर्मप्रकाशनेन भवाब्धितरणीतारिणे ॥श्रीपरम०॥
श्रीजगद्गुरवे गुणाकरशास्त्रसौरभपारिणे।
पाखण्डखण्डनहेतुवेदसुशास्त्रशस्त्रसुधारिणे ॥श्रीपरम०॥
शब्दशास्त्रसुदर्शनादि पुराणपूर्णप्रकाशिने।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता परतन्त्रतन्त्रविनाशिने ॥श्रीपरम०॥
देवऋषि ब्रह्मर्षि विद्याज्ञानमान्यप्रदायिने।
ब्रह्मविद्यावेदशास्त्रपुराणश्रुतिशुभधारिणे ॥श्रीपरम०॥

श्रीविशिष्टाद्वैतश्रुतिसंपाद्यसम्मतिशालिने ।
तत्त्वमस्यादिकमहाश्रुतिवाक्यसार्थसुमालिने ॥श्रीपरम०॥
जीवमायाब्रह्मत्रितयसमूहनित्यविचारिणे ।
वाङ्मनःकायिकत्रिदण्डकराय देवस्वरूपिणे ॥श्रीपरम०॥
औपनिषद्स्वरूपमानसहंससंशयशायिने ।
प्रकृतिपुरुषविचारदक्षविपक्षपक्षप्रहारिणे ॥श्रीपरम०॥

निवेदकः—
स्वा० ब्रह्मानन्द सरस्वती
व्याकरणाचार्यः, पोष्टाचार्यः, सांख्य-योग-वेदान्त-
धर्मशास्त्र-साहित्य शास्त्री-काव्यतीर्थश्च ।
श्रीशारदा भवनानन्दभवनस्थः,
(कौशाम्बी) कोईलवर, आरा, शाहाबाद ।

॥ ॐ श्री महालक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः ॥

विविधविद्याविद्योतितान्तःकरणानां, निजामृतवचः सिञ्चित-जनमानसमहीरुहाणामस्मन्मानसराजहंसानां, प्रातःस्मरणीयानां श्रीमतां श्री १००८ श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्यश्रीत्रिदण्डिस्वामिनां चरणसरसिजयोः सप्रश्रयं सबहुमानपुरःसरञ्च समर्प्यन्ते भक्तिपूर्णाः पुष्पाञ्जलयः ।

भागीरथीयाम्यतटे प्रसिद्धं विराजते ज्ञानपुरं सुरम्यम् ।
तत्पूर्वपुण्येनमहर्षिपूज्यास्त्रिदण्डिपादाश्च समागता वै ॥१॥
मासैश्चतुर्भिः सुतरां मुमुक्षून् विबोध्यसत्तत्त्वमुपाश्रितान् हि ।
अन्ते समेषां शुभमङ्गलार्थमुपास्यते विष्णुप्रधानयज्ञः ॥२॥
श्रीमन्तः परमार्थतत्त्वनिपुणा ज्ञानाम्बुधेः पारिणः ।
श्रौतस्मार्तविधानकर्मनिपुणा आचार्य्यवर्य्याः शुभाः ॥
सत्यासत्यविचारलब्धपरमाः श्रीस्वामिपादाभिधाः ।
येषां मार्गप्रदर्शनस्य परमः पाको हि यज्ञः स्मृतः ॥३॥
निष्कामयज्ञैश्चमहर्षिपादा विहारदेशञ्चसमुन्नयन्तः ।
सर्वत्रसद्ज्ञानप्रचारयन्तस्ततः पदंलोकगुरुत्वमापुः ॥४॥

आचार्य्यपादैर्विहिते च यज्ञे कथं जनानां परमा च श्रद्धा ।
विशिष्यसत्येनसमन्विते हि प्रेक्षावतां साभिनिवेशवृत्तिः ॥५॥
यज्ञाश्चलोके विविधा हि दृष्टाः समागमस्तेषु विपश्चितान्ते ।
अतश्चलोकेऽद्भुततामवाप्त आचार्य्ययज्ञःप्रथितश्चकास्ति ॥६॥
शास्त्रेषु प्रोक्ता वहवो हि यज्ञास्तेषां च सम्मेलनमत्र यागे ।
आश्चर्य्यवन्तंनितरामवेद्य दिवौकसश्चात्रसमागता वै ॥७॥
आचर्य्यपादसविधे विविधाग्रहो नो ह्यज्ञानसागरनिमज्जनतत्पराणाम् ।
प्रोत्सार्य्यज्ञानमहसा सततं तमश्च ह्यानन्दसागरपदे वितरन्तु भक्तिम् ॥८॥
परमसत्यपदं प्रविविक्षुभिर्विविधधीधनवृन्दसुपूजिताः ।
अघसमूहसमूलविनाशकाः समुपसेव्यतमाःपदपंक्तयः ॥९॥
निखिलवादिजनाः स्वधिया जिताः सुरगिरां च नितान्तसमाश्रयाः ।
मतिमतां च विमुक्तिप्रदायकाःसततब्रह्मपदे नितरां रताः ॥१०॥
आकाशेन्दुखवाहुसम्मिततमे श्रीवैक्रमे वत्सरे ।
मासे चाश्विननाम्नि चन्द्रतिथिके पक्षे सिते शोभने ॥
श्रीमत्पूज्यगुरोरमोघकृपया लक्ष्मीश्वरस्यापिच ।
श्रीलक्ष्मीश्वरयज्ञकार्यनिवहः पूर्णाहुतिं यास्यति ॥११॥
सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां गीष्पतित्वमुपेयुषाम् ।
सच्चिदानन्दभक्तानां पादाम्वुजमुपास्यते ॥१२॥

तदीयचरणाब्जचञ्चरीकेण
मथुरानाथ त्रिपाठिना
लब्धव्याकरणसाहित्याचार्य्येण
आराराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयप्रधानाध्यापकेन
२०१० विक्रमाब्दः ।

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य्योभयवेदान्तप्रवर्त्तकाचार्य्यसत्संप्रदा-
याचार्य्यश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यजगद्गुरुभगवदनन्तपादीयश्रीम-
द्विष्वक्सेनाचार्यश्रीत्रिदण्डस्वामिवर्य्याणाम् सेवायाम् समर्प्यत-

इदमभिनन्दनपत्रम्

चारूद्र्ध्वपुण्ड्रविभवेन विशुद्धभालम्
श्रीशंखचक्रपरिचिह्नितबाहुमूलम् ।
शुभ्रोपवीतछविराजितदीप्तदेहम्
काषायिणं प्रभुवरं भगवन्तमीडे ॥ १ ॥

शंखाब्जचक्रसुगदायुतहस्तपुञ्जम्
ब्रह्मादिसेव्यपदपल्लवमीशवर्य्यम् ।
ध्यायन्तमच्युतमशेषसुधीन्द्रवन्द्यम्
सेनाधिपं यतिवरं भगवन्तमीडे ॥ २ ॥

ब्रह्मानुकीर्तनपरं शुभयोगदक्षम्
सिद्धाशनस्थमतिमञ्जुलशान्तिरूपम् ।
सिद्ध्यादिभिः परमपूजितपादपद्मम्
सेनाधिपं यतिवरं भगवन्तमीडे ॥ ३ ॥

शास्त्रानुकूलवचनैः विविधैरकाट्यैः
श्रीभाष्यकारसुमतं प्रविकाशयन्तम् ।
पाखण्डखण्डनविधौ कुशलं प्रसिद्धम्
सेनाधिपं मतिवरं भगवन्तमीडे ॥ ४ ॥

ग्रन्थान् विलिख्य विविधान् बहुभिः प्रयासैः
मूल्यं विनैव बुधराजगणाय दत्वा ।
राष्ट्रोन्नतिं सुकृपयैव हि साधयन्तम्
सेनाधिपं बुधवरं भगवन्तमीडे ॥ ५ ॥

पद्भ्यां विधाय बहुशो गमनं स्वदेशे
वेदोपदेशसुरनिर्झरिणीप्रवाहैः ।

सम्यक् स्वभक्तकलुषाणि विनाशयन्तम्
सेनाधिपं ह्यघहरं भगवन्तमीडे ॥ ६ ॥
लक्ष्याधिकान् नरवरान् शरणागतान् वै
शिष्यान् विधाय विधिना कुरुते सुयोग्यान् ।
श्रीवैष्णवस्य शुभकेतनदण्डकस्तम्
सेनाधिपं गुरुवरं भगवन्तमीडे ॥ ७ ॥
गङ्गातटे सेमरिया वसतौ मनोज्ञे
पर्णाश्रमे फलकपीठविराजमानम् ।
पार्श्वागतान् जनवरान् किल शिक्षयन्तम्
सेनाधिपं सुखकरं भगवन्तमीडे ॥ ८ ॥
श्रीवैष्णवीयपरिषत्सु सभापतित्वम्
लब्ध्वा जनान् सुवचनैः कृतवान् कृतार्थान् ।
सम्पादयन्तमधुनोक्तसभान्तमीड्यम्
सेनाधिपं शुभकरं भगवन्तमीडे ॥ ९ ॥
नभश्चन्द्राकाशाक्षणि सुखदवर्षेऽतिविमले
पवित्रे कन्यार्के सितदलदशम्यां दिनमणौ ।
महालक्ष्मीनारायणमखवरं सर्वसुखदम्
सुभक्त्या कुर्वन्तम् यतिवरमहन्नौमि मनसा ॥१०॥
उक्ताध्वरस्य पूर्णत्वम् पूर्णिमायाम् बृहस्पतौ
यतीन्द्रो लप्स्यते सम्यक् विश्वकल्याणहेतवे ॥११॥
गंगातटस्थघुरहू पुरवासभूमौ
श्रीरामवृक्षसुरशिक्षणकेन्द्रमध्ये ।
भक्त्याभिनन्दनमिदं कृतवान् तदेतत्
सेवां करोतु यतिपादपयोजयोर्वै ॥१२॥

श्रीमच्चरणसरोजभृङ्गः—

आरामण्डलान्तर्गतभगवतपुरग्रामनिवासी व्याकरणसाहित्याचार्य्यः साहित्यालङ्कारः शाहाबादमण्डलान्तर्गतश्रीरामवृक्षसंस्कृतविद्यालयप्राध्यापकः श्रीनिवासाचार्य्यः ।

शिवपूजन त्रिपाठी

॥ श्री लक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः ॥

॥ अभिनन्दन पत्रमिदं ॥

जयतु जयतु विष्वक्सेन, आचार्यपादः ।
प्रभवतु तव कीर्तिर्विश्ववन्द्या सुपूता ॥
विमलविशदभक्ती राजताम् ते हरौ सा ।
अनितु शतसमासः श्री त्रिदण्डी यतीशः ॥१॥

श्रीत्रिदण्डी यतीशस्य पूज्याचार्यस्य पादयोः ।
विष्वक्सेनाभिधानस्य सन्तु ते नतयोः शुभाः ॥२॥

कलौ येन वितीर्णोऽयम् यज्ञादेशः सुसुन्दरः ।
वैदिको हितकृन्नॄणां ग्रामे ग्रामे मठे मठे ॥३॥

कलौ पापे समाकीर्णे वातावरणदूषिते ।
पुण्यराशिरियानेषः राजते भुवि सूर्यवत् ॥४॥

विद्वान्सः शास्त्रविज्ञास्ते विमर्शं कुर्वतेऽत्र वै ।
साधवः सुधियाः शान्ताः जनौघाश्च तथेतरे ॥५॥

अश्नन्ति तन्मयं दिव्यं भोज्यं चारु च नित्यसः ।
भक्ताः पूज्या महात्मानः यज्ञेऽस्मिन् विहरन्ति ते ॥६॥

सत्कृताः सज्जनाः सर्वे मोदन्ते भुवि सांप्रतम् ।
गीताचणः शास्त्रवित्तः वेदचुञ्चुः सुधीवरः ॥७॥

आचार्यः व्यासवद्योगी उपदेशं करोत्ययम् ।
अतः कलावतीर्णो नु योगीरूपो रमापतिः ॥८॥

यत्यपि वै कुवेरात्सः धनाढ्यो प्रतिभाति नः ।
यं दृष्ट्वा स्वर्गलोकेऽपि भवन्ति चकिताः सुराः ॥९॥

यत्कर्म विमलं वीक्ष्य गंगा सरयूश्च मोदते ।
त्यक्त्वा स्थानं च भावत्कम् कुर्वाते संगमं मिथः ॥१०॥

विप्रस्य लालयुक्तस्य श्रीवहादुरशर्मणः ।
दासस्य कृतिरेषा वै वाग्रूपा पुष्पमंजरी ॥११॥

खैकव्योमाद्विवर्षे वै आश्विने पूर्णिमातिथौ ।
स्वान्तपुष्पाञ्जलिस्त्वेषा गुरौ पूज्ये समर्प्यते ॥१२॥

वि० २०१० आश्विन

श्री वहादुरलाल शर्म्मा
चानपुर, सेमरिया ।

ओं लक्ष्मीनाथाय नमः ।

अथर्ववेदीया

माण्डूक्योपनिषद्

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥

* गूढार्थदीपिका व्याख्या *

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

मन्दाकिनीसलिलसिक्तपदारविन्दं
दिव्याब्जचक्रसुगदाप्तकरारविन्दम् ।
ब्रह्मेशशेपविहगेशसमर्चिताङ्गं
सिद्धाश्रमस्थमनिशं भगवन्तमीडे ॥१॥

माण्डूक्यादिरहस्यानां श्रीभाष्याद्यनुसारिणी ।
गूढार्थदीपिका व्याख्या क्रियते शिष्ययाच्ञया ॥२॥

अन्वयार्थ—(ओम्) परब्रह्म नारायण (इति) इस प्रकार का (एतत्) जो यह (अक्षरम्) विनाश रहित सत्य है (इदम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त यह (सर्वम्) भोक्तृ-भोग्यरूप सब जगत् (तस्य) उस परब्रह्म नारायण का (उपव्याख्यानम्) निकटतम महिमा का विशेष रूप से लक्ष्य करानेवाला है (भूतम्) अतीत काल में विद्यमान तथा (भवत्) वर्तमान काल में निरन्तर रहनेवाला और (भविष्यत्) आगामि काल में भी एक प्रकार से सर्वदा रहनेवाला परमात्मा है (इति) इस कारण से (सर्वम्)

सब चिदचिदात्मक प्रपञ्च (ओङ्कारः) ओम् परब्रह्म नारायण से प्रतिपादन किया जाता है। इससे सब संसार ब्रह्मात्मक (एव) ही है (च) और (यत्) जो (त्रिकालातीतम्) तीनों कालों से परे (अन्यत्) दूसरा कालत्रयकृत विकारहीन रूप है (तत्) वह (अपि) भी (ओङ्कारः) ओम् इससे उच्यमान विनाश रहित परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके है ॥१॥

विशेषार्थ—अथर्ववेद के जाजलशाखा की "माण्डूक्योपनिषद्" है। इस उपनिषद् में मुमुक्षु अधिकारियों के निखिलक्लेश निवृत्तिपूर्वक परमानन्दप्राप्ति के लिये सकल वेद शास्त्र दिव्यसूरि और पूर्वाचार्यों से अत्यादरपूर्वक स्वीकार किया हुआ समस्त तथा व्यस्त प्रणव से परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन की गई है। तिसमें पहले प्रणव के विषय में लिखा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्वे० मण्डल १ सूक्त० १६४ मं० ३९) (श्वेताश्वतरोप० अध्या० ४ श्रु० ८)

जिस प्रणव में समस्त देवगण भलीभांति स्थित हैं उस परम व्योम प्रणव अक्षर में संपूर्ण वेद स्थित हैं जो मनुष्य उस ओङ्कार को नहीं जानता है वह वेदों के द्वारा क्या सिद्ध करेगा? परन्तु जो उस प्रणव को जानते हैं वे तो सम्यक् प्रकार से स्थित रहते हैं ॥३९॥८॥ इस श्रुति पर यास्काचार्य स्पष्ट लिखे हैं—

इति विदुष उपदिशति- कतमत्तदेतदक्षरमोमित्ये-
षा वागिति शाकपूणि-"ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने
धीयन्ते नानादेवतेषु च मंत्रेष्वेतद्भवा एतदक्षरं
यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रती" ति च ब्राह्मणम् ॥

(निरुक्त अध्या० १३ पाद १ खण्ड १०)

जिस परम व्योम संज्ञक अक्षर में देवादि स्थित हैं वह अक्षर कौन है? ओम् यह वाक् परम उत्कृष्ट सब की रक्षा करनेवाला जो प्रणव है उसमें ही सम्पूर्ण ऋग्वेदादि मंत्र अध्ययन किये जाते हैं। और जो अनेक देवता हैं वे सब मंत्रों में स्थित हैं तथा मंत्रों में कारण होने से यह अक्षर व्याप्त है क्योंकि सर्ववेदत्रयी विद्या के प्रति यह अक्षर व्याप्त है ऐसा ब्राह्मण भी प्रतिपादन करता है। यह शाकपूणि नामक निरुक्तकार का मत है ॥१०॥

ओं खं ब्रह्म ॥ (शुक्लयजु० अध्या० ४० मं० १८)

ओं खं ब्रह्म पद वाच्य नारायण हैं ॥१८॥

ओं क्रतो स्मर ॥ (ईशोप० श्रु० १७)

हे सच्चिदानन्दघन परब्रह्म नारायण हे ज्योतिष्टोमादिक्रतुस्वरूप भगवन् मुझ अकिंचन भक्त को आप स्मरण करें ॥१७॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतदिति ॥
(कठोप० अ० १ व० २ श्रु० १५)

समस्त वेद जिस प्राप्यस्वरूपपद को साक्षात् या परम्परा से बारंबार प्रतिपादन करते हैं और समस्त तपस्यायें जिस प्राप्य स्वरूप को कहते हैं और जिस प्राप्य स्वरूप की इच्छा करते हुए गुरुकुलवास स्त्रीसङ्गराहित्यादि ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं उस प्राप्य स्वरूप पद को तेरे लिये संक्षेप से कहता हूँ ओम् यह ब्रह्म का निर्देश इस प्रकार यह प्राप्य स्वरूप का वर्णन यहां पर समाप्त होता है ॥१५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

निश्चय करके यह ओम् ही अक्षर ब्रह्म प्राप्ति के साधन होने से ब्रह्म है निश्चय करके यह प्रणव ही अक्षर सब वेदों में श्रेष्ठ है निश्चय करके इस ओम् अक्षर का उपासना करके जो पुरुष जिस वस्तु की इच्छा करता है निश्चय करके उस उपासक को वही मिल जाता है ॥१६॥ यह ओङ्काररूप आलम्बन ब्रह्मोपासना के लिये सब से श्रेष्ठ है यह प्रणवरूप आलम्बन सर्वोत्कृष्ट है इस ओम् आलम्बन को आचार्य से भलीभांति जानकर परब्रह्म के लोक में उपासक पूजित होता है ॥१७॥

तस्मै सहोवाच । एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारः ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ (प्रश्नोप० प्रश्न० ५ श्रु० २)

प्रसिद्ध वह पिप्पलादमहर्षि उस सत्यकाम ऋषि के अर्थ कहा कि—हे सत्यकाम जो ओङ्कार है यह निश्चय करके पर (कारण) और अपर (कार्य) ब्रह्म है तिस कारण से उपासक पुरुष इस ओङ्काररूप मार्ग के अवलम्ब से निश्चय करके पर या अपर किसी एक ब्रह्म की उपासना करता है ॥२॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्कवयोवदन्ति । तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।

(प्रश्नो० प्र० ५ श्रु० ७)

ह्रस्व प्रणव की उपासना से उपासक ऋग्वेद के मंत्रों करके इस मनुष्य लोक को प्राप्त होता है तथा दीर्घ प्रणव की उपासना से उपासक यजुर्वेद के मंत्रों करके अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रलोक को प्राप्त होता है और क्रान्तदर्शी प्लुत प्रणव की उपासना से सामवेद के मंत्रों करके जिस परब्रह्म लोक की प्राप्ति को कहते हैं विवेकशील उपासक ओङ्काररूप निश्चय करके मार्ग के अवलम्बन से उस परब्रह्म नारायण को प्राप्त होता है जो वह परब्रह्म नारायण परम शान्त जरारहित मरणरहित भयरहित और सर्वश्रेष्ठ परमात्मा है ॥७॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत् ॥

(मुण्डको० मु० २ खं० २ श्रु० ४)

प्रणव धनुष है और आत्मा बाण है वह परब्रह्म नारायण लक्ष्य कहा जाता है विषयान्तरविमुख एकाग्रचित्त करके वेधना चाहिये अर्थात् परब्रह्मैकशेषत्वेन ध्यान करना चाहिये जैसे लक्ष्य में निमग्न बाण लक्ष्य की अपेक्षा से भेदक आकार की स्फुरणा से रहित होता है वैसे ही परमात्मा में प्रणव से समर्पित प्रत्यगात्मा के परब्रह्म की समता लक्षणा मुक्ति को प्राप्त किया हुआ ज्ञानैकाकार जीवात्मा के देव मनुष्यादि लक्षण भेदक आकार की स्फुरणा से रहित हो जाना चाहिये ॥४॥

ओमित्येवं ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः ॥ (मुण्डको० मु० २ खं०२ श्रु० ६)

ओम् इस नाम के द्वारा परब्रह्म नारायण को ध्यान करो इस प्रकार के ध्यान के लिये प्रवृत्त तुमलोगों के लिये कल्याण हो ॥६॥

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा । अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओं

शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ॥ (तैत्तिरीयो० वल्ली० १ अनुवा० ८ श्रु० १)

ओम् यह ब्रह्म है । ओम् यह सर्वरूप है । ओम् यह अनुकरण सम्मतिसूचक संकेत है ऐसा प्रसिद्ध है । याज्ञिक लोग "ओश्रावय" ऐसा कहकर श्रवण कराते हैं । ओम् ऐसा कहकर सामगान करते हैं । ओम् शोम् ऐसा कहकर गीतिरहित ऋचाओं का पाठ करते हैं । अध्वर्यु प्रत्येक कर्म के प्रति ओम् ऐसा उच्चारण करता है । ओम् ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है । ओम् ऐसा कहकर वह अग्निहोत्र के लिये आज्ञा देता है । वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ओम् ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है कि—मैं परब्रह्म नारायण को प्राप्त करूँ ॥१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति ॥

(छान्दोग्यो० अ० १ खं० १ श्रु० १)

ओम् इससे अविनाशी उद्गीथ परब्रह्म नारायण की उपासना करे और निश्चय करके ओम् ऐसा गान करे ॥१॥

तद्वोभयं वै प्रणवेनदेहे ॥　　　　(श्वेताश्व० अध्या० १ श्रु० १३)

निश्चय करके देह में प्रणव द्वारा ब्रह्म और जीव इन दोनों को जानता है॥१३॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम् । ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पाशं दहति पण्डितः ।　　　　(कैवल्यो० खण्ड-१ श्रु० ११)

पण्डित जन अपनी आत्मा को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि करके ज्ञानरूप मन्थन के अभ्यास से माया के फांस को जलाता है ॥११॥

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत् ॥　　(अरुणिको० श्रु० ५)

निश्चय करके परब्रह्म नारायण के निकट प्राप्त करानेवाले ओम् को विन्यास करे ॥५॥

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामति तस्मादुच्यते—ओङ्कारः । अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाथर्वाङ्गिरसं ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः ॥ (अथर्वशिरो० श्रु० ४)

ओङ्कार क्यों कहा जाता है जिसके उच्चारण करने से प्राणादिक ऊपर को जाते हैं इससे ओङ्कार कहा जाता है। और प्रणव क्यों कहा जाता है जिसके उच्चारण करने से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ब्रह्मवेत्ताओं केलिये प्रणाम कराता है और नम्र कराता है इससे प्रणव कहा जाता है ।।४।।

ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तम् (अथर्वशिखो० श्रु० १)

प्राणान्सर्वान्परमात्मनि प्रणानयतीत्येतस्मात्प्रणवः ।।१।।

ओम् यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ ।।१।। सब प्राणोंको परमात्मामें लगाता है इससे प्रणव कहा जाता है ।।१।।

तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमिति ।। (मैत्रायण्युप० प्रपाठक० ५. श्रु० ४)

इससे ओङ्कार द्वारा सर्वदा परब्रह्म नारायण की उपासना करे ।।४।।

ओङ्कारंयो न जानाति ब्रह्मणो न भवेत्तु सः ।। (ध्यानविन्दूप० श्रु० १४)

ओङ्कारप्रभवा देवा ओङ्कारप्रभवाः स्वराः ।

ओङ्कारप्रभवं सर्व त्रैलोक्यं सचराचरम् ।।१६।।

जो ओङ्कार को नहीं जानता है वह परब्रह्म का दास नहीं होता है ।।१४।। ओङ्कार से सब देवता उत्पन्न होते हैं तथा ओङ्कार से सब स्वर उत्पन्न होते हैं और ओङ्कार से चर अचर के साथ तीनों लोक उत्पन्न होते हैं ।।१६।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २)

जो ब्रह्मवादियों से कहा गया है वह ओम् यह व्यापक प्रधान अक्षर है ।।२।।

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।

जपेत्पूर्वार्जितानांतु पापानां नाशहेतवे ।। (योगतत्त्वो० श्रु० ६३)

सर्वविघ्नहरो मंत्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।।६४।।

इसके बाद एकान्त में बैठकर पूर्वजन्मार्जित पापों के नाश करने के लिये प्लुतमात्रा करके ओङ्कार को जपे ।।६३।। सब विघ्न को और सब दोष को नाश करनेवाला प्रणव है ।।६४।।

ओं प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् ।। (आत्मप्रबोधोप० श्रु० १)

ओं प्रत्यक् आनन्द है तथा ब्रह्म पुरुष ओङ्कार स्वरूप है ।।१।।

भूतं भवद्भविष्यद्यत्त्रिकालोदितमव्ययम् । तदप्योङ्कारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ।। (नारदपरिव्रा० उपदेश ८ श्रु० ३)

भूत भविष्य वर्तमान यह जो कुछ त्रिकालोदित विकार रहित वस्तु है वह भी ओङ्कार ही है इस ओङ्कार को मोक्ष देनेवाला जानो ॥३॥

ओमित्यात्मानं युञ्जीत ॥ (नारायणो० श्रु० ७६)

प्रणव से आत्मा को समर्पण करे ॥७६॥

प्रणवोत्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ॥ (योगचूडामण्यु० श्रु० ७७)

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।

न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८८॥

प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं प्रणव से इन्द्र उत्पन्न होते हैं प्रणव से रुद्र उत्पन्न होते हैं निश्चय करके प्रणव सबसे श्रेष्ठ है ॥७७॥ जो पवित्र या अपवित्र सब समय में ओङ्कार को जपता है वह जैसे जल से कमल पत्र नहीं लिप्त होता है वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता है ॥८८॥

प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म ॥ त्रिपाद्विभूतिमहाना० अ० १)

प्रणवात्मक से कहा हुआ परब्रह्म है ॥१॥

त्रयः कालास्त्रयोदेवास्त्रयोलोकास्त्रयः स्वराः ।

त्रयो वेदाः स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति ॥ (योगशिखो० अ०६ श्रु०५७)

तीन काल तीन देवता तीन लोक तीन स्वर तीन वेद जहां पर स्थित हैं वह ज्योति ओम् यह है ॥५७॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ॥ (सूर्योप०) ओं यह एकाक्षर ब्रह्म है ।

ओङ्कारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ॥ (अद्युप० श्रु० ४३)

विश्व प्राज्ञ आदिक लक्षण संपूर्ण ओंङ्कार मात्र है ॥४३॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यद्यच्चान्यत्तत्त्वमंत्रवर्णदेवता छन्दो ऋक्कलाशक्तिसृष्ट्यात्मकमिति ॥

(तारसारो० पाद० २ श्रु० ५ ।)

ओं यह अक्षर यह सब संसार है उसी का उपव्याख्यान भूत भविष्य वर्तमान है और अन्य जो तत्त्व मंत्र वर्ण देवता छन्द ऋचा कला शक्ति सृष्ट्यात्मक हैं सो ओंकार ही है ॥५॥

अक्षरोऽहमोङ्कारोऽयम् ॥ (गोपालोत्तरता० श्रु० ६)

यह ओंकार अक्षर मैं हूँ ॥६॥

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ।
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ॥

(शाट्यायनीयो० श्रु० १६)

जो सावधान होकर प्रणवमंत्र द्वारा अपनी आत्मा को ब्रह्माग्नि में हवन करता है तो सब यज्ञों से उत्तमोत्तम वह ज्ञानयज्ञ है ऐसा जानना चाहिये ॥१६॥

प्रणवः सर्ववेदेषु ॥ (भगवद्गी० अ० ७ श्लो० ८)

सब वेदों में मैं ओंकार हूँ ॥८॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

(भगवद्गी० अ० ८ श्लो० १३)

ओम् इस एक अक्षररूप दिव्य मेरे नाम को उच्चारण करता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह परमगति को प्राप्त होता है ॥१३॥

वेद्यं पवित्रमोङ्कारः ॥ (गी० अ० ६ श्लो० १७)

जानने योग्य पवित्र ओंङ्कार मैं हूँ ॥१७॥

ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधि स्मृतः ।
ब्राह्मणा स्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

(गी० अ० १७ श्लो० २३)

तस्मादो मित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

ओं तत् सत् ऐसा तीन प्रकार का वेद का निर्देश बतलाया गया है उसीसे पहले ब्राह्मण वेद और यज्ञ रचे गये हैं ॥२३॥ इसलिये वेदपाठियों की शास्त्रोक्त यज्ञ दान और तप की क्रियाएँ सदा ओम् ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥२४॥

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ७४)

सर्वदा वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और वेदाध्ययन की समाप्ति में प्रणव को उच्चारण करे जिस वेदाध्ययन के प्रारम्भ में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह शनैः शनैः नष्ट हो जाता है और जिस वेदाध्ययन की समाप्ति में प्रणवोच्चारण नही किया जाता है वह अवस्थिति को ही नहीं प्राप्त करता है ॥७४॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ (योगशा० अ० १ पा० १ सू० २७)
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥(२८)

उस परमात्मा का वाचक प्रणव है ॥२७॥ प्रणव का जप करना चाहिये और प्रणव का अर्थानुसन्धान करना चाहिये ॥२८॥ श्री प्रतिवादिभयङ्कराचार्य स्वामीजी "अष्टश्लोकी" के व्याख्यानक प्रथमश्लोक की अवतारिका में प्रणव की महिमा के विषय में निम्नलिखित श्लोकों का प्रमाण दिये हैं।

प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः ।
वाङ्मयं प्रणवं सर्वं तस्मात्प्रणवमभ्यसेत् ॥
ओङ्कारप्रभवा वेदा ओङ्कारप्रभवाः स्वराः ।
ओङ्कारप्रभवं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
आद्यं तु त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यत्र प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥

सब वेद प्रणव से उत्पन्न हुए हैं और प्रणव में ही स्थित हैं सारा वाङ्मय प्रणव है इससे प्रणव का अभ्यास करे ॥ सब वेद ओंकार से उत्पन्न हुए हैं और सब स्वर ओंकार से उत्पन्न हुए हैं और स्थावर जङ्गमात्मक सारा संसार ओंकार से उत्पन्न हुआ है ॥ तीन अक्षरवाला प्रणव आदि में प्रकट हुआ है अथवा आदि कारण है प्रणव में वेद प्रतिष्ठित रहता है तीन अक्षरवाला प्रणव अन्यान्य वेदों से अत्यन्त विलक्षण तथा गोप्य है उस प्रणव को सार्थक जो जानते हैं वेही वेदार्थ तत्त्वज्ञ हैं ॥ इस प्रकार संक्षेप से प्रणव का वैभव प्रतिपादन किया गया है। अब समस्त प्रणव से भगवदुपासना प्रतिपादन किया जाता है। यह ब्रह्मादिस्तम्ब-

पर्यन्त भोक्तृ भोग्यरूप सब जगत् प्रेरिता परब्रह्म नारायण में ओत प्रोत है इस कारण से ओम् पदवाच्य परब्रह्म परमात्मा विनाश रहित सत्य है। उस परब्रह्म नारायण के महिमा को निकटतम विशेष रूप से लक्ष्य करानेवाला ही जड़ चेतन समुदाय रूप सम्पूर्ण जगत है। परब्रह्म नारायण के बीते हुए काल में था और वर्तमान काल में है तथा होनहार-भविष्यकाल में भी सर्वदा एक प्रकार से रहने वाला है इस कारण से विनाश रहित सत्य है। और भूत भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों से परे दूसरा जो कालत्रयकृत विकारहीन रूप है और जो कुछ सब संसार है वह सब निश्चय करके ब्रह्मात्मक है। माण्डूक्योपनिषद् के पहले खण्ड की पहली श्रुति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनि० उपनि० ४ श्रु० २ में और नृसिंहोत्तरतापिन्युपनि० खण्ड – १ में तथा रामोत्तरतापिन्युप०श्रु० १ में भी है ॥१॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (एतद्) यह ओंकारपदवाच्य अक्षर नामवाला (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण (सर्वम्) सर्वत्र परिपूर्ण सर्वस्वरूप है (अयम्) यह सब के भीतर अन्तर्यामीरूप से स्थित (आत्मा) व्यापक आत्मा (ब्रह्म) पहले कहा हुआ ओंकारपद वाच्य परब्रह्म नारायण है (सः) वह समस्त प्रणवपदवाच्य अक्षर नामवाला (अयम्) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सबके भीतर अन्तर्यामीरूप से स्थित यह (आत्मा) व्यापक परमात्मा (चतुष्पात्) चार स्वरूपभूत अंशवाला है ॥ २ ॥

विशेषार्थ—निश्चय करके यह ओंकारपदवाच्य अक्षर नामवाला परब्रह्म नारायण सर्वत्र परिपूर्ण सर्वस्वरूप हैं। क्योंकि लिखा है—

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ (गी० अ० ११ श्लो० ४०)

आप सब को व्याप्त कर रहे हैं इससे आप सर्वस्वरूप हैं ॥४०॥ अथवा निश्चय करके यह सब संसार ब्रह्मात्मक है अर्थात् परब्रह्म नारायण का शरीर है क्योंकि लिखा है—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

(बृहदारण्य० अध्या० ३ ब्राह्म० ७ श्रु० ३)

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥४॥ योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥५॥ योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥६॥ यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥७॥ यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौः न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥८॥ य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त अत्मान्तर्याम्यमृतः ॥९॥ यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१०॥ यश्चन्द्रतारके तिष्ठँश्चन्द्र तारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥११॥ य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशं शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१२॥ यस्तमसि तिष्ठँस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१३॥ यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१४॥ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्योभूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१५॥ यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्या-

म्यमृतः ॥१६॥ यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१७॥ यश्चक्षुषि तिष्ठँश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१८॥ यः श्रोत्रे तिष्ठन् श्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥१९॥ यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२०॥ यस्त्वचि तिष्ठँस्त्वचोन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२१॥ यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२२॥ यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥२३॥

जो पृथिवी में रहनेवाला पृथिवी के भीतर है जिसे पृथिवी नहीं जानती जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवी का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥३॥ जो जल में रहनेवाला जल के भीतर है जिसे जल नहीं जानता जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जल का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥४॥ जो अग्नि में रहनेवाला अग्नि के भीतर है जिसे अग्नि नहीं जानता अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्नि का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥५॥ जो अन्तरिक्ष में रहनेवाला अन्तरिक्ष के भीतर है जिससे अन्तरिक्ष नहीं जानता अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥६॥ जो वायु में रहनेवाला वायु के भीतर है जिसे वायु नहीं जानता वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायु का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥७॥ जो द्युलोक में रहनेवाला द्युलोक के भीतर है

जिसे द्युलोक नहीं जानता द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोक का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥८॥ जो आदित्य में रहनेवाला आदित्य के भीतर है जिसे आदित्य नहीं जानता आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्य का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥९॥ जो दिशाओं में रहनेवाला दिशाओं के भीतर है जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओं का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १०॥ जो चन्द्रमा और ताराओं में रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओं के भीतर है जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानतीं चन्द्रमा और ताराएँ जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ ११॥ जो आकाश में रहनेवाला आकाश के भीतर है जिसे आकाश नहीं जानता आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाश का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १२॥ जो तम में रहनेवाला तम के भीतर है जिसे तम नहीं जानता तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तम का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं॥ १३॥ जो तेज में रहनेवाला तेज के भीतर है जिसे तेज नहीं जानता तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेज का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १४॥ जो समस्त भूतों में स्थित रहनेवाला समस्त भूतों के भीतर है जिसे समस्त भूत नहीं जानते समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत हैं॥ १५॥ जो प्राण में रहनेवाला प्राण के भीतर है जिसे प्राण नहीं जानता प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राण का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १६॥ जो वाणी में रहनेवाला वाणी के भीतर है जिसे वाणी नहीं जानती वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणी का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १७॥ जो नेत्र में रहनेवाला नेत्र के भीतर है जिसे नेत्र नहीं जानता नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है॥ १८॥ जो श्रोत्र में रहनेवाला श्रोत्र के भीतर है जिसे श्रोत्र नहीं जानता श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर

श्रोत्र का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥ जो मन में रहनेवाला मन के भीतर है जिसे मन नहीं जानता मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मन का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥ जो त्वक् में रहनेवाला जो त्वक् के भीतर है जिसे त्वक् नहीं जानती त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक् का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥ जो विज्ञान में रहनेवाला विज्ञान के भीतर है जिसे विज्ञान नहीं जानता विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञान का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥ जो वीर्य में रहनेवाला वीर्य के भीतर है जिसे वीर्य नहीं जानता वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २३ ॥

अन्तः शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद । यस्यापः शरीरं योऽपोन्तरे संचरन्यमापो न विदुः । यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे संचरन्यं तेजो न वेद । यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन्यं वायुर्न वेद । यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद । यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरे सचरन्यं मनो न वेद । यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन्यं बुद्धिर्न वेद । यस्याहङ्कारः शरीरं योऽहङ्कारमन्तरे संचरन्यमहङ्कारो न वेद । यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन्यं चित्तं न वेद । यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन्यमव्यक्तं न वेद । यस्याक्षरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद । यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन्यं मृत्युर्न वेद । स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मादिव्योदेव एको नारायणः । (सुबालोप० खं० ७)

शरीर के भीतर हृदय रूपी गुफामें एक नित्य अजन्मा परब्रह्म नारायण स्थित है जिसका पृथिवी शरीर है जो पृथिवी के भीतर रहता है जिसको पृथिवी नहीं जानती है। जिसका जल शरीर है जो जलके भीतर रहता है जिसको जल नहीं

जानता है। जिसका तेज शरीर है जो तेज के भीतर रहता है जिसको तेज नहीं जानता है। जिसका वायु शरीर है जो वायु के भीतर रहता है जिसको वायु नहीं जानता है। जिसका आकाश शरीर है जो आकाश के भीतर रहता है जिसको आकाश नहीं जानता है। जिसका मन शरीर है जो मन के भीतर रहता है जिसको मन नहीं जानता है। जिसकी बुद्धि शरीर है जो बुद्धि के भीतर रहता है जिसको बुद्धि नहीं जानती है। जिसका अहंकार शरीर है जो अहंकार के भीतर रहता है जिसको अहंकार नहीं जानता है। जिसका चित्त शरीर है जो चित्त के भीतर रहता है जिसको चित्त नहीं जानता है। जिसका अव्यक्त शरीर है जो अव्यक्त के भीतर रहता है जिसको अव्यक्त नहीं जानता है। जिसका जीवात्मा शरीर है जो जीवात्मा के भीतर रहता है जिसको जीव नहीं जानता है। जिसका मृत्यु शरीर है जो मृत्यु के भीतर रहता है जिसको मृत्यु नहीं जानता है। वह यह सब जीवों के अन्तरात्मा पापरहित दिव्यदेव एक परब्रह्म नारायण है ॥७॥

जगत्सर्वं शरीरं ते ॥ (वाल्मीकिरा० युद्ध कां० ६ सर्ग १२१)

समस्त संसार आपका शरीर है ॥१२१॥

यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥
(विष्णुपुरा० अंश० २ अध्या० १२ श्लो० ३७)

हे विप्र जो जल विष्णु भगवान का शरीर है उससे पर्वत समुद्र आदिक से संयुक्त पद्माकार पृथिवी उत्पन्न हुई ॥३७॥

तानि सर्वाणि तद्वपुः ॥ (विष्णुपु० अं० १ अध्या० २२ श्लो० ८६)

वे सब स्थावर जंगम जगत् परब्रह्म नारायण के शरीर हैं ॥८६॥

तत्सर्वं वै हरेस्तनुः ॥ (विष्णुपु० अं० १ अ० २२ श्लो० ३८)

निश्चय करके वह सब जगत् नारायण का शरीर है ॥३८॥

ब्रह्माद्याः सकला देवा यक्षतुम्बुरुनारदाः ।
ते सर्वे पुरुषांशत्वादुच्यन्ते पुरुषा इति ॥ (पाद्मपुरा०)

ब्रह्मा आदिक सब देवता यक्ष तथा तुम्बरु और नारदादिक ये सब पुरुष के अंश होने से पुरुष कहे जाते हैं ॥

ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ॥ (छन्दो० अध्या० ६ खं० १४ श्रु० ३)

यह जितना प्रपञ्च है सब ब्रह्मात्मक है याने सब चर अचर नारायण के शरीर है ॥३॥ यह सब के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित आत्मा पहले कहा हुआ ओंकारपदवाच्य परब्रह्म नारायण है यहां पर ॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ॥(ऐतरेयोप० अध्या० १ खं० १ श्रु० १)

यह जगत् सृष्टि से पहले एक व्यापक आत्मा ही था ।॥१॥ इस श्रुति के प्रमाण से और व्याप्तिबोधक "आप्" या भक्षणार्थक "अद्" अथवा सततगमन बोधक "अत" धातु से आत्मा शब्द निष्पन्न होने से परमात्मा वाचक है। इस प्रकार से समस्त प्रणव प्रतिपाद्य परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन करके व्यस्तप्रणव की द्वारा भगवदुपासना प्रतिपादन करने के लिये तृतीयखण्डमें यह आत्मा चार पादवाला वर्णन किया गया है वह समस्तप्रणवपदवाच्य अक्षर नाम वाला ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सब के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित यह आत्मा परब्रह्म नारायण उपासना के लिये चार स्वरूप भूतअंश वाला है। इस प्रकार का कहा गया है। वह विश्व आदिक चारपाद आगे की श्रुतियों में स्पष्ट वर्णन किया जायेगा। श्री शेषावतार भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शारीरकमीमां० अध्या० १ पा० १ सू० १)

तत्तु समन्वयात् (शारीरकमी० अ० १ पा० १ सू० ४)

इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "माण्डूक्योपनिषद्" के पहले खण्ड की दूसरी श्रुति के "अयमात्मा ब्रह्म" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। प्रस्तुत श्रुति नृसिंहपूर्वतापिन्युप० उपनि० ४ श्रु० २ में और नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० १ में तथा रामोत्तरतापिन्युप० श्रु० १ में भी है ॥२॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

अन्वयार्थ—(जागरितस्थानः) जहांपर स्थित होकर जागता है वह नेत्र स्थान है जिसका वह (बहिष्प्रज्ञः) बाहर के विषयों को प्रकाशित करने वाला (सप्ताङ्गः) चार हाथ दो पैर गजमुख होने से एक गज का शुण्ड

अर्थात् हाथ ये सात अंगो वाला (एकोनविंशतिमुखः) गज के मुख के आकार के मध्यमें एक मुख और दोनो पार्श्व में नौ नौ मुख इस प्रकार से उन्नीस मुखों वाला (स्थूलभुक्) स्थूल शुभ भोगों को भोगने वाला (वैश्वानरः) विश्व को धारण करने वाला वैश्वानर नामवाला (प्रथमः) पहला (पादः) पाद है ॥३॥

विशेपार्थ—परब्रह्म नारायण के पहले स्वरूपभूत अंश या पाद का यह श्रुति वर्णन करती है—जहां पर स्थित होकर जागता है वह नेत्र स्थानवाला और बाहर के विषयों को प्रकाश करने वाला तथा चार हाथ दो पैर और गजानन होने से एक शुण्ड ये सात अंगोवाला। अथवा भूर्लोक १ भुवर्लोक २ स्वर्लोक ३ महर्लोक ४ जनलोक ५ तपोलोक ६ सत्य-लोक ७ ये सात अंगो वाला। अथवा—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(मुण्डको० मु० २ खं० १ श्रु० ४)

इस परब्रह्म नारायण का द्युलोक मस्तक है चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं सब दिशाएँ दोनों कान हैं और प्रसिद्ध समस्त वेद वाणी हैं तथा वायु प्राण है संपूर्ण जगत हृदय है और पृथिवी दोनों पैर हैं निश्चय करके यह सब भूतों का अन्तरात्मा है ॥४॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ ॥

(छान्दो० अ० ५ खं० १८ श्रु० २)

उस वैश्वानर आत्मा का द्युलोक शिर है सूर्य नेत्र है वायु प्राण है आकाश मध्य स्थान देह है अन्न का कारण रूप जल ही मूत्र स्थान है और पृथिवी ही चरण है ॥२॥ इन श्रुतियों के अनुसार सात अंगों वाला और गज के मुख के आकार के मध्य में एक मुख और दोनों पार्श्व में नौ नौ मुख इस प्रकार से उन्नीस मुखोंवाला। अथवा- दश तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय; पांच प्राणदिवायु, तथा मनबुद्धि चित्त और अहंकार ये उन्नीस मुखों वाला है। क्योंकि लिखा है—

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ॥ (वराहोप०अध्या०१ श्रु०२)
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः ॥३॥

श्रोत्र १, चक्षु २, त्वक् ३, जिह्वा ४ और नासिका ५ ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं ॥२॥ वाक् १, हस्त २, पाद ३, गुदामार्ग ४ और मूत्रमार्ग ५ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ (मनु०अ० २ श्लो० ९०)

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥९१॥

श्रोत्र १, चक्षु २, त्वक् ३, जिह्वा ४, पांचवी नासिका ५, पायु ६, उपस्थ ७, पाणि ८, पाद ९, और दशवीं वाणी १० ये दश इन्द्रियां हैं ॥९०॥ श्रोत्र आदिक पांच को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और पायु आदिक पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥९१॥ और—

प्राणादयश्च पञ्चैव ॥ (वराहो० अ० १ श्रु० ३)

प्राण १, अपान २, समान ३, उदान ४ और व्यान ५ ये पांच प्राणादिवायु हैं ॥३॥ तथा—

॥ मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥४॥

मन १, बुद्धि २, अहंकार ३, और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥ इस प्रकार के उन्नीस मुख वाला स्थूल शुभ भोगों को भोगने वाला विश्व को धारण करने वाला वैश्वानर नाम वाला पहला पाद है। अर्थात् सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित परब्रह्म नारायण का पहला रूप है। प्रस्तुत श्रुति में—

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् (शारीरकमी० अ० १ पा० २ सू० २५)

इस न्याय से परमात्मा वाचक वैश्वानर शब्द है। यह श्रुति "नृसिंह पूर्वतापिन्युप० उपनिषद् ४ श्रु २" में और "नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० १" में तथा "रामोत्तरतापिन्युप० श्रु० १" में भी है ॥३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

अन्वयार्थ—(स्वप्नस्थानः) जहां पर स्थित होकर जीव स्वप्नपदार्थों को देखता है वह कण्ठदेश में स्थित स्वप्नस्थान और (अन्तः प्रज्ञः) अन्तः-करण में स्थित वाह्य अर्थज्ञानजन्य वासना परिणामरूपअर्थों को प्रकाशित करने वाला (सप्ताङ्गः) चार हाथ दो पैर गजानन होने से एक शुण्ड ये सात अंगों वाला (एकोनविंशतिमुखः) गज के मुख का आकार के मध्य में एक मुख और दोनों पार्श्व में नौ नौ मुख इस प्रकार से उन्नीस मुखों वाला (प्रवि विक्तभुक्) वाह्य अर्थों से अत्यन्त विविक्त स्वप्न सूक्ष्म भोगों का भोगने वाला (तैजसः) तेजोमय चित्तस्थ प्रकाश का स्वामी तैजस नाम वाला (द्वितीयः) उस पूर्ण परब्रह्म नारायण का दूसरा (पादः) पाद है ॥४॥

विशेषार्थ—परब्रह्म नारायण का दूसरा स्वरूपभूत अंश या पाद का यह श्रुति वर्णन करती है कि—जहां पर स्थित होकर जीव स्वप्नपदार्थों को देखता है वह काण्ठदेश में स्थित स्वप्नस्थान वाला और अन्तःकरण में स्थित बाह्य अर्थ ज्ञान जन्य वासना के परिणामरूप अर्थों को प्रकाशित करने वाला है क्योंकि लिखा है—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥ (प्रश्नोप० प्रश्न० ४ श्रु० ५)

इस स्वप्न के अवसर में यह द्योतनादिगुणयुक्त जीवात्मा करितुरगादि लक्षण महिमा को अनुभव करता है। जो जागने में देखा हुआ होता है उस देखे हुए को ही जीवात्मा स्वप्न में बार बार देखता है और जाग्रत् अवस्था में जो सुना होता है उस सुने हुए अर्थ को निश्चय करके जीवात्मा स्वप्न में वार बार सुनता है और नाना देश तथा दिशाओं में बार बार अनुभव किये हुए विषयों को बार बार स्वप्न में अनुभव करता है। इतना ही नहीं इस जन्म में देखे हुए को और नहीं देखे हुए को भी सुने हुए को और नहीं सुने हुए को भी इस जन्म में अनुभव किये हुए को

और मस्तकच्छेदनादिक नहीं अनुभव किये हुए को भी विद्यमान को और नहीं विद्यमान को भी सबको जीवात्मा स्वप्न में देख लेता है ॥५॥ चार हाथ दो पैर तथा गजानन होने से एक शुण्ड ये सात अंगोंवाला अथवा भूर्लोक १, भुवर्लोक २, स्वर्लोक ३, महर्लोक ४, जनलोक ५, तपलोक ६, और सत्यलोक ७ ये सात अंगोंवाला। अथवा स्वर्ग मस्तक १, सूर्यनेत्र २, वायु प्राण ३ आकाश मध्यस्थान देह ४, अन्न का कारण जलही मूत्र स्थान ५ सब जगत् हृदय ६ और पृथिवी चरण ७ इस सात अंगो वाला। और गज के मुख का आकार के मध्य में एक मुख तथा दोनों पार्श्व में नौ नौ मुख इस प्रकार से उन्नीस मुखों वाला। अथवा-- श्रोत्र १, चक्षु २, घ्राण ३, जिह्वा ४, त्वचा ५, वाक् ६, पाणि ७, पाद ८, पायु ९, उपस्थ १०, प्राण ११, अपान १२, समान १३, उदान १४, व्यान १५, मन १६, बुद्धि १७, चित्त १८ और अहंकार १९ इस प्रकार के उन्नीस मुख वाला वाह्य अर्थों से अत्यन्त विविक्त स्वाप्न सूक्ष्म भोगों को भोगने वाला तेजोमय चित्तस्थ प्रकाश का स्वामी तैजसनाम वाला उस पूर्ण परब्रह्म नारायण का दूसरा पाद है अर्थात् द्वितीयरूप है। इस श्रुति में--

ज्योतिश्चरणाभिधानात् (शारीरकमी० अ० १ पा० १ सू० २५)

इस न्याय से और--

अथ यदतःपरोदिवो ज्योतिर्दीप्यते॥ (छा० अ० ३ खं० १३ श्रु० ७)

जो इस द्युलोक से परे परम ज्योति प्रकाशित है ॥७॥

येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः॥ (तै० ब्रा० ३।१२।९।७)

जिस तेज से प्रज्वलित सूर्य तपता है ॥७॥ इन श्रुतियों के प्रमाण से परब्रह्म नारायण वाचक तैजस शब्द है। यह श्रुति "नृसिंहपूर्वता० उपनि० ४ श्रु० २" में और "नृसिंहोत्तरतापि० खं० १" में तथा "रामोत्तरतापिन्यु० श्रु० १" में भी है ॥४॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञःतृतीयः पादः॥५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस देश में अथवा समय में (सुप्तः) सोया हुआ पुरुष (कञ्चन) किसी भी (कामम्) भोग की कामना को (न) नहीं (कामयते) इच्छा करता है और (कञ्चन) किसी भी (स्वप्नम्) स्वप्न के पदार्थ को (न) नहीं (पश्यति) देखता है (तत्) वह (सुषुप्तम्) सुषुप्तस्थान कहा जाता है (सुषुप्तस्थानः) हृदय की कर्णिका के अग्र में स्थित सुषुप्तस्थान वाला (एकीभूतः) वैश्वानर और तैजस के संश्लेषविशेषरूप से एकी भाव को प्राप्त (प्रज्ञानघनः) जीव के स्वरूप को भली भांति अवबोधन करने वाला (एव) निश्चय करके (आनन्दमयः) आनन्दप्रचुर-पूर्णानन्द है (हि) निश्चय करके श्रुति प्रसिद्ध (आनन्दभुक्) विषय भोग के बिना ही नित्य पूर्णानन्द को भोग करने वाला (चेतोमुखः) ज्ञानरूप मुख वाला (प्राज्ञः) प्रकर्षरूप से जीवस्वरूप वाला ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य या स्वप्न किसी भी वस्तु को नहीं ज्ञापन करने वाला प्राज्ञ नाम वाला (तृतीयः) तीसरा (पादः) पाद है अर्थात् परब्रह्म नारायण का तीसरा रूप है ।।५।।

विशेषार्थ—यह श्रुति परब्रह्म नारायण के तीसरे स्वरूपभूत अंश यानी पाद का वर्णन करती है—जिस देश अथवा समय में सोया हुआ मनुष्य किसी प्रकार के किसी भी भोग की न तो कामना करता है और न अनुभव ही करता है तथा किसी प्रकार के स्वप्न भी नहीं देखता है वह सुषुप्त स्थान कहा जाता है। सुषुप्ति अवस्था में हृदय की कर्णिका के अग्रभाग में स्थित तथा वैश्वानर और तैजस पादों करके संश्लेष विशेष रूपसे एकता को प्राप्त जीव के स्वरूप को भली भांति अवबोधन करने वाला। क्योंकि लिखा है—

विष्णु शक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा । अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ।। (विष्णुपु० अंश० ६ अ० ७ श्लो० ६१)
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा । संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् ।।६२।। तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता । सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते ।।६३।।

विष्णु भगवान की क्षेत्रज्ञ नाम वाली पराशक्ति कही गयी है और अपरा शक्ति अविद्या नाम वाली कही गयी है और तीसरी शक्ति

कर्मनामवाली कही गयी है ॥६१॥ हे राजन् जिस कर्मनामवाली तीसरी शक्ति से वह क्षेत्रज्ञ नामवाली परा शक्ति वेष्टित है इससे समस्त बड़े बड़े संसार के तापों को जीवनामवाली परा शक्ति प्राप्त करती है ॥६२॥ हे भूपाल तिस कर्मनामवाली तीसरी शक्ति से तिरोहित क्षेत्रज्ञनामवाली परा शक्ति सब भूतों में तारतम्य से रहती है ॥६३॥ इस प्रमाणानुसार कर्मवेष्टन से आवृत जीव घन ऐसा कहा जाता है। और सुषुप्ति वेला में उस जीव के स्वरूप को भलीभांति अवबोधन करने वाला "प्रज्ञानघनः" पद का अर्थ है। वह प्रज्ञानघन आनन्दप्रचुर यानी पूर्णानन्द है। निश्चय करके--

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचन ॥ (तैत्तिरीयोप० व०२ अनुवा० ४ श्रु० १)

जहां से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है परब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय को नहीं प्राप्त होता है ॥१॥ इस श्रुति में प्रसिद्ध विषय भोग के विना ही नित्यपूर्णानन्द को भोग करने वाला। क्योंकि लिखा है कि--

एषोऽस्य परम आनन्दः ॥ (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० ३२)

यह इसका परम आनन्द है ॥३२॥ ज्ञान रूप सर्वावयव वाला तथा प्रकर्षरूप से जीवस्वरूप काल का अज्ञान से अतिरिक्त बाह्य या स्वाप्न किसी भी वस्तु को नहीं ज्ञापन करने वाला प्राज्ञनाम वाला तीसरा परब्रह्म नारायण का पाद है। यह श्रुति "नृसिंहपूर्वतापिन्यु० उपनि० ४ श्रु० २" में और "नृसिंहोत्तरतापि० खं० १" में तथा "रामोत्तरता० श्रु० १" में भी है ॥५॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः।
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

॥ इति प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ---(एषः) जिस परब्रह्म नारायण का तीनों पादों के रूप में वर्णन किया गया है वह (सर्वेश्वरः) सब का स्वामी है (एषः) यह उक्त तीन पाद-

वाला आत्मा (सर्वज्ञः) सब वस्तु को जानने वाला है (एषः) यह तीन पादवाला परब्रह्म नारायण (अन्तर्यामी) सब के भीतर अनुप्रविष्ट होकर सब का नियमन करने वाला है (एषः) यह उक्त तीन पादवाला नारायण (सर्वस्य) संपूर्ण जगत् का (योनिः) कारण है (हि) क्योंकि (भूतानाम्) समस्तप्राणियों का (प्रभवाप्ययौ) उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का स्थान यही है ॥६॥

विशेषार्थ--वैश्वानर १, तैजस २, प्राज्ञ ३, ये उक्त तीन पादवाला वह परब्रह्म नारायण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सब चर अचरका स्वामी है। और वही परमात्मा सब वस्तुओं को यथार्थ-जानने वाला है। वही परब्रह्म नारायण सब चराचर के भीतर अनुप्रविष्ट हो कर सब का नियमन करने वाला है। और वही संपूर्ण जगत् का कारण है। इस लिये वही परब्रह्म नारायण समस्त प्राणियों का उत्पत्ति स्थिति और प्रलय स्थान भी है। "माण्डूक्योपनिषद्" के पहले खण्ड के अन्तिम छठवीं श्रुति "नृसिंहपूर्वतापिन्युप० उपनि० ४ श्रु० २" में और "नृसिंहोत्तरतापिन्यु० खं० १" में तथा "रामोत्तरतापिन्युप० श्रु० १" में भी स्पष्ट जैसे के तैसे ही पठित है। यहां इस पूर्वोक्तअर्थ में "माण्डूक्यकारिका" के आगम प्रकरण का निम्नलिखित श्लोकों को अनुसन्धान करना चाहिये।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥ (माण्डूक्यका० १)

विभु-व्यापक नारायण वैश्वानर बाहर के विषयों को प्रकाशित करने वाला है और तैजस अन्तः करण में स्थित बाह्य अर्थज्ञानजन्य वासना के परिणामरूप अर्थों को प्रकाशित करने वाला है तथा प्राज्ञ जीव के स्वरूप को भली भांति अवबोधन करने वाला है निश्चय करके मंत्रद्रष्टा ब्रह्माने वैश्वानर तैजस प्राज्ञ भेदसे तीन प्रकार के भगवत्स्वरूप को एक ही कहा है ॥१॥

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञ स्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

वैश्वानर दहिने नेत्र के अग्रभाग में रहता है और तैजस मन के

भीतर अर्थात् कण्ठदेश में रहता है तथा प्राज्ञ हृदय कर्णिका के अग्रस्थ आकाश में रहता है इस प्रकार वह एक परब्रह्म नारायण इस देह में तीन प्रकार से स्थित है ॥२॥

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ स्त्रिधाभोगं निबोधत ॥३॥

निश्चय करके वैश्वानर सर्वदा स्थूल भोगों को भोगनेवाला है और तैजस सूक्ष्म भोगों को भोगनेवाला है तथा प्राज्ञ नित्य पूर्णानन्द को भोगनेवाला है इस प्रकार से तीन तरह का भोग जानो ॥३॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४॥

स्थूल पदार्थ वैश्वानर को तृप्त करता है और सूक्ष्म पदार्थ तैजस को तृप्त करता है तथा नित्यपूर्णानन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है इस प्रकार से तृप्ति को तीन प्रकार का समझो ॥४॥

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यस्तु प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु सभुञ्जानो न लिप्यते ॥५॥

नेत्र मन. हृदयाकाश रूप इन तीनों स्थानों में स्थूल सूक्ष्म आनन्द नामवाला भोज्य बतलाया गया है तथा वैश्वानर तैजस प्राज्ञ नामक जो भोक्ता बतलाया गया है इन दोनों भोक्ता और भोज्य को जो मुमुक्षु अधिकारी जानता है वह भोगों को भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता है ॥५॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतांऽशून् पुरुषः पृथक् ॥६॥

सब वस्तुओं के यथा योग उत्पत्ति का कारण चार स्वरूपवाला परमात्मा ही है इस प्रकार सज्जनों का सुन्दर निश्चय है प्राण नामक परब्रह्म नारायण सब संसार को उत्पन्न करता है तथा वही पुरुष नामवाला चतुष्पाद् परब्रह्म श्रीकान्त ज्ञान नामक रश्मि से युक्त जीवों को कर्मानुसार देव दानव मानव आदिक भेद से अलग अलग बनाया ॥६॥

विभूतिं प्रभवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यै र्विकल्पिताः ॥७॥

सृष्टि के विषय में विचार करनेवाले दूसरे लोग जीव तथा जड़ रूप से अनेक प्रकार के भगवान् का हो जाना ही सृष्टि मानते हैं। और दूसरे ब्रह्मविवर्तवादि स्वप्नपदार्थ तथा मायाविनिर्मित गन्धर्व नगर आदिक के समान मिथ्या सृष्टि को मानते हैं ॥७॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥८॥

सर्वशक्त सत्यसंकल्प परब्रह्म नारायण की इच्छा मात्र ही सृष्टि है ऐसा वैदिक सज्जन लोग सृष्टि के विषय में निश्चय किये हुए हैं। और काल के विषय में विचार करनेवाले ज्योतिषी लोग काल से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति मानते हैं ॥८॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥९॥

कुछ लोग भोग के लिये सृष्टि है ऐसा मानते हैं दूसरे महाराज के कन्दुक आदिक विहार के समान क्रीडा के लिये विश्व की सृष्टि है ऐसा मानते हैं। श्रौतमत यह है कि— क्रीडाशील परब्रह्म नारायण देव का यह लीलारूप सृष्ट्यादि विषय स्वभाव ही है अवाप्त समस्त काम परब्रह्म नारायण की इच्छा किस वस्तु की हो सकती है ॥९॥ यहां पर "माण्डूक्योपनिषद्" का पहला खण्ड समाप्त हो गया ॥९॥

॥ अथ द्वितीयखण्डः ॥

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण मचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥१॥

॥ इति द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अन्तः प्रज्ञम्) भीतर स्वप्न के अर्थ का प्रदर्शक (न) नहीं है (बहिष्प्रज्ञम्) जाग्रत् समय के अर्थ का प्रदर्शक (न) नहीं है (उभयतः प्रज्ञम्) जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों के बीच में के अर्थ का प्रदर्शक (न) नहीं है (प्रज्ञानघनम्) सुषुप्ति समय के अर्थ का प्रदर्शक (न) नहीं है (प्रज्ञम्) प्रकर्ष रूप से मानस वासनामय ध्येय अर्थ का प्रदर्शक (न) नहीं है (अप्रज्ञम्) नहीं जाननेवाला (न) नहीं है किन्तु (अदृष्टम्) मुक्त जीवों से अन्य जीवों करके जो देखा नहीं गया हो (अव्यवहार्यम्) मुक्ति के बिना जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता (अग्राह्यम्) मुक्ति के बिना जो पकड़ने में नहीं आ सकता (अलक्षणम्) अनुमान में नहीं आनेवाला या प्राकृतचिन्ह रहित है (अचिन्त्यम्) समस्त वस्तुओं से विजातीय होने के कारण उन उन वस्तुओं के स्वभाव से युक्त मानकर नहीं चिन्तन करने योग्य है (अव्यपदेश्यम्) जो बतलाने में नहीं आ सकता है (ऐकात्म्यप्रत्ययसारम्) एक पूर्ण आत्मज्ञान के सार यानी आनन्द रूप है (प्रपञ्चोपशमम्) विस्तृत उत्कृष्ट सुखवाला है अथवा जो सर्वदा प्रपञ्च से रहित है (शान्तम्) जो छः ऊर्मियों से रहित शान्त है (शिवम्) दुःख रहित सुखरूप होने से कल्याणमय है (अद्वैतम्) अहंकार ममकार आदिक मिथ्या अध्यवसाय निवर्तक अनुपम है ऐसा (चतुर्थम्) परब्रह्म नारायण का चौथे पाद को (मन्यन्ते) वैदिक लोग मानते हैं (सः) वह विश्व १, तैजस २, प्राज्ञ ३, और तुरीय ४ पादवाला (आत्मा) परब्रह्म नारायण है (सः) वही परब्रह्म परमात्मा (विज्ञेयः) विविध विश्व १, तैजस २, प्राज्ञ ३ और तुरीय ४ पादवाला विशेषरूप से मुमुक्षुओं के द्वारा जानने योग्य है ॥१॥

विशेषार्थ—यह श्रुति परब्रह्म नारायण के चौथे स्वरूप भूत अंश यानी पाद का वर्णन करती है— भीतर स्वप्न के अर्थ का प्रदर्शक नहीं है। ऐसा कहकर तैजस का प्रतिषेध किया है। और जाग्रत् समय के अर्थ का प्रदर्शक नहीं है। ऐसा कहकर वैश्वानर का निषेध किया है। जाग्रत और स्वप्न इन दोनों के बीच में के अर्थ का प्रदर्शक नहीं है। ऐसा कहकर जाग्रत और स्वप्न के मध्य की दशा को प्रतिषेध किया है। सुषुप्ति समय के अर्थ का प्रदर्शक नहीं है। ऐसा कहकर प्राज्ञ का निषेध किया है। प्रकर्षरूप से मानस वासनामय ध्येय अर्थ का प्रदर्शक नहीं है। ऐसा कहकर

एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का प्रतिषेध किया है। नहीं जाननेवाला नहीं है। ऐसा कहकर अचेतनता का निषेध किया है। मुक्त जीवों से अन्य जीवों करके जो देखा नहीं गया है। क्योंकि लिखा है—

अदृष्टो द्रष्टा। (बृहदार० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २३)

अदृष्ट होकर भी देखनेवाला है ॥२३॥ मुक्ति के बिना जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है। मुक्ति के बिना जो पकड़ने में नहीं आ सकता है। अनुमान में नहीं आनेवाला या प्राकृत चिन्ह रहित है। समस्त वस्तुओं से विजातीय होने के कारण उन उन वस्तुओं के स्वभाव से युक्त मानकर नहीं चिन्तन करने योग्य है। जो बतलाने में नहीं आ सकता है। जो एक पूर्ण आत्मज्ञान के सार यानी आनन्दरूप है। विस्तृत उत्कृष्ट सुखवाला है अथवा प्रपञ्च से रहित है। जो छौ ऊर्मियों से रहित है। छः ऊर्मियों का नाम लिखा है कि—

अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरा मृतिः। एतेषड्र्मयः प्रोक्ताः।

(बराहोप० अध्या० १ श्रु० ६)

भूख १, प्यास २, शोक ३, मोह ४, बुढ़ापा ५ और मरण ६ ये छः ऊर्मियां कही गयी हैं ॥६॥

दुःख रहित सुखरूप होने से मङ्गलमय है। अहंकार ममकार आदिक मिथ्या अध्यवसाय निवर्तक है। इस प्रकार के परब्रह्म नारायण के चौथे पाद को श्रोत्रिय लोग मानते हैं। वह वैश्वानर १, तैजस २, प्राज्ञ ३ और तुरीय ४ पादवाला परब्रह्म नारायण है। वही परब्रह्म नारायण विविध वैश्वानर तैजस, प्राज्ञ और तुरीय स्वरूपभूत अंश यानी पादवाला विशेषरूप से मुमुक्षुओं के द्वारा जानने योग्य है। "माण्डूक्योपनिषद्" के दूसरे खण्ड की पहली श्रुति "नृसिंहपूर्वतापिन्युप० उपनिप० ४ श्रु० २" में और "नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० १" में तथा "रामोत्तरतापिन्युप० श्रु० १" में भी जैसे के तैसे पठित है। यहां इस पूर्वोक्त अर्थ में "माण्डूक्यकारिका" के आगम प्रकरण के निम्नलिखित श्लोकों को अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये।

निवृत्तेः सर्वदुःखाना मीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥

(माण्डूक्यका० १०)

सब दुःखों की निवृत्ति का कारण ब्रह्मादिक देवताओं का प्रेरक सबका स्वामी सर्वदा एक प्रकार रहनेवाला मिथ्या ज्ञान निवर्तक अनुपम तुरीय परब्रह्म नारायण देव भगवान के ज्ञान से प्राप्त सत्तावाले सज्जनों के उपासना करने योग्य समर्थ मंत्रद्रष्टाओं से माना गया है या कहा गया है ॥१०॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥

वैश्वानर और तैजस ये दोनों अज्ञान कार्यभूत अहंकार और ममता आदि भ्रम तद्रूप कार्यबन्ध है। और उसका कारण अविद्याबन्ध है। अर्थात् पूर्वोक्त दोनों विश्व तथा तैजस कार्य और कारण से बँधे हुए माने जाते हैं। और प्राज्ञ सुषुप्तिबद्ध होने से केवल कारण से बँधा हुआ माना जाता है। तुरीय रूप में कार्य कारणबन्ध नियमन व्यापार और कारणमात्र व्यापार ये दोनों ही नहीं सिद्ध होते हैं ॥११॥

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुरीयं सर्वदृक् सदा ॥१२॥

प्राज्ञ तो सुषुप्त जीव स्वरूप को नहीं जानता है और दूसरे को भी नहीं जानता है तथा सत्य को नहीं जानता है और अनृत को भी नहीं जानता है किन्तु तुरीय तो मुक्ति होने पर उसके योग्य सब वस्तु को सर्वदा दिखलाता है ॥१२॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

देह गेह आदिक में स्वतंत्रता रूप भ्रम के जनक का अभाव तो प्राज्ञ और तुरीय दोनों ही को समान है किन्तु देह गेह आदिक में स्वा-

तंत्र्य बुद्धि के बीजभूत जो मूल अविद्या बीज निद्रा है उससे युक्त प्राज्ञ है और तुरीय में वह बीज निद्रा नहीं है ॥१३॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

वैश्वानर और तैजस ये दोनों स्वप्न और निद्रा से युक्त हैं तथा प्राज्ञ तो स्वप्न रहित केवल निद्रा से ही युक्त है और भलीभांति निश्चय करनेवाले सन्त लोग तुरीय में न निद्रा को देखते हैं और न तो स्वप्न को ही देखते हैं ॥१४॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

अन्यथा ग्रहण करने से अर्थात् भगवत् अधीन देह गेह आदिक में स्वाधीनता को जानने से स्वप्न होता है तथा भगवान के स्वातंत्र्य आदिक रूप तत्त्व को यथार्थ नहीं जानने से निद्रा होती है और उन दोनों निद्रा तथा भ्रम के आवर्तन क्षीण होने पर चतुर्थ रूप को साक्षात्कार द्वारा प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

अनादि विष्णु भगवान् के अनादि कर्मरूप अविद्या से संसार में सोया हुआ भगवान् की इच्छा से या परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से भगवान् ही स्वतंत्र हैं अन्य सब चेतनाचेतन भगवान् के अधीन हैं इस प्रकार के तत्वज्ञानवाला जब हो जाता है। तब जन्म मरण आदिक दोष रहित निद्रा रहित स्वप्न रहित विश्वादि रूपत्रय व्यापार प्रवर्तक मिथ्या ज्ञान निवर्तक और सब अनिष्ट को दूर करनेवाला श्री विष्णु भगवान् को साक्षात्कार कर लेता है। जगद्गुरु भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शारीरकमी० अ० १ पा० १ सू० १) के श्रीभाष्य में प्रकृत "माण्डूक्यकारिका" के पूर्वार्ध को दो बार उद्धृत किये हैं ॥१६॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैत मद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

देह गेह आदिक में स्वस्वामि संबन्धादि रूप बन्ध प्रपञ्च स्वतंत्र रूप से नहीं है यदि पराधीन प्रपञ्च मान लिया जाय तौभी उत्तम अर्थ भगवान् की प्रसन्नता से ही प्रपञ्च निवृत्त हो जायेगा इसमें सन्देह नहीं है। महत्पुरुषों से यथार्थ रूप से जाना हुआ यह ब्रह्मादिक वस्तु अज्ञानियों से दूसरे प्रकार करके जाना हुआ वह मिथ्या ज्ञान परब्रह्म नारायण की इच्छा मात्र से उत्पन्न हुआ है ॥१७॥

विकल्पो न निवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

स्त्री पुत्र शरीर आदिक में स्वीयता अभिमानादिक नानात्मक बन्ध रूप विकल्प किसी अज्ञानादिक प्रकार से यदि स्वाभाविक कल्पना की गयी हो तौभी महानुभावों के उपदेश से ही निवृत्त हो जायेगी। परब्रह्म नारायण के यथार्थ जान लेने पर मिथ्या ज्ञान नहीं रहना है यह सत्पुरुषों का संवाद है ॥१८॥ यहां पर "माण्डूक्योपनिषद्" का दूसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ तृतीयखण्डः ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ओङ्कारः) ओम् इस शब्द से कहा हुआ (सः) वह चतुष्पाद (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा (अध्यक्षरम्) सबसे अधिक और अविनाशी है (अधिमात्रम्) और यह अक्षर अधिक मात्रा यानी अंश जिसका है वह अधिमात्र है (पादाः) वैश्वानर तैजस प्राज्ञ आदिक पाद ही (मात्राः) मात्रा हैं (च) और (अकारः) अ तथा (उकारः) उ और (मकारः) म (इति) ये तीनों (मात्राः) मात्राएँ (पादाः) पाद हैं ॥१॥

विशेषार्थ—ओम् इस शब्द से कहा हुआ वह वैश्वानर १, तैजस २, प्राज्ञ ३ और तुरीय ४ इन चार पादवाला यह परब्रह्म नारायण सबसे अधिक

और अविनाशी होने से अध्यक्षर है। और यह अक्षर अधिक मात्रा यानी अंश जिसका है वह अधिमात्र है। 'अ', 'उ', 'म' ये तीनों मात्राएँ क्रम से वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ पाद हैं। यह उपलक्षण है इससे प्रणव का नाद से तुरीय पाद कहा जाता है। ओङ्कार के विषय में लिखा है—

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते—ओङ्कारः।

(अथर्वशिर उपनि० श्रु० ४)

ओङ्कार क्यों कहा जाता है? जिसके उच्चारण करने से प्राणादिक ऊपर को जाते हैं इससे ओङ्कार कहा जाता है ॥४॥ प्रणव "अ, उ, म्" इन अक्षरों से

आद्गुणः। (पाणि० व्या० अ० ६ पा० १ सू० ८७)

इस सूत्र से गुण होकर बना है। प्रणव में तीन वर्ण हैं क्योंकि लिखा है—

अकार उकारो मकार इति। (नारायणोप० श्रु० ४)

प्रणव में अ, उ, म् ये तीन अक्षर हैं ॥४॥

अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवम्।

(आत्मप्रबोधोपनि० श्रु० १)

अ तथा उ और म् ये तीन अक्षर प्रणव है ॥१॥

अकार उकार मकारश्चेति त्रयो वर्णाः।

(योगचूडामण्युप० श्रु० ७४)

प्रणव में अ उ म् ये तीन वर्ण हैं ॥७४॥

अकार उकारो मकार एते।

(वासुदेवोप०)

अ उ म् ये तीन अक्षर ओंकार में हैं।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहत्।

(मनु० अ० २ श्लो० ७६)

प्रजापति ने ऋग्वेद से अ को तथा यजुर्वेद से उ को और सामवेद से म् को निकाला ॥७६॥

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम् ।
वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ॥
(पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २२६ श्लो० २२)

पहले अ उसके बाद उ और उसके बाद म् ये प्रणव में जो तीन अक्षर हैं सो ऋग्यजुः साम स्वरूप हैं तथा प्रणव ब्रह्म का पद है ॥२२॥

एकाक्षरं प्रणवं तस्य त्रीणि पदानि सन्ति अकार उकार मकार इति ।
(निगमनप० १)

एकाक्षर प्रणव है उस प्रणव के अ उ म् ये तीन पद हैं ॥१॥

अत्र अ इति उ इति म् इति त्रीणि श्री अक्षराणि ।
(मुमुक्षुप० ३२)

त्रिभ्यो वेदेभ्यः त्रीण्यक्षराणि चोद्धृतानि ॥३३॥

प्रणव में 'अ', 'उ', 'म्' ये तीन सुन्दर अक्षर हैं ॥३२॥ ऋग्यजुः साम इन तीन वेदों से अ उ म् ये तीन अक्षर निकाले गये हैं ॥३३॥ श्री-प्रतिवादिभयङ्कराचार्यस्वामीजी "अष्टश्लोकी" के पहले श्लोक की व्याख्या में निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं ।

भूरिति ऋग्वेदादजायत भुवरिति यजुर्वेदात् सुवरिति सामवेदात् तानि शुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेत-दोमिति ।

"भूः" ऐसी व्याहृति ऋग्वेद से प्रगट हुई "भुवः" ऐसी व्याहृति सामवेद से प्रगट हुई "सुवः" ऐसी व्याहृति सामवेद से प्रगट हुई । निर्मल प्रकाशमान इन तीनों व्याहृतियों को परब्रह्म नारायण ने सत्य संकल्प से भलीभांति तपाया तब इन व्याहृतियों से अ, उ, म ये तीन अक्षर प्रगट हुए इन तीन अक्षरों को इकट्ठा किया तब यह ओंकार प्रगट हुआ । इस प्रकार से यहां पर प्रणव के 'अ, उ, म' ये तीन मात्राएँ प्रतिपादन किये गये हैं ॥१॥

जागरितस्थानोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥२॥

अन्वयार्थ—(प्रथमा) ओंकार की पहली (मात्रा) मात्रा (अकारः) अकार (आप्तेः) तत्तत् जीव योग्य भोग्य विषयों को भोग के लिये प्राप्त कराने के कारण या सब जगत् के नामों में व्याप्त होने के कारण (वा) और (आदिमत्वात्) आदिवाला होने के कारण (जागरितस्थानः) जहां पर स्थित होकर जागता है वह नेत्र स्थान है जिसका वह जागरित स्थान-वाला (वैश्वानरः) वैश्वानर नामक पहला पाद है (यः) जो अधिकारी (एवम्) इस प्रकार अकारवाच्य वैश्वानर को (वेद) जानता है (सः) वह (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (सर्वान्) अपने योग्य संपूर्ण (कामान्) भोगों को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (च) और (आदिः) सबका प्रधान कारण (भवति) हो जाता है ॥२॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में प्रणव की पहली मात्रा अकार वाच्य वैश्वानर की उपासना का फल बतलाया गया है—परब्रह्म नारायण के नामात्मक प्रणव की जो पहली मात्रा अ है वही जहां पर स्थित होकर जागता है वह नेत्र स्थान है जिसका वह जागरित स्थानवाला वैश्वानर नामक पहला पाद है। यहां पर यह प्रश्न होता है कि किस कारण से अकारवाच्य वैश्वानर है? इसका उत्तर यह है कि तत्तत् जीव योग्य भोग्य विषयों को भोग के लिये प्राप्त कराने के कारण या सब जगत् के नामों में व्याप्त होने के कारण और आदिवाला होने के कारण अकारवाच्य वैश्वानर है। क्योंकि अकार के विषय में लिखा है—

अकारो वै सर्वावाक्। (ऐतरेयारण्यक० २।३।६)

अकार निश्चय ही संपूर्ण वाणी है ॥६॥

अक्षराणामकारोऽस्मि। भगवद्गी० अ० १० श्लो० ३३)

अक्षरों में अकार मैं विष्णु हूँ ॥३३॥

अकारेणोच्यते विष्णुः कल्याणगुणसागरः ।

(पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अध्या० २२६ श्लो० ३०)

अकार से कल्याण गुण सागर विष्णु कहे जाते हैं ॥३०॥ और श्रीप्रतिवादिभयङ्कराचार्य स्वामीजी भी "अष्टश्लोकी" के पहले श्लोक की व्याख्या में लिखे हैं—

अ इति ब्रह्म ।

अ माने व्यापक परब्रह्म ।

अ इति भगवतो नारायणस्य प्रथमाभिधानम् ।

अ यह नारायण भगवान् का पहला नाम है ।

अकारो विष्णुवाचकः ।

'अ' व्यापक विष्णु का वाचक है ।

समस्तशब्दमूलत्वादकारस्य स्वभावतः । समस्तवाच्य-मूलत्वाद् ब्रह्मणोऽपि स्वभावतः । वाच्य वाचक सम्बन्धस्तयोरर्थात् प्रतीयते ।

अकार स्वभाव से सभी शब्दों का मूल है और परब्रह्म नारायण स्वभाव से वाच्य पदार्थों का मूल है अतः ये दोनों मूल होने कारण विदित होता है कि इन दोनों को आपस में वाच्य वाचक संबन्ध है ॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अकार सब नामों में व्याप्त है और आदिवाला सबका मूल कारण है । और वैश्वानर के विषय में भी लिखा है—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः ।

(छान्दोग्योप० अ० ५ खं० १८ श्रु० २)

उस इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है ॥२॥

जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोङ्कार एव चतूरूपो ह्ययमकार स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकाररूपैराप्तेरादि-मत्त्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्चाप्नोति ह वा इदं

सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ।

(नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० २)

जाग्रत् स्थानवाले के द्वारा उपलक्षित जो संपूर्ण जगत् है जिसका स्थूल सूक्ष्म कारण और साक्षी ये चार स्वरूप हैं वे विश्वरूप वैश्वानर पूर्णतम परमात्मा के प्रथम पाद है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा इन चार रूपोंवाला अकार ओङ्कार की पहली मात्रा है। यह अकार ही वैश्वानर है क्योंकि यह अकार भी स्थूल--वैखरी, सूक्ष्म--मध्यमा, बीज--पश्यन्ति और साक्षी--परा इन चार स्वरूपों से परिलक्षित होने के कारण वैश्वानर की भांति चार रूपवाला ही है। इसके सिवा आप्ति रूप गुण के होने से भी दोनों में समानता है। वैश्वानर जाग्रत् कालीन समस्त जगत् में व्यापक है तथा अकार भी वाणी मात्र में व्यापक है। यही नहीं बोलते समय सबसे पहले अकार का ही उच्चारण प्राप्त होता है हृदय देश में ऊपर को उठी हुई वायु कण्ठ में पहले ध्वनित होती है अतः प्रथम कण्ठ-स्थानीय आकर की ही ध्वनि निकलती है। उधर सृष्टिकाल में सर्व प्रथम विराट् स्वरूप वैश्वानर की ही उपलब्धि होती है अतः प्राप्ति रूप गुण की दृष्टि से भी दोनों में समानता है। इसी प्रकार आदिमान् होने के कारण भी दोनों में समानता है अकार संपूर्ण वर्णों में आदि--प्रथम है और वैश्वानर भी चतुष्पाद आत्मा में सबसे पहले प्राप्त होता है। इन सब समानताओं के कारण तथा ऊपर बताये अनुसार स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कारण-रूप और साक्षीरूप होने से भी दोनों में समता है। जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही जगत् के संपूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है और सबका आदि बन जाता है ॥२॥ इन श्रुतियों के प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैश्वानर सब जगत् में व्याप्त है और आदिवाला भी है। अब अकार-वाच्य वैश्वानर के जाननेवाले के लिये फल बतलाया जाता है— जो अधि-कारी पुरुष इस प्रकार अकारवाच्य वैश्वानर को भलीभांति जानता है वह निश्चय करके प्रसिद्ध अपने योग्य समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और सबका प्रधान कारण हो जाता है। अथवा महापुरुषों में आदि प्रथम हो जाता है ॥२॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्क-

षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥३॥

अन्वयार्थ—(द्वितीया) ओङ्कार की दूसरी (मात्रा) मात्रा (उकारः) उ (उत्कर्षात्) अ से उत्कृष्ट होने के कारण (वा) और (उभयत्वात्) मध्यवर्ती होने से (स्वप्नस्थानः) जहां पर स्थित होकर जीव स्वाप्न पदार्थों को देखता है वह कण्ठदेश में स्थित स्वप्नस्थानवाला (तैजसः) तैजस नामक दूसरा पाद है (यः) जो अधिकारी (एवम्) इस प्रकार उकारवाच्य तैजस को (वेद) जानता है वह (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (ज्ञानसन्ततिम्) ज्ञान की धारा को (उत्कर्षति) वृद्धि करता है अर्थात् देह का बन्धन से अपनी आत्मा को उद्धार करता है (च) और (समानः) सब मोक्षवालों के अन्तर्गत--समान दोष के अभाव होने से (भवति) हो जाता है (अस्य) इस ज्ञानी के (कुले) कुल में (अब्रह्मवित्) ब्रह्मज्ञानहीन सन्तति नहीं (भवति) होती है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हीं सन्तति होती है ॥३॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में प्रणव की दूसरी मात्रा उकार के वाच्य तैजस की उपासना का फल बतलाया गया है—परब्रह्म नारायण के नामात्मक ओंकार की दूसरी मात्रा जो 'उ' है यह 'अ' से उत्कृष्ट होने के कारण श्रेष्ठ है। तथा 'अ' और 'म्' इन दोनों के बीच में होने के कारण उन दोनों के मध्यवर्ती है। इसी प्रकार वैश्वानर से तैजस उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ के बीच में होने से तैजस मध्यवर्ती भी है इस समानता के कारण से 'उ' का जहांपर स्थित होकर जीव स्वाप्न पदार्थों को देखता है वह कण्ठदेश में स्थित स्वप्नस्थानवाला तैजस नामक दूसरा पाद कहा गया है। अब उकारवाच्य तैजस के जाननेवाले के लिये फल जो मिलता है वह बतलाया जाता है कि—जो अधिकारी पुरुष इस प्रकार उकारवाच्य तैजस को भलीभांति जानता है वह ज्ञानी पुरुष निश्चय करके प्रसिद्ध ज्ञान की परम्परा को वृद्धि करता है अर्थात् देह के बन्धन से अपनी आत्मा को उद्धार करता है और सब मोक्षवालों के अन्तर्गत--समान दोष के अभाव होने से हो जाता है इस ज्ञानी महात्मा के कुल में ब्रह्मज्ञान हीन पुरुष नहीं होता है। इस विषय में और भी लिखा है—

स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुकाररूपैरूत्कर्षादुभयत्वात्स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्चोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेद।

(नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० २)

जहां पर स्थित होकर जीव स्वाप्न पदार्थों को देखता है वह कण्ठ-देश में स्थित स्वप्न स्थान वाला है जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी ये चार स्वरूप हैं वे पूर्णतम परमात्मा के द्वितीय पाद रूप तैजस हिरण्य-गर्भ ओंकार की द्वितीय मात्रा के रूप में उपलब्ध होनेवाला वैखरी, मध्यमा पश्यन्ति, परा इन चार रूपों से युक्त उकार ये दोनों समान हैं। उकार ही तैजस है। उकार के जो स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी ये चार रूप हैं इनके द्वारा अवश्य ही उकार भी तैजस पुरुष की भांति चार स्वरूपोंवाला है। अतः इस समानता के कारण दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके सिवा ओंकार की दूसरी मात्रा जो उकार है वह पहली मात्रा अकार की अपेक्षा उत्कृष्ट है तथा उभयरूप है अ और म् इन दोनों के बीच में होने के कारण दोनों के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः दोनों के भाव से युक्त मध्यवर्ती है। इसी प्रकार द्वितीय पादरूप तैजस प्रथम पाद स्वरूप वैश्वानर से उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ इन दोनों के मध्यवर्ती होने से वह उभय संबन्धी भी है। अतः इस समानता के कारण भी उकार ही तैजस है। इतना ही नहीं पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होने के कारण भी दोनों परस्पर समान हैं। जो अधिकारी पुरुष इस प्रकार उकार वाच्य तैजस को जानता है वह निश्चय ही ज्ञान की परम्परा को समुन्नत करता है अर्थात् देह के बन्धन से अपनी आत्मा को उद्धार करता है। और सब मोक्षवालों के अन्तर्गत समान दोष के अभाव होने से हो जाता है॥२॥

पूर्वोक्त 'माण्डूक्योपनिषद्" की श्रुति में "ज्ञान" और "ब्रह्म" शब्द आये हैं इससे यह प्रश्न होता है कि—ज्ञान किसको कहते हैं और ब्रह्म किसको कहते हैं। इसका उत्तर यह लिखा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

(गी० अ० १३ श्लो० ७)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

मानहीनता १, दम्भहीनता २. अहिंसा ३, क्षमा ४, सरलता ५, आचार्य की उपासना ६, शौच ७, स्थिरता ८ और मन का भलीभांति निग्रह ९ ॥७॥ इन्द्रियों के भोगों में वैराग्य १० और अहंकारहीनता ११ तथा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि एवं दुःखरूप दोष को बार बार देखना १२ ॥८॥ अनासक्ति १३, पुत्र स्त्री घर आदि में अलिप्तता १४ तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्तियों में सदा समचित्त रहना १५ ॥९॥ मुझ में अनन्ययोग से अव्यभिचारिणी भक्ति १६, एकान्त देश के सेवन करने का स्वभाव १७ और जनसमुदाय में अप्रीति १८ ॥१०॥ अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति १९, तत्वज्ञान के अर्थ का दर्शन २० यह सब ज्ञान है इसके विपरीत जो है वह अज्ञान ऐसा कहा गया है ॥११॥

जन्माद्यस्य यतः । (शारीरकमी० अ० १ पा० १ सू० २)

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञमिश्र इस जगत् का अखिल हेय प्रत्यनीक कल्याणैकतान सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमकारुणिक जिस परम पुरुष से सृष्टि स्थिति प्रलय आदिक होते हैं वही ब्रह्म है ॥२॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्म ।

(तैत्तिरीयोप० वल्ली० ३ अनुवा० १)

जिससे निश्चय करके ये सब भूत उत्पन्न होते हैं उत्पन्न हुए जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और प्रलय में जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिसके सहारे से मुक्त हो जाते हैं जिसको विशेष रूप से जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है ॥१॥ इस प्रकार दोनों प्रश्नों का उत्तर समझना चाहिये ॥३॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥४॥

॥ इति तृतीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तृतीय) प्रणव की तीसरी (मात्रा) मात्रा (मकारः) म ही (मितेः) अपनी आत्मा में जीव को प्राप्त होने के कारण से (वा) और (अपीतेः) वृत्तिज्ञान के विलीन करनेवाला होने के कारण से (सुषुप्तस्थानः) हृदय की कर्णिका के अग्र में स्थित सुषुप्तस्थानवाला (प्राज्ञः) प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है (यः) जो अधिकारी (एवम्) इस प्रकार मकारवाच्य प्राज्ञ को (वेद) जानता है वह ज्ञानी पुरुष (वै) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (इदम्) इस (सर्वम्) संपूर्ण यथायोग्य जगत् को (मिनोति) अपने भीतर मुक्त होकर प्राप्त कर लेता है (च) और (अपीतिः) दुःखादिक अनिष्ट के विनाश करनेवाला (भवति) हो जाता है ॥४॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में प्रणव की तीसरी मात्रा मकार के वाच्य प्राज्ञ की उपासना का फल बतलाया गया है कि—परब्रह्म नारायण के नामात्मक ओंकार की तीसरी मात्रा जो "म" है वही अपनी आत्मा में जीव को प्राप्त होने के कारण से और वृत्तिज्ञान के विलीन करने के कारण से हृदय की कर्णिका के अग्र में स्थित सुषुप्तस्थानवाला प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है। क्योंकि लिखा है—

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्चमिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ।

(नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० २)

हृदय की कर्णिका के अग्र में स्थित सुषुप्तस्थानवाला चतुरात्मा वह प्राज्ञ ईश्वर जो परमात्मा के तृतीय पादरूप में बतलाया गया है ओंकार की तीसरी मात्रा के रूप में उपलब्ध होनेवाला पूर्वोक्त चाररूपों से युक्त मकार ही है। निश्चय ही यह मकार अपने स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी इन स्वरूपों से चार रूपवाला है और प्राज्ञ भी चार रूपोंवाला है। अतः समानता के कारण मकार ही प्राज्ञ है इसके सिवा मिति और अपीति अर्थात् माप करने और विलीन करने के कारण भी मकार और प्राज्ञ परस्पर समानता रखते हैं 'अ' और 'उ' के उच्चारण के बाद 'म्' का उच्चारण होता है अतः वे दोनों उसके द्वारा माप लिये जाते हैं तथा "ओम्" कहते समय 'म्' के उच्चारण के साथ मुख बन्द हो जाता है अतः 'अ' और 'उ' उसी में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञ द्वारा माप लिये जाते हैं क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न के अन्त में सुषुप्ति आती है तथा सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न का लय हो जाता है। अतः क्रमशः जाग्रत् और स्वप्न के अधिष्ठाता वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञ में विलनि हो जाते हैं। इन समानताओं के कारण तथा इसके अतिरिक्त पूर्ववत स्थूल सूक्ष्म बीज और साक्षी रूप होने से भी दोनों परस्पर समान हैं। जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय करके इस संपूर्ण जगत को अपने भीतर मुक्त होकर प्राप्त कर लेता है और दुःखादि अनिष्ट के विनाश करने वाला हो जाता है ॥२॥ अब मकार वाच्य प्राज्ञ के जानने वाले के लिये जो फल मिलता है वह बतलाया जाता है कि – जो अधिकारी इस प्रकार मकार वाच्य प्राज्ञ को भलीभांति जानता है वह ज्ञानी पुरुष निश्चय करके प्रसिद्ध इस संपूर्ण यथायोग्य जगत को अपने भीतर मुक्त होकर प्राप्त कर

लेता है और दुःखादि अनिष्ट के विनाश करनेवाला हो जाता है। यहां पर इस पूर्वोक्त अर्थ में "माण्डूक्यकारिका" के आगमप्रकरण का निम्नलिखित श्लोकों को अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये।

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥

(माण्डूक्यका० श्लो० १९)

प्रणव के एकदेश अकारवाच्य वैश्वानर की उपासना में उपासक के आदिमत्व की समानता स्पष्ट है मात्रा की संप्रतिपत्ति में परमात्मा का पहला अंश वैश्वानर है और आप्ति में कारण ओंकार का पहला मात्रा है इस प्रकार से दोनों में समानता स्पष्ट ही है। अर्थात् वैश्वानर अंश के ध्यान करने पर ध्याता के सर्व कामना की प्राप्ति होती है यही समता है ॥१९॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥२०॥

प्रणव के एकदेश उकारवाच्य तैजस की उपासना में उपासक का उत्कर्ष स्पष्ट दिखायी देता है मात्रा की संप्रतिपत्ति में परमात्मा का दूसरा अंश तैजस है और आप्ति में कारण ओंकार का दूसरी मात्रा उकार है इस प्रकार के मध्यवर्तिता समान है। अर्थात् प्रणवांश उकारवाच्य तैजस अंश का ध्यान करने पर ध्याता के ज्ञान सन्तति की प्राप्ति होती है यही समता है ॥२०॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥२१॥

प्रणव के एकदेश मकारवाच्य प्राज्ञ की उपासना में उपासक का सर्वान्तर्भावरूप मान की समानता स्पष्ट है मात्रा की संप्रतिपत्ति में बाह्यादिज्ञान का लय समान है अर्थात् प्रणवांश मकारवाच्य प्राज्ञ अंश के ध्यान करने पर ध्याता के दुःखादि की निवृत्ति होती है यही समता है ॥२१॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितम् ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥२२॥

जो उपासक उपर्युक्त तीनों स्थानों में बतलायी गयी तुल्यता अथवा समानता को निश्चयपूर्वक जानता है वह वेदिता महामुनि समस्त प्राणियों का पूजनीय और वन्दनीय हो जाता है ॥२२॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यतेऽगतिः ॥२३॥

ओंकार की पहली मात्रा अकार के वाच्य वैश्वानर स्वात्मोपासक को अपनी आत्मा को प्राप्त करा देता है। तथा प्रणव की दूसरी मात्रा उकार के वाच्य तैजस स्वात्मोपासक को तैजस यानी ज्ञानसन्तति को प्राप्त करा देता है। और ओंकार की तीसरी मात्रा मकार के वाच्य प्राज्ञ स्वात्मोपासक को प्राज्ञ यानी इस संपूर्ण यथायोग्य जगत् को अपने भीतर मुक्त होकर प्राप्त करा देता है। तुरीय अंश की उपासना करनेवाले पुरुष को भगवत्प्राप्ति का अभाव नहीं है अर्थात् "तुरीय" प्रणव की मात्रा को उपासना करनेवाले के त्रिपाद्विभूति में गति होती है ॥२३॥

आरम्भ में ओम् शब्द के-**ओमभ्यादाने** ।(पाणि०व्या०अ०८ पा०सू० ८७) इस सूत्र से ओ३म् ऐसा प्लुत हो जाता है। यहां पर "माण्डूक्योपनिद्" का तीसरा खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ चतुर्थखण्डः ॥

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥१॥

॥ इति चतुर्थखण्डः ॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषद् समाप्ता ॥

अन्वयार्थ— (अमात्रः) मात्रारहित (चतुर्थः) तुरीय पाद—चौथा (अव्यवहार्यः) मुक्ति के बिना जो व्यवहार में नहीं आनेवाला (प्रपञ्चो-

शमः) विस्तृत उत्कृष्ट सुखवाला अथवा सर्वदा प्रपञ्च से रहित (शिवः) दुःखरहित सुखरूप होने से कल्याणमय (अद्वैतः) अहंकार ममकार आदिक मिथ्या अध्यवसाय निवर्तक अनुपम (एवम्) इस प्रकार के (ओंकारः) प्रणव का एकदेशनाद प्रतिपाद्य है (यः) जो अधिकारी (एवम्) इस प्रकार के (वेद) प्रणव का एकदेशनाद प्रतिपाद्य को जानता है वह (एव) निश्चय करके (आत्मा) शुद्ध स्वरूप देह गेह आदिक में ममता आदिक अभिमान को त्यागकर (आत्मना) परमात्मा से यानी परब्रह्म नारायण के प्रसाद से (आत्मानम्) नादबोध्य तुरीय आत्मा को (संविशति) भलीभांति प्रवेश कर जाता है। अर्थात् प्रवेश करके बाहर और भीतर अपनी इच्छा के अनुसार अपने योग्य भोग्यों को भोगता हुआ सुख से रहता है ॥१॥

विशेषार्थ— इस श्रुति में तुरीय के गुणों को अनुवाद करता हुआ नाद प्रतिपाद्य तुरीय आत्मा की उपासना का फल बतलाया गया है—परब्रह्म नारायण के नामात्मक ओंकार के जो मात्रारहित बोलने में न आनेवाला मन वाणी का अविषय होने से मुक्ति के बिना जो व्यवहार में नहीं आनेवाला विस्तृत उत्कृष्ट सुखवाला अथवा सर्वदा प्रपंच से रहित दुःखरहित सुखरूप होने से मङ्गलमय अहंकार ममकार आदिक मिथ्या अध्यवसाय निवर्तक अनुपम तुरीय पाद है। जो अधिकारी पुरुष इस प्रकार के प्रणव के एकदेशनाद प्रतिपाद्य आत्मा को जानता है वह उपासक निश्चय करके शुद्ध स्वरूप होकर देह गेह आदिक में ममता आदिक अभिमान को त्याग कर परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से प्रणव के नाद से बोधन करने योग्य तुरीय आत्मा को भलीभांति प्रवेश कर जाता है अर्थात् परब्रह्म नारायण में प्रवेश करके बाहर और भीतर अपनी इच्छा के अनुसार अपने योग्य भोगों को भोगता हुआ सुख से निवास करता है। यह श्रुति थोड़े पाठ भेद से (नृसिंहोत्तरतापिन्युप० खं० २) में भी है। यहां पर इस पूर्वोक्त अर्थ में "माण्डूक्यकारिका" के आगम प्रकरण के निम्नलिखित श्लोकों को अवश्य अनुसंधान करना चाहिये।

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

(माण्डू० का० श्लो० २४)

समग्र प्रणव प्रतिपाद्य चतुरात्मा परब्रह्म नारायण को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इन एक एक पाद यानी अंश करके जाने। पाद ही मात्राएँ हैं इसमें सन्देह नहीं है प्रणववाच्य परब्रह्म नारायण को एक एक अंश करके चाररूपवाला जानकर कुछ भी चिन्तन न करे ॥२४॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२५॥

प्रणववाच्य परब्रह्म नारायण में मन को समाहित करे वैश्वानर आदिक चाररूपवाला प्रणव भयरहित गुणों से पूर्ण ब्रह्म है वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय इन चार अंशवाला परब्रह्म नारायण के नित्य ध्यान करनेवाले पुरुष को किसी निमित्त से भी भय नहीं होता है ॥२५॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥

निश्चय करके पूर्वतन मूलरूप पूर्व अवतारात्मा प्रणव यानी नारायण परब्रह्म पूर्ण हैं ऐसा प्रसिद्ध है और पश्चात्तन वैश्वानरादि अवतार रूप प्रणव यानी नारायण परब्रह्म पूर्ण है ऐसा मंत्रद्रष्टा से माना गया है। वह ओंकारवाच्य कारणहीन है तथा नाशरहित है और सर्वव्यापक होने से बाह्यशून्य है तथा पराधीन स्थिति के अभाव होने से अनपर है और सर्वदा विकाररहित एक प्रकार का है ॥२६॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

प्रणव स्वरूप परब्रह्म नारायण सब स्थावर जङ्गम जगत् का कारण हैं और स्थिति कर्ता हैं तथा नाशकर्ता भी हैं निश्चय करके इस प्रकार प्रणव यानी नारायण को जानकर प्रारब्ध भोग के अनन्तर उपासक परब्रह्म को विशेषरूप से प्राप्त कर लेता है ॥२७॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

सबके हृदय में संस्थित सर्वनियामक प्रणव यानी परब्रह्म नारायण को उपासना करे सर्वव्यापक प्रणववाच्य परब्रह्म नारायण को उपासना कर ज्ञानी पुरुष शोक नहीं करता है अर्थात् आविर्भूत अपहतपाप्मत्व आदिक आठ गुणवाला मुक्त हो जाता है ॥२८॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

मात्रा यानी अंश से विहीन मूलरूप से स्थित और जगत् के व्यापार निर्वहण करने के लिये अपनी इच्छा से वैश्वानर आदिक अनन्त अंश से युक्त तथा अपने उपासकों के सब अनिष्ट के निवर्तक दुःखरहित सुखरूप कल्याणमय ओंकारवाच्य परब्रह्म नारायण को जिसने जाना है वही मुनि है और कोई पुरुष नहीं है अर्थात् मुनि तो मुक्त हो जाता है और दूसरा पुरुष बारंबार जन्म मरण लेता है ॥२९॥ इस प्रकार से समस्त और व्यस्त प्रणव द्वारा परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन करके मुमुक्षुओं के उज्जीवन के लिये सत्संप्रदायाचार्यों की सूक्तियों से "ओम्" का संक्षेप में अर्थ प्रतिपादन करता हूँ ।

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च ततः परम् ।
वेदत्रयात्मकं प्रोक्तं प्रणवं ब्रह्मणः पदम् ॥

(पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अध्या० २२६ श्लो० २२)

पहिले "अ" उसके बाद "उ" और उसके बाद "म्" ये प्रणव में जो तीन अक्षर हैं सो ऋग्यजुः साम स्वरूप हैं और प्रणव ब्रह्म का पद है ॥२२॥

अकारेणोच्यते विष्णुः कल्याणगुणसागरः ।

(पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अ० २२६ श्लो०३०)

श्रीशः सर्वात्मनां शेषी जगद्बीजंपरः पुमान् ।
जगत्कर्ता जगद्भर्ता ईश्वरो लोकबान्धवः ॥३१॥

"अ" से कल्याणगुणसागर विष्णु भगवान् कहे जाते हैं ॥३०॥ जो लक्ष्मीनाथ सब जीवों के शेषी जगत् के कारण परपुरुष समस्त जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाला लोकबन्धु परमेश्वर है ॥३१॥

श्रीतत्त्वमपि तत्पक्षे अकारेणैव चोच्यते ।

(पाद्म० खं० ६ अ० २२६ श्लो० २६)

भास्करस्य प्रभा यद्वत्तस्य नित्यानपायिनी ॥३०॥

प्रपन्नो के मत में लक्ष्मीजी भी "अ" से ही कही जाती हैं ॥२६॥ जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से अलग नहीं रहती है वैसे ही लक्ष्मीजी विष्णु भगवान् से अलग नहीं रहती है ॥३०॥ इससे सिद्ध हो गया कि लक्ष्मी और नारायण ये दोनों "अ" का अर्थ है।

अवधारणवाच्येवमुकारः कैश्चिदुच्यते ।

(पाद्म० खं० ६ अ० २२६ श्लो० २६)

अवधारणवाची "उ" है ऐसा प्रपन्न सब कहते हैं ॥२६॥

मकारेणोच्यते जीवः पञ्चविंशोदितः पुमान् ।

भूतानि च कवर्गेण चवर्गेणेन्द्रियाणि च ॥

(पा० ६।२२६।२५)

टवर्गेण तवर्गेण ज्ञानगन्धादयस्तथा ।

मनः पकारेणैवोक्तं फकारेणत्वहंकृतिः ॥२६॥

बकारेण भकारेण महान् प्रकृतिरुच्यते ।

आत्मा तु स मकारेण पंचविंशः प्रकीर्तितः ॥२७॥

"म्" से पचीसवां तत्व जीवात्मा कहा जाता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांचों महाभूत कवर्ग में अन्तर्गत क, ख, ग, घ, ङ इन पांच अक्षरों से क्रम से कहे जाते हैं। और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पांचों कर्मेंद्रिय चवर्ग में अन्तर्गत च, छ, ज, झ, ञ इन पांच अक्षरों से क्रम से कहे जाते हैं ॥२५॥ तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय टवर्ग में अन्तर्गत ट, ठ, ड, ढ, ण इन पांच अक्षरों से क्रम से कहे जाते हैं। और गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा तथा शब्दतन्मात्रा ये पांचों तन्मात्रा तवर्ग में अन्तर्गत त, थ, द, ध, न इन पांच अक्षरों से क्रम से कहे जाते हैं। पकार से मन कहा जाता है और फकार से अहंकार कहा जाता है ॥२६॥

तथा बकार से महत्तत्व कहा जाता है और भकार से प्रकृति कही जाती है। मकार से पचीसवां तत्व जीवात्मा कहा जाता है ॥२७॥ इससे सिद्ध हो गया कि जीवात्मा "म्" का अर्थ है। इस प्रकार से प्रणव के तीनों अक्षर मिलकर यह अर्थ हुआ कि "सब जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाला कल्याणगुणसागर सर्वान्तर्यामी लक्ष्मीविशिष्ट भगवान् का ही जीवात्मा है"।

एकाक्षरं प्रणवं तस्य त्रीणि पदानि सन्ति अकार उकार मकार इति।　(निगमनपडि०)

एकाक्षर प्रणव है उस प्रणव का "अ", "उ" और "म्" ये तीन पद हैं।

नारायणः सर्वकारणं सर्वरक्षकः समस्तकल्याणगुणात्मकः सर्वशेषी श्रियः पतिः एवमकारार्थः। अन्यशेषत्वनिवृत्तिर्भगवदनन्यार्हशेषत्वम् एवमुकारार्थः। आत्मनोज्ञानानन्दत्वं ज्ञानगुणकत्वं नित्यत्वम् अणुत्वमेकरूपत्वं स्वस्वस्मै स्वयं प्रकाशत्वं प्रकृतेः परत्वमिति एवं मकारार्थः।　(निगमनप०)

सबका कारण सबका रक्षक सब कल्याणगुणवाला सबका शेषी श्रीदेवी के पति परब्रह्म नारायण ऐसा "अ" का अर्थ है। अन्य की शेषता निवृत्ति और भगवान के अनन्यार्हशेषता ऐसा "उ" का अर्थ है। जीवात्मा ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप और ज्ञानगुणवाला नित्य अणु एकरूप तथा अपने लिये स्वयं प्रकाशस्वरूप प्रकृति से परे है ऐसा "म्" का अर्थ है।

ईश्वरं त्यक्त्वा रक्षकान्तरं ज्ञानं विचारवतोहृदि अकारार्थो न लग्नः। स्वस्वातंत्र्यमस्ति चेच्चतुर्थ्यर्थो हृद्गतो न भवति। अन्यशेषत्वं कुर्वत उकारार्थो हृदि न लग्नः। देहात्मबुद्धेर्मकारार्थो हृदि न लग्नः।　(निगमनप०)

परमेश्वर को त्यागकर रक्षकान्तर ज्ञान को विचार करनेवाला का हृदय में "अ" का अर्थ नहीं लगा है। और अकार के बाद चतुर्थी

चतुर्थी वाच्या। इस वार्तिक से तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति आकर। सुपांसुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेया डाड्यायाजालः। (पाणि० व्या० अ० ७ पा० १ सू० ३९) इस सूत्र से लुप्त हो गई। इसी चतुर्थी के विषय में कहा है अपने में स्वतंत्रता यदि है तो लुप्त चतुर्थी विभक्ति का अर्थ हृदय में नहीं लगा है। श्रीमन्नारायण से अन्य की शेषता करनेवाले के हृदय में "उ" का अर्थ नहीं लगा है। देह में आत्मा बुद्धि करने वाले के हृदय में "म्" का अर्थ नहीं लगा है।

अकारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षाप्रलयकृन्
मकारार्थो जीवस्तदुपकरणं वैष्णवमिदम्।
उकारोऽनन्यार्हं नियमयति सम्बन्धमनयो-
स्त्रयीसारस्त्र्यात्मा प्रणव इममर्थं समदिशत्॥

(अष्टश्लो० श्लो० १)

संपूर्ण जगत की उत्पत्ति रक्षा और प्रलय करने वाले श्री विष्णु भगवान "अ" का अर्थ है। और "म्" का अर्थ जीवात्मा है। यह जीवात्मा श्री विष्णु भगवान से उत्पन्न हुआ है इससे श्री विष्णु भगवान का शेष है यह लुप्त चतुर्थी विभक्ति का अर्थ है। प्रणव में स्थित "उ" का अवधारण अर्थ है। वह उकार जीवात्मा दूसरे के योग्य नहीं है इस प्रकार के जीवात्मा और परमात्मा के शेषशेषिभाव संबन्ध को नियमन करता है। ऋग्यजुःसाम इन तीनों वेदों के सारभूत 'अ, उ, म्' इन तीन अक्षरों से संघटित प्रणव इस अर्थ को प्रतिपादन किया है॥१॥

देहासक्तात्मबुद्धिर्यदि भवति पदं साधु विद्यात्तृतीयं
स्वातंत्र्यान्धो यदि स्यात् प्रथममितरशेषत्वधीश्चेद्द्वितीयम्॥४॥

प्रपन्न जन यदि देह में आत्मा की बुद्धि करने वाला हो तो उस समय प्रणव के तीसरे पद "म्" को अच्छी तरह अनुसंधान करे। तथा स्वतंत्रता से अन्धा यदि बन जाय तो उस समय प्रणव के पहले पद "अ" को अच्छी तरह अनुसंधान करे और भगवत् भागवत और आचार्यों को छोड़कर दूसरों का दास हूं ऐसा समझे तो उस समय प्रणव के दूसरे पद "उ" का अच्छी तरह अनुसंधान करे॥४॥

अत्र 'अ' इति 'उ' इति 'म' इति त्रीणि श्री अक्षराणि (मुमुक्षुपडि० ३२) त्रिभ्यो वेदेभ्यः त्रीण्यक्षराणि चोद्धृतानि ॥३३॥ अतोऽयं सकलवेदसारः ॥३४॥ तत्र अकारः सकल शब्दकारणत्वात् नारायणपदसंग्रहत्वाच्च सकल जगत्कारणं सर्वरक्षकं स्वामिनमाह ॥३५॥

प्रणव में "अ" "उ" "म्" ये तीन सुन्दर अक्षर हैं ॥३२॥ ऋग्यजुः साम इन तीन वेदों से "अ उ म्" ये तीन अक्षर निकाले गये हैं ॥३३॥ इससे यह ओंकार संपूर्ण वेद का सार है ॥३४॥ उसमें अकार सब शब्दों के कारण और नारायण पद के संग्रह होने से सकल जगत् कारण सर्व रक्षक सबका स्वामी परब्रह्म नारायण को कहता है ॥३५॥ क्योंकि भ्वादि पठित—

अव रक्षण गति कान्ति प्रीति तृप्त्यवगम प्रवेश श्रवण स्वाम्यर्थयाचन क्रियेच्छा दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन हिंसा दान भागवृद्धिषु । इस धातु से अन्येष्वपि दृश्यते ।

(पाणि० व्या० अ० ३ पा० २ सू० १०१)

इस सूत्र से ड प्रत्यय होने पर टिलोप के द्वारा संपूर्ण धातु के लोप होने पर "अ" यह अक्षर निष्पन्न होता है ।

अत्र श्रीसम्बन्धोऽनुसन्धेयः । (मुमुक्षुप० ४०) अत्र सेनापतिमिश्रवाक्यम् "तद्वक्षःस्थलं त्यजतिचेत् एतदक्षरं त्यजति" ॥४१॥ भर्तुःशय्यां प्रजायाः डोलां चापरित्यजन्ती मातेव ॥४२॥ श्रीनन्दगोपं कृष्णं चापरित्यजन्ती यशोदेव ॥४३॥ केनचिच्छेपवस्तु स्वीकारकाले 'गृहिण्यै' इति हि न विक्रय पत्रं विलिख्यते तथापि गृहिण्याः खलु दास्यवृत्तिः क्रियते तद्वद्वयं श्रियः दासभूताः ॥४४॥ तस्माम विदित्वा [illegible] ॥४५॥ यथा

प्रभायाः प्रभावतश्च पुष्पस्य परिमलस्य च ॥४६॥ तस्मादेतन्मिथुनमुद्देश्यभूत् ॥४७॥

प्रणव का पहला अक्षर "अ" में श्रीदेवी का संबन्ध अनुसंधान करने योग्य है ॥४०॥ इस विषय में भगवत्सेनापतिमिश्र का वाक्य प्रमाण है कि— यदि श्रीविष्णु भगवान के वक्षःस्थल को श्रीदेवी त्यागती है तो इस "अ" अक्षर को त्याग सकती है ॥४१॥ पति की शय्या को और सन्तान की डोला को नहीं त्यागती हुई माता के समान श्रीदेवी "अ" को नहीं त्यागती है ॥४२॥ श्रीनन्द गोप और श्रीकृष्णभगवान् को नहीं परित्याग करती हुई यशोदा गोपी के समान श्रीदेवी "अ" को नहीं परित्याग करती है ॥४३॥ किसी पुरुष के द्वारा दासता के स्वीकार समय में स्त्री के लिये विक्रय पत्र नहीं लिखा जाता है तौभी निश्चय करके स्त्री की दासवृत्ति करता है उसी समान श्रीदेवी के हमसब दास हैं ॥४४॥ परब्रह्म नारायण से अलग श्रीदेवी की स्थिति नहीं है ॥४५॥ जैसे प्रभा वाला से प्रभा अलग नहीं रहती है और पुष्प का परिमल पुष्प से अलग नहीं रहता है वैसे ही श्रीदेवी नारायण से अलग नहीं रहती है ॥४६॥ इस कारण से लक्ष्मी और नारायण ये दोनों उद्देश्य हुए हैं ॥४७॥ इससे यह सिद्ध हो गया कि— "अ" का अर्थ जगत् की उत्पत्ति रक्षा और प्रलय करनेवाले लक्ष्मी विशिष्ट परब्रह्म नारायण है।

अत्र चतुर्थीप्राप्ता लुप्यते। (मुमुक्षुप० ४८) अनयेश्वरस्य शेष इत्युच्यते ॥५१॥ शेषत्वं दुःखरूपं हि लोके दृश्यत इति चेत् ॥५२॥ स नियमो नास्ति अभिमतविषये शेषत्वस्य सुखरूपतया दृश्यमानत्वात् ॥५३॥ अकारे कल्याणगुणानां कथितत्वात् इदं शेषत्वं च गुणेनागतम् ॥५४॥ शेषत्वमेवात्मनः स्वरूपम् ॥५५॥

यहां पर अकार के ऊपर तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति होकर लुप्त होती है ॥४८॥ इस लुप्त चतुर्थी विभक्ति से परमेश्वर का शेष यानी दास

कहा जाता है ॥५१॥ शेषता लोक में दुःखरूप देखा जाता है ऐसा यदि कहो तो ॥५२॥ वह नियम नहीं है क्योंकि—अभिमत विषय में शेषता सुखरूप देखी जाती है ॥५३॥ अकार में कल्याणगुण कहे गये हैं इससे यह शेषत्व गुण से आया हुआ है ॥५४॥ निश्चय करके श्रीमन्नारायण की शेषता ही जीवात्मा का स्वरूप है ॥५५॥ इससे सिद्ध हो गया कि—लुप्त चतुर्थी विभक्ति का अर्थ शेषत्व है ।

स्थानप्रमाणेनोकारोऽवधारणार्थः । (मुमुक्षुप० ५८) अनेन इतरेषां शेषो न भवति इत्युच्यते ॥५९॥ महालक्ष्म्याः शेषः इत्युच्यते इत्यपि वदन्ति ॥६०॥ ततोऽप्यन्यशेषत्वनिवृत्तिरेव-प्रधानम् ॥६१॥ देवानां शेषभूतस्य पुरोडाशस्य शुने दानवत् ईश्वरशेषस्यात्मवस्तुनः संसारिणां शेषी करणम् ॥६२॥ भग-वच्छेषत्वादपि अन्यशेषत्वनिवृत्तिरेव प्रधानम् ॥६३॥

स्थान के प्रमाण से "उ" का अर्थ अवधारण है क्योंकि लिखा है— तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः । (यजुर्वे०अ० ३२ मं०१)

वह परमात्मा ही अग्नि है वह परमात्मा सूर्य है वह परमात्मा वायु है वह परमात्मा ही चन्द्रमा है ॥१॥ इस श्रुति में "एव" का अर्थ में "उ" प्रयुक्त हुआ है इस स्थान प्रमाण से "उ" का अर्थ अवधारण है ॥५८॥ इस अवधारण से भगवत् भागवत और आचार्य से अन्य का शेष जीवात्मा नहीं है ऐसा कहा जाता है ॥५९॥ महालक्ष्मी देवी का भी शेष जीवात्मा है ऐसा पूर्वाचार्य लोग कहते हैं ॥६०॥ तिससे अन्य शेषत्व की निवृत्ति ही प्रधान सिद्ध होती है ॥६१॥ देवताओं के शेष भूत हविष्य को कुत्ता के लिये दे दिया जाय उसीके समान परमेश्वर के शेषभूत आत्मवस्तु को संसा-रियों के समर्पण करना है ॥६२॥ जीवात्मा भगवान् का शेष है इस कथन से अन्य संसारी जीवों की शेषता की निवृत्ति ही प्रधान सिद्ध होती है ॥६३॥

मकारः पञ्चविंशोऽक्षरः ज्ञानवाची च तस्मात्...

(मुमुक्षुप० ६६) अयं च समष्टिवाचकः ॥६७॥ जात्येकवच-नम् ॥६८॥

मकार पचीसवां अक्षर है और ज्ञान का वाचक है इससे जीवात्मा को कहता है ॥६६॥ यह "म" अक्षर नित्य मुक्त आदिक संपूर्ण जीव का वाचक है ॥६७॥ यहां पर जाति पक्ष लेकर एक वचन कहा गया है ॥६८॥ दिवादिपठित मन ज्ञाने और तनादिपठित मनु अवबोधने तथा दिवादिपठित मदी हर्षे और दिवादिपठित मसी परिणामे इन चार धातुओं से उणादयो बहुलम् । (पाणि० व्य० अ० ३ पा० ३ सू० १) इस सूत्र से—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

इस व्यारण की कारिका के अनुसार "ड्वि" प्रत्यय होने पर टिलोप और संपूर्ण प्रत्यय लोप होने पर "म" यह निष्पन्न होता है। तब प्रणव का यह अर्थ सिद्ध हुआ कि— सर्व जगत कारण सर्वरक्षक लक्ष्मी सहित नारायण भगवान् का ही शेष निश्चय करके ज्ञानस्वरूप ज्ञानानन्द-गुणवाला अणु परिमाण जीवात्मा है।

प्रणवे चतुर्थ्या शेषत्वमुक्त्वा अकारेण शेषत्वप्रतिसम्बन्धिनमुक्त्वा मकारेण शेषत्वाश्रयमुक्त्वा अवधारणेन शेषिशेषभावनिष्ठानन्यार्हताया उक्तत्वात्स्वरूपमुक्तम्। अकारेण रक्षकमुक्त्वा मकारेण रक्ष्यमुक्त्वा चतुर्थ्या रक्ष्यरक्षकभावापेक्षितं संबन्धमुक्त्वा अवधारणेन रक्ष्यरक्षकयोः लक्षणस्य उक्तत्वात् उपाय उक्तः। अकारेण प्राप्यमुक्त्वा मकारेण प्राप्तारमुक्त्वा चतुर्थ्या प्राप्तिफलं कैङ्कर्यमुक्त्वा अवधारणेन कैङ्कर्य प्रकारस्योक्तत्वात् प्राप्यमुक्तम्।

(वार्तामा० वार्ता० १४)

प्रणव में "अ" के ऊपर जो लुप्त चतुर्थी विभक्ति है उस लुप्त चतुर्थी विभक्ति से शेषत्व अर्थ को कह कर "अ" से शेषत्व के प्रति सम्बन्धी श्रीमन्नारायण को कहकर "म" से शेषत्व के आश्रय जीव को

कहकर "उ" से शेषिशेषभावनिष्ठ अनन्यार्हता के कहने से अपना स्वरूप कहा गया है। और "अ" से रक्षक श्रीमन्नारायण को कहकर "म्" से रक्ष्य जीव को कहकर लुप्त चतुर्थी विभक्ति से रक्ष्य और रक्षक भाव द्वारा अपेक्षित शेषत्व संबन्ध को कहकर "उ" से रक्ष्य तथा रक्षक का लक्षण कहने से उपाय कहा गया है। और "अ" से प्राप्य श्रीमन्नारायण को कहकर "म्" से प्राप्ता जीव को कहकर लुप्त चतुर्थी विभक्ति से प्राप्ति का फल भगवत्कैङ्कर्य को कहकर "उ" से कैङ्कर्य प्रकार के कहने से प्राप्य परब्रह्म नारायण कहा गया है ॥१४॥

बहुविरोधिबीजभूतं स्वातंत्र्यमाक्रमते चेत् अहं भगवत्परतंत्रः मम स्वातंत्र्यमनुचितमिति अकारार्थमनुसन्धाय निवर्तनीयम्। असेव्यसेवा आक्रमते चेत् अहं अन्य शेषः किं भगवदनन्यार्हशेषः खल्विति उकारार्थानुसन्धानेन निवर्तनीयम्। शरीरगतकार्श्यस्थौल्यादिकमाक्रमते चेत् ज्ञानानन्दस्वरूपोऽहंनित्यः एकरूपं स्वयं प्रकाश इति मकारार्थानुसन्धानेन निवर्तनीयम्।

(वार्तामा० वार्ता० २५)

स्वस्वरूप विरोधि आदि बहुत से विरोधियों के बीजभूत स्वतंत्रता यदि अपने में उदय हो तो मैं भगवान के अधीन हूँ मेरा स्वतंत्रपना अनुचित है ऐसा प्रणव के प्रथम मात्रा अकार के अर्थ को अनुसंधान कर दूर करना चाहिये। और नहीं सेवा करने योग्य की सेवा यदि अपने में उदय हो तो मैं क्या दूसरे का शेष हूँ अर्थात् दूसरे का शेष नहीं हूँ निश्चय करके भगवदनन्यार्हशेष मैं हूँ ऐसा प्रणव के द्वितीय मात्रा उकार के अर्थ को अनुसंधान करके दूर करना चाहिये। तथा शरीर के दुबलापन और मोटापन आदिक यदि आत्मा में उदय हो तो मैं ज्ञान और आनन्दस्वरूप तथा नित्य और एकरूप तथा अपने से आप प्रकाश स्वरूप हूँ ऐसा प्रणव के तृतीय मात्रा मकार के अर्थ को अनुसंधान करके दूर करना चाहिये ॥२५॥

स्वस्वातंत्र्यमाक्रमते चेत् प्रणवे प्रथमाक्षरमनुसन्दधीत।

इतरशेषत्वप्रतिपत्तिरनुवर्तते चेत् उकारार्थमनुसन्दधीत। देहोऽहमिति स्थितश्चेत् मकारार्थमनुसंदधीत। (वार्तामा०वार्ता० २७)

अपनी आत्मा में स्वतंत्रता यदि उदय हो तो प्रणव में जो पहला अक्षर "अ" है उसके अर्थ को अनुसन्धान करे। और श्रीसन्नारायण भागवत तथा आचार्य से व्यतिरिक्त का हम शेष हैं ऐसी प्रतिपत्ति यदि हो तो प्रणव में जो दूसरा अक्षर "उ" है उसके अर्थ को अनुसंधान करे। तथा पञ्चभूतात्मक देह मैं हूं ऐसी बुद्धि स्थित हो तो प्रणव में जो तीसरा अक्षर "म्" है उसके अर्थ को अनुसंधान करे ॥२७॥

सर्वरक्षकत्वं सर्वस्मात्परत्वं श्रियः पतित्वं सर्वशेषित्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं समस्तकल्याणगुणत्वमेतेऽकारार्थाः अन्यशेषत्वनिवृत्तिरनन्यार्हशेषत्वं चोकारार्थः ज्ञानानन्दलक्षणत्वं ज्ञानगुणकत्वमेकरूपत्वं स्वयं प्रकाशत्वमेते मकारार्थाः।

(वार्तामा० वार्ता० २८)

सबका रक्षक तथा सबसे परे और लक्ष्मी देवीजी का पति तथा सबका शेषी और सबको जाननेवाला तथा सर्वशक्तिमान् और समस्त कल्याणगुणवाला अकार का अर्थ है। तथा अन्यशेषत्व की निवृत्ति और अनन्यार्हशेषत्व का अर्थ है। और ज्ञान तथा आनन्द लक्षणवाला और ज्ञानगुणवाला एकरूप तथा अपने से प्रकाश करनेवाला जीवात्मा मकार का अर्थ है ॥२८॥

प्रथमपदे ईश्वरस्य रक्षकत्वं सर्वशेषित्वं जगत्कारणत्वं श्रियः पतित्वं चोच्यते तत्र रक्षकत्वे प्रमाणम् "ये न जातानि जीवन्ति" "कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" "स एव पात्यत्ति च रक्षकः" "सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेषु च गीयते" इत्यादि। शेषित्वे प्रमाणम् "पतिं विश्वस्य सर्वस्याधिपतिः" "स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्" "पतिं पतीनाम्" इत्यादि। कारणत्वे प्रमाणम्

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "स कारणं करणाधिपाधिपः" "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः" "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्" इत्यादि । श्रियः पतित्वे प्रमाणम् "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" "विष्णुपत्नीं च धीमहि" "ययौ वक्षःस्थलं हरेः" "श्रीसहायो जनार्दनः" इत्यादि । एवमुत्तरत्रानुसन्धेयम् तादर्थ्यचतुर्थ्या शेषत्वमुक्तम् द्वितीयपदेनात्मनः शेषत्वान्तरनिवृत्तिपूर्वकमनन्यार्हशेषत्वमीश्वरस्यानन्यार्हशेषित्वं चोक्तम् तृतीयपदेनात्मनो ज्ञानानन्दत्वं ज्ञानगुणकत्वं प्रकृतेः परत्वं नित्यत्वं चोक्तम् ।

(वार्ता० ३५)

प्रणव का पहला पद "अ" का अर्थ परमेश्वर का रक्षकत्व और सर्वशेषित्व तथा जगत्कारणत्व और लक्ष्मी देवीजी के पति कहा जाता है। उसमें रक्षकत्व में प्रमाण ये अधोलिखित हैं—"जिस नारायण से उत्पन्न हुए जीव पालन किये जाते हैं" (तैत्तिरीयो० व० ३ अनुवा० १) "कौन निश्चय करके ही सामान्य आनन्द देकर रक्षा करता है और कौन विशेष आनन्द मोक्ष को देकर रक्षा करता है" (तैत्तिरीयो० व० २ अनुवा० ७) "और वह नारायण निश्चय करके उत्पन्न करता है तथा पालन करता है और नाश करता है" "सब सिद्धान्त में और वेदान्त में भी नारायण रक्षक कहा जाता है" इत्यादिक वाक्य हैं। और नारायण के शेषित्व में प्रमाण ये अधोलिखित हैं— "समस्त लोकपतियों के और समस्त संसार के अधिपति यानी स्वामी हैं" "स्वामित्व परब्रह्म नारायण में स्थित है" "प्रजापतियों के स्वामी को" (श्वेता० अ० ६ श्रु० ७) इत्यादिक वाक्य हैं। तथा नारायण के कारणत्व में प्रमाण ये अधोलिखित हैं— "जिससे निश्चय करके ये सब जीव उत्पन्न होते हैं" (तै० व० ३ अनु० १) "वह सब इन्द्रियों के स्वामियों का अधिपनारायण कारण है" (श्वे०उ० अ० ६ श्रु० ९) मैं समस्त जगत् के उत्पत्ति स्थान हूँ" (गी० अ० ७ श्लो० ६) "श्रीविष्णु भगवान से जगत उत्पन्न हुआ है" (विष्णुपु० अं० १ अ० १ श्लो० ३१) इत्यादिक वाक्य हैं। और नारायण को लक्ष्मी देवीजी के पतित्व

में प्रमाण ये अधोलिखित हैं— 'श्रीदेवी और भूदेवी आपकी पत्नी हैं' (शुक्लय० अ० ३१ मं० २२) श्री विष्णु भगवान की पत्नी लक्ष्मी देवी को हम सब ध्यान करते हैं (लक्ष्मीसू० मं० ७) नारायण के वक्षःस्थल में श्री देवी चली गई श्रीसहाय जनार्दन भगवान हैं इत्यादिक वाक्य हैं। ऐसे ही आगे में भी अनुसंधान करने योग्य है। अकार के उपर तादर्थ्य में आकर लुप्त चतुर्थी विभक्ति से शेषत्व कहा गया है। और प्रणव का दूसरा अक्षर "उ" से जीवात्मा के अन्य के शेषत्व की निवृत्तिपूर्वक अनन्यार्हशेषत्व और परमात्मा के अनन्यार्हशेषित्व कहा गया है। तथा प्रणव का तीसरा अक्षर "म" से जीवात्मा के ज्ञानान्द स्वरूप तथा ज्ञानगुण और प्रकृति से परे नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है ॥३५॥ श्री प्रतिवादि-भयङ्कराचार्यस्वामीजी अष्टश्लोकी के पहले श्लोक की व्याख्या में निम्न-लिखित श्लोक उद्धृत किये हैं।

अकारो विष्णुरित्युक्तो मकारो जीववाचकः।
तयोस्तु नित्यसम्बन्ध उकारेण प्रकीर्तितः ॥

अकार से श्री विष्णुभगवान कहे गये हैं तथा मकार जीव को कहा है और उकार से जीव और परब्रह्म इन दोनों के नित्य संबन्ध कहा गया है॥ इस प्रकार प्रणव का अर्थ हुआ। यहां पर कई सज्जन यह कहते हैं कि-माण्डूक्योपनिषद में "अ" का वैश्वानर तथा "उ" का अर्थ तैजस और "म्" का अर्थ प्राज्ञ किया गयाहै। इससे आपका अर्थ जो है "अ" का विष्णु तथा "उ" का अव-धारण और "म्" का जीव यह मान्य नहीं हो सकता है। इस विषय में मेरा यह कहना है कि "माण्डूक्योपनिषद्" में समस्त और व्यस्त प्रणव से भगवदु-पासना प्रतिपादन किया गया है प्रणवार्थ नहीं। इससे महर्षि बादरायणाचार्य के सिद्धान्तानुसार सत्सम्प्रदायाचार्यों की सूक्तियों को आलोडन करके प्रणव का अर्थ मैं लिखा हूं अतः अतिमान्य है। कई सज्जनों के कथनानुसार 'माण्डूक्योपनिषद्' में प्रणवार्थ मानने पर भी कुछ मेरा अर्थ विरुद्ध नहीं है क्योंकि लिखा है—

स एष वैश्वानरोविश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।

(प्रश्नोप० प्रश्न० १ श्रु० ७)

समस्त नरों के नेता वैश्वानर शब्दवाच्य सर्वशरीरतया सकल प्रपञ्च स्वरूप अग्रनेता अग्निस्वरूप वह यह प्रजाओं का रक्षक परमात्मा भोक्ता होता हुआ उदित यानी प्रकाशित होता है ॥७॥

अयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति ॥

(छान्दोग्यो० अ० ५ खं० ११ श्रु० २)

यह अरुण का पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर परमात्मा को जानता है ॥२॥

अयं कैकयः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति ।

(छा० अ० ५ खं०११ श्रु०४)

इस समय में यह केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर परमात्मा को अच्छी तरह जानता है ॥४॥

आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि (छा० अ० ५ खं० ११ श्रु० ६)

इस समम आप इस वैश्वानर परमात्मा को जानते हैं ॥६॥

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपासते ।

(छा० अ० ५ खं० १८ श्रु० १)

जो इस प्रकार प्रादेश मात्र अभिविमान वाला इस वैश्वानर परमात्मा की उपासना करता है ॥१॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । (गी० अ० १५ श्लो० १४)

मैं वैश्वानर होकर सब प्राणियों के देह में रहता हूँ ॥१४॥

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् । (शारीरकमी० अ० १ पा० २ सू० २५)

के श्रीभाष्य में । **वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते ।**

(वैश्वानराधिक०)

वैश्वानरात्मा परमात्मा ही है ऐसा जाना जाता है । इन पूर्वोक्त श्रुति स्मृति ब्रह्मसूत्र और श्रीभाष्य के प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रीविष्णु भगवान् को ही वैश्वानर कहते हैं । और "माण्डूक्यकारिका" के आगम प्रकरण में "वैश्वानर" शब्द के स्थान में प्रायः "विश्व" शब्द प्रयुक्त हुआ है । इससे अवगत होता है कि—वैश्वानर का पर्यायवाचक विश्व शब्द है । और—

विश्वं विष्णुर्वषट्कारः । (महाभार० अनुशासनप० विष्णुसह० श्लो० १४)

विश्व १, विष्णु २, वषट्कार ३, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥१४॥ इससे भी सिद्ध होता है कि वैश्वानर श्रीविष्णु भगवान को ही कहते हैं । इससे "अ" का अर्थ श्रीविष्णु भगवान है ।

तैजस का भी विचार करने से अवधारण ही अर्थ है। जैसे सूर्य तैजस वस्तु है वह नीचे के मृत्युलोक को और ऊपर के स्वर्गलोक को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता हुआ मध्य में दोनों के संबन्ध को नियमन करता है वैसे ही "अ" और "म्" के मध्य में "उ" जीव और परमेश्वर के नित्य संबन्ध को नियमन करता है। तैजस वस्तु का अवधारण अर्थ पूर्वोक्त उदाहरण से प्रत्यक्ष सिद्ध है इससे तैजस का अर्थ अवधारण है। अतः स्थान प्रमाण से "उ" का अर्थ अवधारण है।

यहां पर सूक्ष्म विवेचन करने से प्राज्ञ का अर्थ जीव होता है क्योंकि लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ। (श्वेताश्वतरो० अ० १ श्रु० ९)

सर्वज्ञ और अज्ञ क्रम से परमेश्वर तथा जीवात्मा ये दोनों हैं और ये दोनों अजन्मा हैं॥९॥ इस श्रुति में स्पष्ट जीव को अज्ञ बतलाया गया है। और "प्र" "अज्ञ" ऐसा पदच्छेद होने पर—

अकः सवर्णे दीर्घः। (पाणि० व्या० अ० ६ पा० १ सू० १०१)

इस सूत्र से दीर्घ होकर प्राज्ञ शब्द निष्पन्न होता है। इससे प्राज्ञ शब्द का अर्थ अत्यन्त अज्ञानी जीव है। अतः "म्" का अर्थ जीवात्मा है। इस प्रकार सब मत के अनुसार मेरा किया हुआ प्रणव का अर्थ अतिमाननीय है। इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड में छौ मंत्र तथा द्वितीय खण्ड में एक मंत्र और तृतीय खण्ड में चार मंत्र तथा चतुर्थ खण्ड में एक मंत्र है। इस प्रकार सब परिगणन करने से "माण्डूक्योपनिषद्" में बारह मंत्र हैं। यहां चतुर्थ खण्ड और यह "माण्डूक्योपनिषद्" समाप्त हो गया ॥१॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम्।
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधं
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम्॥

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्यवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्यसत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरुभगवदनन्तपादीय-श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यत्रिदण्डिस्वामिविरचिता "गूढार्थदीपिका" समाख्या अथर्ववेदीयजाजलशाखान्तर्गता-"माण्डूक्योपनिषद्" भाषा व्याख्या समाप्ता।

॥ ओं पराशराय नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीया

तैत्तिरीयोपनिषद्

॥ अथ शीक्षावल्ली ॥

"अथ प्रथमोऽनुवाकः"

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

* गूढार्थदीपिकाव्याख्या *

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

तत्त्वेन यश्चिदचिदीश्वरतत्स्वभाव-
भोगापवर्गतदुपायगतीरुदारः ।
संदर्शयन्निरमिमीत पुराणरत्नं
तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ॥१॥

अन्वयार्थ—(मित्रः) दिन और प्राण के अधिष्ठाता मित्र देवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों तथा (वरुणः) रात्रि और अपान के अधिष्ठाता वरुण देवता हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (अर्यमा) चक्षु और सूर्य के अधिष्ठाता अर्यमा देवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी (भवतु) हों (इन्द्रः) बल और भुजा के अधिष्ठाता इन्द्रदेवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (बृहस्पतिः) वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति देवता हमारे लिये कल्याणकारी हों (उरुक्रमः) त्रिविक्रम रूप से बड़े बड़े चरण रखनेवाले (विष्णुः) चरण के अधिष्ठाता श्री विष्णु भगवान् (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (ब्रह्मणे) परब्रह्म नारायण के लिये (नमः) नमस्कार है (वायो) हे वायुदेव (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार है (त्वम्) तुम (एव) निश्चय करके (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्राणरूप से प्रतीत होने वाले (ब्रह्म) ब्रह्म (असि) हो (त्वाम्) तुमको (एव) ही (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (ब्रह्म) ब्रह्म (वदिष्यामि) कहूंगा (ऋतम्) शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में सम्यक् निश्चय किया हुआ ऋत को (वदिष्यामि) मैं कहूंगा (सत्यम्) सत्य को (वदिष्यामि) मैं कहूंगा (तत्) वह परब्रह्म नारायण (माम्) मुझको (अवतु) रक्षा करें (तत्) वह परब्रह्म नारायण (वक्तारम्) वक्ता आचार्य को (अवतु) रक्षा करें (माम्) मुझको (अवतु) वह नारायण रक्षा करें और (वक्तारम्) वक्ता आचार्य को (अवतु) वह नारायण रक्षा करें (ओम्) हे सच्चिदानद परब्रह्म नारायण (शान्तिः) आध्यात्मिक विघ्नों की शान्ति हो (शान्तिः) आधिदैविक विघ्नों की शान्ति हो (शान्तिः) आधिभौतिक विघ्नों की शान्ति हो ॥१॥

विशेषार्थ—कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा के अन्तर्गत तैत्तिरीयारण्यक के सातवें आठवें और नवें प्रपाठक को "तैत्तिरीयोपनिषद्" कहते हैं। मुमुक्षुओं के प्रति माता पिता से भी अधिक कल्याण चाहने वाली श्रुति भिन्न भिन्न नामों से परब्रह्म नारायण की प्रार्थना को आदेश देती है कि—दिन और प्राण के अभिमानी मित्र देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। रात्रि और अपान के अभिमानी वरुण देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। चक्षु और सूर्य के अभिमानी अर्यमा देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। मित्र वरुण और अर्यमादेवता के विषय में शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में लिखा है—

महित्रीणामवोस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्य्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य ।

(यजु० अ० ३ मं० ३१)

दिन और प्राण के अधिष्ठात्री देवता मित्र तथा चक्षु और सूर्य के अधिष्ठात्री देवता अर्यमा तथा अपान और जलके अधिष्ठात्री देवता वरुण इन तीनों देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी कान्तिमान् सुवर्णादि द्रव्यों से युक्त तिरस्कार पाने को अशक्य पालना वा रक्षा हमको प्राप्त हो ॥३१॥ इसके अगले मंत्र में लिखा है—

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ।

(यजु० अ० ३ मं० ३३)

वे मित्र वरुण और अर्यमा देवता अदिति देवी के पुत्र हैं और वे तीनों यजमान के लिये अखण्ड तेज तथा दीर्घायु को देते हैं ॥३३॥ बल और भुजा के अभिमानी इन्द्र देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। इन्द्र के विषय में लिखा है—

इन्द्रो मह्नारोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥

(सामवे० उत्तरार्चिक० अ० १६ खं० १ मं० २)

इन्द्रदेव अपनी बल की महिमा से द्युलोक और पृथिवी को पूर्ण करता हुआ इन्द्रदेव राहु से ढके सूर्य को प्रकाशित करता हुआ इन्द्रदेव में निश्चय सब भुवन ठहरे हुए हैं अभिषूयमाण सोम इन्द्रदेव में ही नियमित होते हैं ॥२॥ वाणी और बुद्धि के अभिमानी बृहस्पति देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। देवताओं के विषय में स्पष्ट लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।

(यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, और वरुणदेव हैं ॥२०॥

त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वैं देवा देवैरवन्तु मा ॥
(यजु० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादि तीन देव ग्यारह रुद्रदेव और तैंतीस देव तथा पुरोहित बृहस्पतिदेव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥ बलिराजा से तीन डेग की याचना से सर्वराज्य के ग्रहण के अर्थ विश्वरूपधारक विस्तीर्णपाद के क्रम वाले श्रीविष्णु भगवान् हमारे लिये कल्याणप्रद हों । श्रीत्रिविक्रमावतार के विषय में लिखा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ।
(यजु० अ० ५ मं० १५)

त्रिविक्रमावतारधारी विष्णु ने इस ब्रह्माण्ड को नापा और तीन प्रकार से चरण रखा इसके धूलियुक्तपद में समस्त संसार सम्यक् अन्तर्भूत हुआ है ॥१५॥ यह मंत्र थोड़े पाठभेद से ऋग्यजुः साम इन तीनों वेदों में है । और जो मैं इसका अर्थ करता हूँ यही निरुक्तकार यास्काचार्य का भी अर्थ है ।

वामनो ह विष्णुरास । (शतप० कां० १ अ० २ ब्रा० २ कं० ५)

वामन साक्षात् विष्णु ही थे ॥५॥

मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ।
(कठोप० अ० २ व० २ श्रु० ३)

मध्य में आसीन वामन भगवान् को सब देवता उपासना करते हैं ॥३॥ परब्रह्म नारायण के लिये नमस्कार है । हे वायुदेव तेरे लिये नमस्कार है तुम निश्चय करके प्रत्यक्ष प्राणरूप से प्रतीत होने वाले ब्रह्म हो तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । वायु के विषय में लिखा है—

तस्माद्वा एते अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ।
ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥
(केनोप० ख० ४ श्रु० २)

जिस कारण से अग्निदेव तथा वायुदेव और इन्द्रदेव वे सब ही इस परब्रह्म नारायण को समीप से दर्शन द्वारा स्पर्श किये वे अग्नि वायु इन्द्र निश्चय करके इस यक्षरूपधारी परब्रह्म को सब देवताओं से पहले परब्रह्म नारायण हैं ऐसा जानते हुए तिस कारण से निश्चय करके ये तीन अग्नि वायु और इन्द्र देवता दूसरे वरुण चन्द्रमा आदि देवताओं की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ के समान हैं ॥२॥ अथवा इस अनुवाक में मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और वायु आदिक जितने शब्द हैं वे परब्रह्मनारायण के वाचक हैं क्यों कि लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वे० मण्डल० १ सूक्त० १६ मं० ४६ अ० २ अ० ३ व० २२)

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान् यम, वायु, सत् इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण कहते हैं ॥२२॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

(यजु० अ० ३२ मं० १)

वही नारायण निश्चय करके अग्नि है वही सूर्य है वही वायु है और वही निश्चय करके चन्द्रमा है ॥१॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥

(कैवल्यो० श्रु० ८)

वही नारायण ब्रह्मा है वही शिव है वही इन्द्र है वही अक्षर परमात्मा है वही निश्चय करके विष्णु है वही प्राण है वही काल है वही अग्नि है और वही चन्द्रमा है ॥८॥ और भगवद्गीता में लिखा है—

आदित्यानामहं विष्णुः। (गी० अ० १० श्लो० २१)

आदित्यों में मैं विष्णु हूं ॥२१॥

देवानामस्मि वासवः। (गी० अ० १० श्लो० २२)

देवताओं में मैं इन्द्र हूं ॥२२॥

वसूनां पावकश्चास्मि। (गी० अ० १० श्लो० २३)

वसुओं में मैं अग्नि हूं ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

(गी० अ० १० श्लो० २४)

हे अर्जुन पुरोहितों में श्रेष्ठ बृहस्पति मुझको तुम जानो ॥२४॥

वरुणो यादसामहम् । पितॄणामर्यमा चास्मि ।

(गी० अ० १० श्लो० २९)

जलचरों में मैं वरुण हूं और पितरों में मैं अर्यमा हूं ॥२९॥

पवनः पवतामस्मि । (गी० अ० १० श्लो० ३१)

गमन करने वालों में मैं वायु हूं ॥३१॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

(गी० अ० ११ श्लो० ३९)

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं ॥३९॥ आप सबको व्याप्त कर रहे हैं अतः आपही सब शब्द के वाच्य हैं ॥४०॥ इससे यह अर्थ हुआ कि—मित्र वरुण अर्यमा इन्द्र बृहस्पति आदिक देवताओं के अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण हमारे लिये कल्याणप्रद हों और त्रिविक्रमावतारधारी विष्णु भगवान हमारे लिये कल्याणप्रद हों। परब्रह्म नारायण के लिये नमस्कार करता हूं। हे वायु शब्दवाच्य परब्रह्म नारायण तेरे लिये नमस्कार है तुम्हीं समस्त प्राणियों के प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। शास्त्र और अपने कर्तव्यानुसार बुद्धि में सम्यक् रूप से निश्चित किया हुआ ऋत को मैं कहूंगा। सत्य को मैं कहूंगा। सत्य के विषय लिखा है—

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर ।

तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥

(जाबालदर्श० उ० खं० १ श्रु० ९)

हे प्रिय नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया और सुना गया और सूंघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥९॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलयाधृतम् ।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥

(विष्णुस्मृ० ८)

हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥ वह परब्रह्म नारायण जन्म मरण रूप चक्र से मुक्त विद्यार्थी की रक्षा करें। परब्रह्म को व्यापक होने से "तत्" नाम है। क्योंकि लिखा है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते ।

(ऋग्वे०अष्टक० ७ अध्या०३ वर्ग० ८मण्डल० ९ अनुवा० ४ सूक्त० ८४ मं०१)

चक्र से अदग्ध बाहुमूल अपरिपक्व जन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है ॥१॥ यह श्रुति सामवेद० पूर्वार्चिक० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२ में और कृष्णायजुर्वेद० तैत्तिरीयारण्यक० प्रपाठक० १ अनुवाक ११ मं० २ में भी है।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् ।

(केनोप० खं० ४ श्रु० ६)

वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से "तत्" और भजनीय होने से "वन" नाम वाला है इस कारण से उस परब्रह्म नारायण का तत् और वन इस नाम से उपासना करने योग्य है ॥६॥

ओम् तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(गी० अ० १७ श्लो० २३)

ओम् तत् सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है ॥२३॥

किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।

(महाभार० अनुशासनप० विष्णुसहस्रना० श्लो० ६१)

किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, और अनुत्तम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६१॥ वही परब्रह्म नारायण वक्तृत्व की शक्ति प्रदान करके वक्ता आचार्य की रक्षा करें। इस श्रुति में "अवतु मामवतु वक्तारम्" इन पदों का दो बार उच्चारण प्रथम अनुवाक की समाप्ति सूचन करता हुआ उक्त

उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। हे सच्चिदानन्द परब्रह्म नारायण। क्योंकि लिखा है—

तस्य वाचकः प्रणवः । (योग० अ० १ पा० २ सू० २७)

उस परमेश्वर का वाचक ओंकार है ॥२७॥ हे भगवन् आध्यात्मिक विघ्नों की शान्ति हो तथा आधिदैविक विघ्नों की शान्ति हो और आधिभौतिक विघ्नों की शान्ति हो। श्रीशेषावतार भगवद्रामानुजाचार्य—

वेधाद्यर्थभेदात् । (शारीरकमी० अ० ३ पा० ३ सू० २५)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की शीक्षावल्ली के पहलें अनुवाक के—

"शं नो मित्रः शं वरुणः" "ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि"

इन खण्डों को उद्धृत किये हैं। इस श्रुति का पूर्वखण्ड (अथर्ववेद० १९।९।७) में भी है। यहां शीक्षावल्ली का पहला अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥२॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(शीक्षाम्) शिक्षा को (व्याख्यास्यामः) हम भली प्रकार वर्णन करेंगे (वर्णः) क ख आदि वर्ण तथा (स्वरः) उदात्त आदि कण्ठ की ध्वनिरूप स्वर (मात्राः) ह्रस्व आदिक मात्राएं (बलम्) वर्णों के उच्चारण में प्रयत्नरूप बल (साम) मध्यमवृत्ति से वर्णों के उच्चारण की समतारूप साम और (सन्तानः) वर्णों के संयोगरूप संतान यानी संधि (इति) इस प्रकार (शीक्षाध्यायः) शिक्षा के अध्याय (उक्तः) कहा गया है ॥२॥

विशेषार्थ—अब वेद का उच्चारण करने में वर्ण स्वर आदि के विवेकरूप शिक्षा को कहेंगे। अकार आदिक वर्ण हैं। क्योंकि लिखा है—

अ इ उ ण् ॥१॥ ऋ लृ क् ॥२॥ ए ओङ् ॥३॥ ऐ औ च् ॥४॥ ह य व र ट् ॥५॥ ल ण् ॥६॥ ञ म ङ ण न म् ॥७॥

झ भ ञ् ॥८॥ घ ढ ध ष् ॥९॥ ज ब ग ड द श् ॥१०॥ ख फ छ ठ थ च ट त व् ॥११॥ क प य् ॥१२॥ शषसर ॥१३॥ हल् ॥१४॥

इन सबों के अन्त का व्यञ्जन नहीं परिगणन किया जाता है तो अ १, इ २, उ ३, ऋ ४, लृ ५, ए ६, ओ ७, ऐ ८, औ ९, ह १०, य ११, व १२, र १३, ल १४, ञ १५, म १६, ङ १७, ण १८, न १९, झ २०, भ २१, घ २२, ढ २३, ध २४, ज २५, ब २६, ग २७, ड २८, द २९, ख ३०, फ ३१, छ ३२, ठ ३३, थ ३४, च ३५, ट ३६, त ३७, क ३८, प ३९, श ४०, ष ४१, स ४२, ह ४३, ये माहेश्वर सूत्र के अनुसार वर्ण हैं। और उदात्त आदि कण्ठ की ध्वनिरूप स्वर हैं। क्योंकि लिखा है—

उच्चैरुदात्तः। पाणि० व्या० अ० १ पा० २ सू० २९)

उच्च स्वर से जो उच्चारण किया जाता है वह उदात्तस्वर है ॥२९॥

नीचैरनुदात्तः। (पा० व्या० अ० १ पा० २ सू० ३०)

नीच स्वर से जो उच्चारण किया जाता है वह अनुदात्त स्वर है ॥३०॥

समाहारः स्वरितः। (पा० व्या० अ० १ पा० २ सू० ३१)

मध्यम स्वर से जो उच्चारण किया जाता है वह स्वरित स्वर है ॥३१॥ ह्रस्व दीर्घ आदिक मात्रा हैं। क्योंकि लिखा है—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥
(पाणिनीयशि० श्लो० ११)

उदात्त तथा अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं और काल के नियम से अच् में ह्रस्व तथा दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्रा हैं ॥११॥

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
(पाणि० शि० श्लो० ५२)

स्वर या वर्ण से हीन मंत्र ठीक ठीक प्रयोग न होने के कारण अभीष्ट अर्थ का वाचक नहीं होता है। इतना ही नहीं—वह वचनरूपी वज्र यजमान को मारता है। जैसे "इन्द्रशत्रु" शब्द में स्वर की अशुद्धि हो जाने के कारण वृत्रासुर स्वयं ही इन्द्र के हाथ से मारा गया ॥५२॥

हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम् ।
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥

(पा० शि० श्लो० ५४)

जो द्विज हस्तस्वर से रहित स्वर और वर्ण से हीन वेद को पढ़ता है वह ऋग्वेद तथा यजुर्वेद और सामवेद से जला हुआ वियोनिको प्राप्त करता है ॥५४॥

स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत् ॥

दन्त्य सकार के तालु शकार उच्चारण न हो जाय नहीं तो अर्थ में बहुत अन्तर हो जाता है। जैसे दन्त्य सकार "स्वजन" में उच्चारण करने से अपना जन अर्थ होता है और तालु शकार उच्चारण करने से "श्वजन" कुत्ता का जन अर्थ होता है। और दन्त्य सकार "सकल" मे उच्चारण करने से संपूर्ण अर्थ होता है तथा तालु शकार उच्चारण करने से "शकल" खण्ड अर्थ होता है। और दन्त्य सकार "सकृत्" में उच्चारण करने से एक बार अर्थ होता है तथा तालु शकार उच्चारण करने से "शकृत्" विष्ठा यानी मैला अर्थ होता है। और वर्णों के उच्चारण करने से कण्ठ आदिक स्थानों को भी पूरा पूरा ध्यान रखकर बोलना चाहिये।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । (पा० व्या० अ० १ पा० १ सू० ९)

इस सूत्र के ऊपर सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है—

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । इचुयशानां तालु । ऋटुरषाणां मूर्धा । लृतुलसानां दन्ताः । उपूपध्मानीयानामोष्ठौ । ञमङणनानां नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकानुस्वारस्य ।

(सिद्धान्तकौ० संज्ञाप्रकरण)

अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्जनीय के कण्ठ स्थान है। इ, च, छ, ज, झ, ञ और श के तालु स्थान है। ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष के मूर्धा स्थान है। लृ, त, थ, द, ध, न, ल और स के दन्तस्थान है। उ, प, फ, ब, भ, म और उपध्मानीय के ओष्ठस्थान है। ङ के कण्ठ और नासिका स्थान है। ञ के तालु और नासिका स्थान है। ण के मूर्धा

और नासिका स्थान है। न के दन्त और नासिका स्थान है। म के ओष्ठ और नासिका स्थान है। ए और ऐ के कण्ठ तथा तालु स्थान हैं। ओ और औ के कण्ठ तथा ओष्ठ स्थान है। व के दन्त और ओष्ठ स्थान है। जिह्वामूलीय के जिह्वामूल स्थान है। अनुस्वार के नासिका स्थान है। वर्णों के उच्चारण में उनकी ध्वनि को व्यक्त करने में जो प्रयास करना पड़ता है वही बल या यत्न कहलाता है। क्योंकि लिखा है—

यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतेषद्विवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतं स्वराणाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्यप्रयोगे संवृतम्॥ कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तस्थाः। शषसहा ऊष्माणः। अचः स्वराः॥

यत्न यानी बल दो प्रकार के होते हैं—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य है। महाभाष्य के सिद्धान्तानुसार स्पृष्ट १, ईषत् स्पृष्ट २, विवृत ३, ईषद् विवृत ४ और संवृत ५ ये पांच प्रकार के आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद माने गये हैं। उसमें क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, इन स्पर्शसंज्ञक वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न होता है। और य, र, ल, व इन अन्तस्थ संज्ञक वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है। तथा अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ इन स्वर संज्ञक वर्णों का विवृत प्रयत्न होता है। और श, ष, स, ह इन ऊष्मा संज्ञक वर्णों का ईषद्विवृतप्रयत्न होता है। तथा ह्रस्व अकार के प्रयोग में संवृतप्रयत्न होता है। क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म इन वर्णों को स्पर्श कहते हैं। और य, र, ल, व इन वर्णों को अन्तस्थ कहते हैं। तथा श, ष, स, ह इन वर्णों को ऊष्मा कहते हैं। और अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ इन वर्णों को स्वर कहते हैं।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति॥

खयां यमाः खयः ᳵक ᳵपौ विसर्गः शर एव च ।
एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते ॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः ।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः ॥

(सिद्धान्तकौमु० संज्ञाप्रक०)

विवार १, संवार २, श्वास ३, नाद ४, घोष ५, अघोष ६, अल्पप्राण ७, महाप्राण ८, उदात्त ९, अनुदात्त १० और स्वरित ११ ये ग्यारह प्रकार के बाह्यप्रयत्न के भेद माने गये हैं। उसमें ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स इन वर्णों के विवार श्वास और अघोष प्रयत्न है। और अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द इन वर्णों के संवार नाद और घोष प्रयत्न हैं। और क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, व, र, ल इन वर्णों का अल्प प्राणप्रयत्न भी हैं। तथा ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह इन वर्णों का महाप्राण प्रयत्न भी है। तथा अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ इन वर्णों का महाप्राण उदात्त अनुदात्त और स्वरित प्रयत्न भी है। तथा मध्यमवृत्ति से वर्णों के उच्चारण की समतारूप साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। वर्णों के संयोग रूप संतान यानी सन्धि। व्याकरण के अनुसार "अच् संधि १, प्रकृति-भावसंधि २, हल्संधि ३, विसर्गसंधि ४, तथा स्वादि संधि ५" ये पांच संधि हैं। वर्णों के उच्चारण में पूर्वोक्त नियमों का पालन अत्यावश्यक है। इस प्रकार शिक्षा का अध्याय कहा गया है। शिक्षा के विषय में लिखा है—

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य। (पा० शि० श्लो० ४२)

वेद का नाक शिक्षा है ॥४२॥ ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक यहां मैं नहीं लिखता हूँ। जिसे अधिक जानना हो वह "याज्ञवल्क्य शिक्षा" और "पाणिनीय शिक्षा" को अवलोकन करे यहां शीक्षावल्ली का दूसरा अनुवाक समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः

संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः । वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ।।१।।

अन्वयार्थ—(नौ) हम आचार्य और शिष्य दोनों का (यशः) यश (सह) एक साथ प्राप्त हो (नौ) हम आचार्य और शिष्य दोनों का (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मतेज (सह) एक साथ प्राप्त हो (अथ) इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करने के अनन्तर (अतः) यहां से (संहितायाः) संहिता के (उपनिषदम्) रहस्य को (पञ्चसु) पांच (अधिकरणेषु) अधिकरणों में (व्याख्यास्यामः) विशेषरूप से हम वर्णन करेंगे वे पांच अधो लिखित हैं (अधिलोकम्) लोकों के विषय में (अधिज्यौतिषम्) ज्योतियों के विषय में (अधिविद्यम्) विद्या के विषय में (अधिप्रजम्) प्रजा के विषय में और (अध्यात्मम्) आत्मा यानी शरीर के विषय में। (ताः) इन सबको (महासंहिताः) महासंहिता (इति) इस नाम से (आचक्षते) पण्डितजन कहते हैं (अथ) उनमें से अब यह पहली (अधिलोकम्) लोक विषय संहिता है (पृथिवी) पृथिवी (पूर्वरूपम्) पूर्व वर्ण है (द्यौः) स्वर्गलोक (उत्तररूपम्) उत्तर वर्ण है (आकाशः) आकाश (संधिः) संधि-मेल से बना हुआ रूप है तथा (वायुः) वायु (संधानम्) दोनों को संयोग कराने वाला है (इति) इस प्रकार (अधिलोकम्) लोक विषयक संहिता की उपासना विधि पूरी हुई ।।१।।

विशेषार्थ—अब पांच प्रकार की संहिता संबन्धिनी उपासना कही जाती है। लोक में हम दोनों गुरु शिष्यों का यश एक साथ प्राप्त हो। और हम दोनों गुरु शिष्यों का ब्रह्म तेज भी एक साथ ही प्राप्त हो। इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करने के अनन्तर अब यहां से संहिता की उपासना को पांच अधिकरणों में विशेष रूप से हम वर्णन करेंगे। संहिता के विषय में लिखा है—

परः संनिकर्षः संहिता । (पा० व्या० अ० १ पा० ४ सू० १०९)

वर्णों के अत्यन्त संनिधि को संहिता कहते हैं ॥१०९॥ पांच अधिकरण ये अधो लिखित हैं। लोकों के विषय में १, तथा ज्योतियों के विषय में २, और विद्या के विषय में ३, तथा प्रजा के विषय में ४, और शरीर के विषय में ५, इन पूर्वोक्त पांचों को पंडितजन महासंहिता इस नाम से कहते हैं। अब सबसे पहले लोकों के विषय में उपासना को कहते हैं। पृथिवी लोक संहिता का पूर्ववर्ण है और स्वर्गलोक उत्तर वर्ण है तथा आकाश संधि यानी दोनों के मेल से बना हुआ रूप है और वायु दोनों को संयोग कराने वाला है इस प्रकार लोक विषयक संहिता की उपासना विधि यहां पूर्ण समाप्त हो गयी ॥१॥

अथाधिज्यौतिषम् अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) लोक संबन्धी उपासना कहने के बाद अब (अधिज्यौतिषम्) ज्योति विषयक संहिता का वर्णन करते हैं (अग्निः) अग्नि (पूर्वरूपम्) पूर्व वर्ण है (आदित्यः) सूर्य (उत्तररूपः) पर वर्ण है (आपः) जल (संधिः) संधि यानी दोनों के मेल से बना हुआ रूप है तथा (वैद्युतः) बिजली (संधानम्) दोनों को संयोग कराने वाला है (इति) इस प्रकार (अधिज्यौतिषम्) ज्योतिविषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥२॥

विशेषार्थ—लोक विषयक संहिता की उपासना विधि कहने के अनन्तर अब ज्योति विषयक संहिता की उपासना विधि वर्णन करते हैं। अग्नि संहिता के पूर्व वर्ण है और सूर्य उत्तरवर्ण है तथा जल या मेघ संधि यानी दोनों के मेल से बना हुआ रूप है और बिजली दोनों को संयोग कराने वाला है इस प्रकार ज्योति विषयक संहिता की उपासना विधि यहां समाप्त हो गयी ॥२॥

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्यासंधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(अथ) ज्योति संबन्धी उपासना कहने के बाद अब (अधिविद्यम्) विद्याविषयक संहिता की उपासना का वर्णन करते हैं (आचार्यः) आचार्य (पूर्वरूपम्) पहला वर्ण है (अन्तेवासी) समीप में निवास करने वाला शिष्य (उत्तररूपम्) दूसरा वर्ण है (विद्या) दोनों के मिलने से उत्पन्न विद्या (संधिः) संधि यानी दोनों के मेल से बना हुआ रूप है (प्रवचनम्) आचार्य के द्वारा दिया हुआ उपदेश (संधानम्) दोनों को संयोग कराने वाला है (इति) इस प्रकार (अधिविद्यम्) विद्या विषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥३॥

विशेषार्थ—ज्योति संबन्धी उपासना कहने के अनन्तर अब विद्या विषयक संहिता की उपासना का वर्णन करते हैं—आचार्य पूर्ववर्ण है। आचार्य का लक्षण लिखा है—

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥ (अद्वयतारकोपनि०)

जो वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और मत्सर रहित हो तथा योग को जानने वाला हो और योग निष्ठ हो तथा सर्वदा योगात्मक हो और पवित्र हो तथा अपने गुरु का भक्त हो और पुरुष को विशेषरूप से जानने वाला हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं। और गु कहते हैं अन्धकार को तथा रु कहते हैं प्रकाश को तो जो अविद्यारूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं।

शास्त्राञ्जनेन योऽज्ञानतिमिरं विनिपातयेत्।
शास्त्रं पापहरं पुण्यं पवित्रं भोगमोक्षदम्।
शान्तिदं च सहार्थं च वक्ति यः स जगद्गुरुः॥

(जयाख्यसंहिता० पटल० १ श्लो० ९८)

जो शास्त्ररूप अञ्जन से अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करता है। और पाप को हरने वाला तथा भोग और मोक्ष को देने वाला अत्यन्त पवित्र शास्त्र को तथा शान्ति देने वाला महान् अर्थ को जो पुरुष कहता है वही जगत् का गुरु है ॥६५॥

यः समः सर्वभूतेषु विरागी वीतमत्सरः ।
जितेन्द्रियः शुचिर्दक्षः समग्रावयवान्वितः ॥
कर्मणा मनसा वाचा भीतेष्वभयदः सदा ।
संबुद्धिपदसंप्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः ॥८॥
पञ्चकालरतश्चैव पञ्चरात्रार्थवित्तथा ।
विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं चानेकभेदगम् ॥९॥
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसर्पितान् ॥१०॥

(जया० सं० प० १६ श्लो० ७-१०)

जो सब भूतों में सम हो तथा विराग वाला हो और मत्सर रहित हो तथा सब इन्द्रियों को जीता हो और पवित्र हो तथा दक्ष हो और सब शरीर के अवयवों से युक्त हो ॥७॥ तथा सर्वदा कर्म मन और वाणी से भीतों के विषय में अभय देने वाला हो और भगवन्मय ज्ञान को भलीभांति प्राप्त कर लिया हो ॥८॥ और पचकाल निरत हो तथा पञ्चरात्र के अर्थ को जानने वाला हो तथा अनेक भेद प्राप्त करने वाला एक श्रीविष्णु भगवान को जानने वाला ॥९॥ ज्ञानी संपूर्ण पृथिवी को शिष्य करे फिर पास में आये हुवे को तो अवश्य ही शिष्य करना चाहिये ॥१०॥ यहां भी आदि के तीन श्लोकों में आचार्य का लक्षण ही कहा गया है।

वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः ।
ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः ॥१॥
अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम् ।
अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः ॥२॥
दयावान्सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये ।
पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षकश्चाबुद्धिषु ॥३॥

तपः संतोषशौचाढ्योयोगस्वाध्यायतत्परः ।
पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तंत्रान्तरविचक्षणः ॥४॥
तंत्राणामन्तरज्ञश्च मंत्राणां कृत्यतत्त्ववित् ।
पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः ॥५॥
सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यंत्रविचक्षणः ।
कुण्डमण्डलभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः ॥६॥
अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
सदन्वयायसंभूत आचार्यो नाम वैष्णवः ॥७॥

(अहिर्बुध्न्यसंहि० अ० २० श्लो० १-७)

जो वेद तथा वेदान्त के तत्त्व को जानने वाला हो तथा विद्या के स्थान का पण्डित हो और ऊहा पोह के विधान को जानने वाला हो तथा देवता और पितरों की क्रियाओं में तत्पर हो ॥१॥ तथा किसी के अपवाद को नहीं कहने वाला हो और पापकर्मों के नहीं करने वाला हो तथा दूसरे के उत्कर्ष में मत्सर नहीं करने वाला हो और दूसरे के दुःख का उदय होने पर दयायुक्त हो ॥२॥ और सब प्राणियों में दया वाला हो तथा दूसरे के सुख के उदय होने पर प्रसन्न हो और पुण्य में मोद से युक्त हो तथा कुबुद्धियों में उपेक्षा वाला हो ॥३॥ और तपस्या संतोष तथा शौच से युक्त हो तथा योगाभ्यास और स्वाध्याय में तत्पर हो तथा पांचरात्र के विधान को जानने वाला हो और अन्य तंत्रों के पण्डित हो ॥४॥ तथा सब तंत्रों के अन्तर को जानने वाला हो और मंत्रों के कृत्य के तत्त्व को जानने वाला हो तथा पद वाक्य और प्रमाणों के ज्ञाता हो और कारणवाद में विचक्षण हो ॥५॥ तथा सामान्य अपवाद के जानने वाला हो और यंत्र के विद्वान् हो तथा कुण्ड और मण्डल के भेद को जानने वाला हो और क्रिया कराने में निपुण हो ॥६॥ तथा अध्यात्मज्ञान में निपुण हो और शान्त हो तथा दान्त हो और जितेन्द्रिय हो तथा सुन्दर वंश में जन्म लिया हो और वैष्णव हो तो इन लक्षणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥७॥

प्रोच्चारयति वै सम्यगुपकारेण वै विना ।

कृपया परयाविष्टो यो विद्वान् स गुरुः स्मृतः ॥

(पौष्करसंहि० अध्या० १ श्लो० २८)

परम करुणा से युक्त जो विद्वान् उपकार के बिना निश्चय करके भलीभांति संसार सागर से उद्धार करता है वही गुरु कहा गया है ॥२८॥

प्रपित्सुर्मंत्रनिरतं प्राज्ञं हितपरं शुचिम् ।

प्रशान्तं नियतं वृत्तौ भजेद्द्विजवरं गुरुम् ॥

(भारद्वाज संहिता० अध्याय १ श्लो० ३८)

प्रपत्ति की इच्छा करने वाला प्राणी मंत्रार्थ में सदा निरत और मंत्र के गूढ अर्थों का अभिज्ञ शिष्यों के हित कामना वाला अशुद्धियों से रहित पवित्र रहने वाला इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला शान्त स्वभाव युक्त विहित आचार आदिक वृत्तियों में नियत और ब्राह्मण कुलोत्पन्न गुरु की सेवा करे ॥३८॥

स्वयं वा भक्तिसम्पन्नो ज्ञानवैराग्यभूषितः ।

स्वकर्मनिरतो नित्यमर्हत्याचार्यतां द्विजः ॥

(भा० सं० अ० १ श्लो० ४०)

अथवा स्वयं भक्ति संपन्न हो और ज्ञान तथा वैराग्य से भूषित हो नित्य ही अपने कर्म में निरत हो तो वह ब्राह्मण आचार्य हो सकता है ॥४०॥

विश्वात्मन्यात्मनो न्यासं धियावृत्तिं च शाश्वतीम् ।

मंत्रेणोच्चारयेद्यस्तु स आचार्यः परोमतः ॥

(भा० सं० अ० १ श्लो० ४५)

जो ब्राह्मण भगवान विश्वंभर के विषय में बुद्धि से मंत्रोच्चारण करता हुआ अपने शिष्यों का आत्म समर्पण कराता है और अपनी वृत्ति का सदा पालन करता है वही श्रेष्ठ आचार्य कहा गया है ॥४५॥

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

(मुण्डको० मु० १ खं० २ श्रु० १२)

वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिए हुए उस परब्रह्म नारायण को जानने के लिए वेद वेदान्त को भलीभांति जानने वाले और ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले गुरु के शरण में निश्चय करके विनय पूर्वक जाय ॥१२॥

सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य ।

(नारद परिव्राजको० उपदेश० २)

सत्सम्प्रदाय में स्थित श्रद्धा वाले अच्छे कुल में उत्पन्न वेदपाठी शास्त्र वात्सल्य से युक्त दया आदि गुण वाला अकुटिल सद्गुरु का आश्रयण करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करें ॥२॥

आचार्य आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा । (निरुक्त० नैघण्टुककां० अ० १ पा० २ खं० २)

जो आचार को ग्रहण कराता है और शास्त्र के अर्थों को एकत्रित करता है तथा ज्ञान को संपादन करता है वही आचार्य है ॥२॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

(मनुस्मृ० अ० २ श्लो० १४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढाता है उसको आचार्य कहते हैं ॥१४०॥

आचार्यं संश्रयेत्पूर्वमनघ्नं च वैष्णवम् ।
शुद्धसत्त्वगुणोपेतं नवेज्याकर्मकारकम् ॥

(वृद्धहारीतस्मृ० अध्याय २ श्लो० ४)

सत्सम्प्रदायसंयुक्तं मंत्ररत्नार्थकोविदम् ।
ज्ञानवैराग्यसंपन्नं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥५॥
शासितारं सदाचारैः सर्वं धर्मविदांवरम् ।
महाभागवतं विप्रं सदाचारनिषेविणम् ॥६॥
आलोक्य सर्वशास्त्राणि पुराणानि च वैष्णवः ।
सद्धर्माचरवस्तु स आचार्य इतीरितः ॥७॥

पहिले अनवद्य वैष्णव शुद्ध सत्त्वगुणों से युक्त नवेज्या कर्म करने वाले आचार्य का आश्रयण करे ॥४॥

सत्संप्रदाय से युक्त और द्वयमंत्र के अर्थ को जानने वाले ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त वेद और वेदाङ्ग को पार किये हुए ॥५॥ सदाचारों से शिक्षा देने वाले संपूर्ण धर्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ महा भागवत सदाचारसेवी ब्राह्मण को आचार्य के लिये आश्रयण करे ॥६॥ जो वैष्णव संपूर्ण शास्त्र और पुराणों को देखकर भगवत् के लिये आचरण करता है उसको आचार्य कहते हैं ॥७॥ नवेज्या के विषय में स्पष्ट बृद्धहारीतस्मृति में लिखा है।

अर्चनं मन्त्रपठनं ध्यानं होमश्च वन्दनम्।
स्तुतिर्योगः समाधिश्च तथा मन्त्रार्थचिन्तनम् ॥

(वृ० हा० स्मृ० अध्या० ११ श्लो० १५०)

एवं नवविधा प्रोक्ता चेज्या वैष्णवसत्तमैः ॥१५१॥

श्रीमन्नारायण के अर्चन करना १, मंत्र पढ़ना २, ध्यान करना ३, हवन करना ४, वन्दना करना ५, स्तुति करना ६, योगाभ्यास करना ७, समाधि करना ८ और मंत्रार्थ का अनुसंधान करना ९ ॥१५०॥

इस प्रकार से नौ प्रकार के यज्ञ वैष्णव सत्तमों ने कहा है ॥१५१॥

कृष्णसारचरे देशेउत्पन्नश्च शुभाकृतिः।
शौचाचाररतो नित्यं पाखण्डकुलनिस्पृहः ॥

(मत्स्यपु० अ० २६५ श्लो० २)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
ऊहापोहार्थतत्त्वज्ञो वास्तुशास्त्रपरायणः ॥३॥
सर्वावयवसम्पूर्णो वेदमंत्र विशारदः।
पुराणवेत्ता तत्त्वज्ञो लोभमोह विवर्जितः ॥४॥
आचार्यश्च भवेन्नित्यं सर्वदोषविवर्जितः ॥५॥

जो कृष्णसार मृग के विचरने वाला देश भारतवर्ष में जन्म लिया हो और सुन्दर आकार वाला हो तथा शौचाचार में निरत हो और सर्वदा पाखण्ड कुल की स्पृहा से रहित हो ॥२॥ तथा शत्रु मित्र और मान अपमान

में एक समान हो और ऊहापोह के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला हो तथा वास्तुशास्त्र परायण हो ॥३॥ सब देह के अङ्गों से संपन्न हो और वैदिक मंत्रों का विशारद हो तथा पुराणों को जानने वाला हो और तत्त्वत्रय को जानने वाला हो तथा लोभ मोह से रहित हो ॥४॥ और सर्वदा सब दोषों से हीन हो तो वह आचार्य हो सकता है ॥५॥

स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेनचोच्यते ॥
(ब्रह्माण्डपु० पूर्वभाग० आनुषंगिकपाद २ अध्या० ३२ श्लो० ३२)

स्वयं जो आचरण करता है और आचरण करवाता है तथा शास्त्रों को एकत्रित करता है उसे आचार्य कहते हैं ॥३२॥

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।
मंत्रज्ञो मंत्रभक्तश्च सदा मंत्रात्मकः शुचिः ॥
(पाद्मपु० उत्तर खं० ६ अध्या० २२३ श्लो० ५०)

सत्सम्प्रदाय संयुक्तो ब्रह्मविद्या विशारदः ।
अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजकः ॥५१॥
ब्राह्मणो वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः ।
सद्वृत्तोपासिता चैव मुमुक्षुः परमार्थवित् ॥५२॥
एवमादिगुणोपेत आचार्यः स उदाहृतः ॥५३॥

आचार्य वेद पढ़ा हो तथा विष्णु का भक्त हो और विना मत्सर के हो तथा मंत्र जानने वाला हो और मंत्रो का भक्त हो तथा सर्वदा मंत्र के अधीन रहता हो और पवित्र हो ॥५०॥ सत्संप्रदाय से युक्त हो और ब्रह्म-विद्या में निपुण हो तथा अनन्योपाय हो और अनन्य प्रयोजक हो ॥५१॥ और राग रहित ब्राह्मण हो तथा क्रोध और लोभ से रहित हो तथा शुद्ध आचार वाला हो और मोक्ष की इच्छा वाला हो तथा श्रेष्ठ तत्त्व को जानने वाला हो ॥५२॥ इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त को आचार्य कहते हैं ॥५३॥

यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः ।
स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ॥

(पाद्मपु० खं० ६ अ० २२६ श्लो० ४)

संसार के बन्धन को विनाश करने वाला जो श्रीवैष्णव द्वयमंत्र को अच्छे प्रकार से पढ़ाता है उसको आचार्य जानना चाहिये ॥४॥

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः ।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥

(शारदातिल० २ श्लो० १४२)

परोपकारनिरतो जपपूजादितत्परः ।
अमोघवचनः शान्तो वेदवेदार्थपारगः ॥१४३॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः ।
इत्यादिगुणसम्पन्नो गुरुरागमसम्मतः ॥१४४॥

शुद्ध माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हो तथा शुद्ध भाव वाला जितेन्द्रिय हो और संपूर्ण आगमों के सार को जानने वाला हो तथा समस्त शास्त्र के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला हो ॥१४२॥ और परोपकार में निरत हो तथा जप पूजा आदिक में तत्पर हो और व्यर्थ भाषण करने वाला न हो तथा शान्त हो और वेद वेदार्थ का पारगामी हो ॥१४३॥ और जोग मार्ग का अनुसंधान करने वाला हो तथा नारायणदेव को हृदय में प्राप्त करने वाला हो तो पूर्वोक्त गुणों से युक्त आगम संमत गुरु कहा जाता है ॥१४४॥

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्या समेतम् ।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ॥

(न्यासविंशति० श्लो० १)

श्रीमन्नारायण के शरणागत होने वाला पुरुष, सत्संप्रदाय में निष्पन्न स्थिर बुद्धि वाला पापरहित वेदपाठी परब्रह्म को साक्षात्कार करने

वाला सत्वगुण में स्थित सत्य भाषण करने वाला समय नियत होने से सर्वदा साधु की वृत्ति से युक्त रहने वाला दम्भ पाखण्ड असूया आदिक से रहित विषयगणों को जीतने वाला दीर्घवन्धु वाला दयालु सन्मार्ग से स्खलितजनों के शासक और अपना तथा दूसरे के हित करने में तत्पर आचार्य को प्राप्त करने की इच्छा करे ॥१॥ समीप में निवास करने वाला शिष्य परवर्ण है। शिष्य का लक्षण लिखा है—

विद्याश्रु तमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

(शाट्यायनीयो० श्रु० ३४)

विद्या अध्ययन किया हो प्रमादरहित हो बुद्धिमान् हो और ब्रह्मचर्य से युक्त हो तो शिष्य कहा सकता है ॥३४॥

उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।

(मुण्डकोप० मु० १ खं० २ श्रु० १३)

भले प्रकार से परम शान्त चित्त वाला बाह्येन्द्रियों को नियम न करने वाला शरण में आया हुआ ॥१३॥ ये पूर्वोक्त श्रुति में प्रतिपादन किया हुआ शिष्य का लक्षण है—

परीक्ष्य तन्नियुक्तांस्तु ब्रह्मचर्यस्थितान् शुचीन् ।
दक्षान् जितेन्द्रियान्धीरान्गुरुदेवाग्नितत्परान् ॥

(जयाख्यसंहि० पटल १६ श्लो० ५१)

वर्णाश्रमगुणोपेतान्विनीतान् श्रद्धयान्वितान् ।
शिष्यांश्चभगवद्भक्तान् संसारानलखेदितान् ॥५२॥
दीक्षयेद्विधिना मंत्री मंत्रदीक्षादितः क्रमात् ॥५३॥

भलीभांति परीक्षा करके उन नियुक्त ब्रह्मचर्य में स्थित पवित्र दक्ष इन्द्रिय दमन करने वाले धीर और गुरुदेव तथा अग्नि की परिचर्या करने में तत्पर ॥५१॥ वर्णाश्रम के गुणों से युक्त अत्यन्त नम्र श्रद्धा से युक्त और संसार रूप अग्नि से खिन्न भगवान् के भक्त शिष्यों को ॥५२॥ मंत्र वाला आचार्य पंचरात्र के विधि के द्वारा मंत्रदीक्षा आदि के क्रम से दीक्षा दे ॥५३॥

आचार्यमाश्रयेच्छिष्यः श्रोत्रियोऽर्थी समाहितः ।
विनयव्रतशाली च द्विजातिः संस्कृतः शुचिः ॥
(अहिर्बुध्न्यसंहि० अध्या० २० श्लो० ८)

ब्रह्मचर्यपरो धीमान्स्वदारनिरतोऽथवा ।
अच्छलेन यथावत्स्वकृताकृतनिवेदकः ॥ ९ ॥
संसाराङ्गारमध्यस्थः पच्यमानः स्वकर्मभिः ।
भवन्तं शरणं प्राप्तः उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥१०॥
इत्येवं प्रतिपद्येत शिष्य आचार्यसत्तमम् ॥११॥

वेद पढ़ने वाला अर्थी एकाग्रचित्त वाला और अत्यन्त नम्र तथा एकादशी आदि व्रत करने के स्वभाव वाला शिष्य आचार्य को आश्रयण करे वह शिष्य द्विजाति हो और गर्भाधानादि संस्कारों से संस्कृत हो तथा अत्यन्त पवित्र हो ॥८॥ ब्रह्मचर्य पालन में तत्पर बुद्धिमान हो अथवा अपनी स्त्री से ऋतु काल में मैथुन करने वाला और बिना कपट के अपने किये हुए तथा नहीं किये हुए कामों को यथार्थ निवेदन करने वाला हो ॥९॥ और संसार रूप अङ्गार के मध्य में स्थित अपने कर्मों से पकता हुआ मैं आपके शरण में आया हूं इससे हे भगवन् गुरुदेव शरणागत मेरे लिये परब्रह्म नारायण को स्मरण करा दो ॥१०॥ इस प्रकार विज्ञापन करके शिष्य सदाचार्य की प्रपत्ति करे ॥११॥

शान्तोऽनसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थार्थात्मवृत्तिकः ।
शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तोमनीषिभिः ॥
(भारद्वाजसंहि० अध्या० १ श्लो० ४६)

अचलित शान्त चित्त वाला असूयारहित अनिन्दक श्रद्धावान आस्तिक धन और अपना व्यापार अपने गुरु के चरण कमलों म अर्पण करने वाला शुद्ध आचार्य के संबन्ध में सदा एकान्त में आचार्य के हित की प्रिय बातें निवेदन करने वाला निषिद्ध विषयों की ओर से विरक्त और विहित विषयों की ओर भी उदासीन रूप से रहने वाला और प्रपत्ति की वृत्तियों के अतिरिक्त लौकिक व्यापार से रिक्त शुद्ध जो हो उसी को बुद्धिमान लोग शिष्य कहे हैं ॥४६॥

शरीरं वसु विज्ञानं वासः कर्म गुणानसून् ।
गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः ॥

(प्रपन्नामृ० अ० २० श्लो० ३०)

शरीर द्रव्य विज्ञान वस्त्र कर्म गुण और प्राणों को जो गुरु के लिए धारण करता है वही शिष्य है अन्य शिष्य नहीं है ॥३०॥

सद्बुद्धिः साधुसेवी समुचितचरितस्तत्त्वबोधाभिलाषी
शुश्रूषुस्त्यक्तमानः प्रणिपतनपरः प्रश्नकालप्रतीक्षः ।
शान्तोदान्तोऽनसूयुः शरणमुपगतः शास्त्रविश्वासशाली
शिष्यः प्राप्तः परीक्षां कृतविदभिमतस्तत्त्वतः शिक्षणीयः ॥

(न्यासविंश०)

सुन्दर बुद्धि युक्त साधुसेवी शास्त्रानुसार उचित आचरण करने वाला तत्त्वबोध की अभिलाषा करने वाला आचार्य की सूक्ति सुनने की इच्छा वाला मानरहित साष्टाङ्ग प्रणिपात में तत्पर प्रश्न के योग्य समय की प्रतीक्षा करने वाला शान्त दान्त असूया रहित शरण में आया हुआ शास्त्र में विश्वास करने वाला परीक्षा करने से पास भया हुआ किया हुआ कर्म को जानने वाला अभिमत शिष्य यथार्थ रूप से शिक्षा करने योग्य है। आचार्य और शिष्य के मिलने से उत्पन्न विद्या संधि यानी दोनों के मेल से बना हुआ रूप है। विद्या के विषय में लिखा है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये । परा चैवापरा च ॥

(मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० ४)

दो विद्या यानी ज्ञान जानने योग्य उपादेय भूत हैं। पर यानी अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान और अपर यानी परोक्ष शास्त्रजन्य ज्ञान ॥४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राणीति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

उन योगजन्य ज्ञान और शास्त्रजन्य ज्ञान दोनों में से अपरोक्ष,

यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, इतिहास, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये सब तो परोक्ष ज्ञान है और जिस अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान से वह अविनाशी परब्रह्म यथार्थ जाना जा सकता है वह अपरोक्ष योगजन्य ज्ञान है ॥५॥

पुराणं न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञ० स्मृ० अ० १ श्लो० ३)

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छवों अङ्गों सहित चारों वेद ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं ॥३॥ आचार्य के द्वारा दिया हुआ उपदेश दोनों को संयोग कराने वाला है। इस प्रकार विद्या विषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥३॥

अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननं संधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(अथ) विद्या संबन्धी उपासना कहने के अनन्तर अब (अधिप्रजम्) सन्तति विषयक संहिता की उपासना वर्णन करते हैं (माता) माता (पूर्वरूपम्) पूर्ववर्ण है (पिता) पिता (उत्तररूपम्) परवर्ण है (प्रजा) उन दोनों के मेल से उत्पन्न सन्तान (संधिः) संधि यानी संयोग स्थान है तथा (प्रजननम्) संतानोत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करना (संधानम्) दोनों को संयोग कराने वाला है (इति) इस प्रकार (अधिप्रजम्) प्रजा विषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥४॥

विशेषार्थ—विद्या संबन्धी उपासना कहने के बाद अब सन्तान विषयक संहिता की उपासना प्रतिपादन करते हैं कि—माता पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है तथा माता पिता के संयोग से उत्पन्न सन्तान संधि यानी संयोग स्थान है और माता तथा पिता का जो ऋतुकाल में शास्त्रविधि के अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्ति के उद्देश्य से सहवास करना है यही संधान यानी माता पिता को संयोग कराने वाला है। इस प्रकार प्रजा विषयक संहिता की उपासना प्रतिपादन की गई है ॥४॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्यध्यात्मम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) प्रजा संबन्धी उपासना कहने के अनन्तर अब (अध्यात्मम्) शरीर विषयक संहिता की उपासना वर्णन करते हैं (अधरा हनुः) नीचे का ओठ (पूर्वरूपम्) पूर्ववर्ण है (उत्तरा हनुः) ऊपर का ओठ (उत्तररूपम्) परवर्ण है (वाक्) वाणी (संधिः) संधि यानी संयोग स्थान है तथा (जिह्वा) जीभ (संधानम्) दोनों को संयोग कराने में कारण है (इति) इस प्रकार (अध्यात्मम्) शरीर विषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥५॥

विशेषार्थ—प्रजा संबन्धी उपासना कहने के अनन्तर अब शरीर विषयक संहिता की उपासना वर्णन करते हैं। नीचे के ओठ से लेकर ठोडी तक का भाग पूर्ववर्ण है और ऊपर के ओठ से लेकर नासिका तक का भाग परवर्ण है तथा दोनों के मिलने से उत्पन्न वाणी संधि यानी संयोग स्थान है और जीभ दोनों को संयोग कराने में कारण है इस प्रकार शरीर विषयक संहिता की उपासना कही गयी ॥५॥

इतीमा महासंहिता य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ॥६॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (इमाः) ये पूर्वोक्त पांच (महासंहिताः) महासंहिताएँ कही गयी हैं (यः) जो पुरुष (एवम्) इस प्रकार (एताः) इन (व्याख्याताः) ऊपर व्याख्यान की हुई (महासंहिताः) महासंहिताओं को (वेद) जानता है वह पुरुष (प्रजया) संतान से (पशुभिः गौ आदि पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (अन्नाद्येन) अन्न धन आदि भोग्य पदार्थों से (सुवर्गेण) स्वर्ग (लोकेन) लोक से (संधीयते) संयुक्त हो जाता है ॥६॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में पांच प्रकार से कही हुई संहिताओं की

उपासनाओं के यथार्थ ज्ञान का फल बताया गया है। इसको जानने वाला अपनी इच्छा के अनुकूल संतान प्राप्त कर लेता है। और अपनी इच्छा के अनुकूल नाना प्रकार के पशुओं को प्राप्त कर लेता है। पशु के विषय में लिखा है—

गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः।
एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे॥

(विष्णुपु० अंश० १ अध्या० ५. श्लो० ५१)

श्वापदा द्विखुरा हस्ति वानराः पक्षिपञ्चमाः।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः॥५२॥

गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, अश्वतर ५, घोड़ा ६ और गदहा ७ इन सातों को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो॥५१॥ कुत्ता १, दो खुर वाले हरिण आदिक २, हाथी ३, वानर ४, पक्षि ५; औदक जीव ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होने वाले जीव हैं॥५२॥ और अपनी इच्छा के अनुसार पूर्ण ब्रह्मतेज को प्राप्त कर लेता है। तथा अपनी इच्छा के अनुसार अन्न आदि आवश्यक भोग्य पदार्थों को प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं वह स्वर्गलोक को भी प्राप्त कर लेता है। इस श्रुति में समस्त संहिताओं के ज्ञान का सामूहिक फल बताया गया है। यदि अलग अलग जानना हो तो निम्न लिखित प्रकार से जानना चाहिये। लोक विषयक संहिता के ज्ञान से स्वर्ग आदि उत्तम लोक को प्राप्त कर लेता है। ज्योति विषयक संहिता के ज्ञान से नाना प्रकार के भौतिक सामग्री को प्राप्त कर लेता है। प्रजा विषयक संहिता के ज्ञान से संतान को प्राप्त कर लेता है। विद्या विषयक संहिता के ज्ञान से विद्या और ब्रह्मतेज को प्राप्त कर लेता है। और अध्यात्म संहिता के विज्ञान से वाणी की शक्ति को प्राप्त कर लेता है। यहां शीक्षावल्ली का तृतीय अनुवाक समाप्त होगया॥६॥

॥ अथ चतुर्थोऽनुवाकः॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव

धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥१॥

अन्वयार्थ—(यः) जो परब्रह्म नारायण (छन्दसाम्) छन्दों में (ऋषभः) सर्वश्रेष्ठ (विश्वरूपः) विश्वरूप है (छन्दोभ्यः) वेदों के लिये (अमृतात्) मरण रहित अमर से (अधि) प्रधान रूप में (संबभूव) उत्पन्न हुआ है (सः) वह (इन्द्रः) सकल ऐश्वर्य वाला परमेश्वर (मा) मुझको (मेधया) धारणायुक्त बुद्धि से (स्पृणोतु) बलवान् करै (देव) हे दिव्य देव (अमृतस्य) आपकी कथा रूप सुधा के (धारणः) धारण करने वाला (भूयासम्) मैं बन जाऊँ (मे) मेरा (शरीरम्) शरीर (विचर्षणम्) विशेष फुर्तिला सब प्रकार से रोग रहित योग्य हो जाय और (मे) मेरी (जिह्वा) जीभ (मधुमत्तमा) अत्यन्त मधुर बोलने वाली हो जाय (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से (भूरि) बहुत (विश्रुवम्) मैं सुनता रहूँ हे परब्रह्म नारायण (मेधया) लौकिक बुद्धि से (पिहितः) आच्छादित (ब्रह्मणः) वेद के (कोशः) निधि (असि) तुम हो (मे) मेरे (श्रुतम्) सुने हुए उपदेश को (गोपाय) तुम रक्षा करो ॥१॥

विशेषार्थ—इस मंत्र में बुद्धिबल और शारीरकबल की प्राप्ति के लिये परब्रह्म नारायण से प्रार्थना करने के लिये बताया गया है कि—जो परब्रह्म नारायण छन्दों में या वेदों में सर्व श्रेष्ठ विश्वरूप है। क्यों कि लिखा है—

गायत्री छन्दसामहम्। (गी० अ० १० श्लो० ३५)

छन्दों में सर्व श्रेष्ठ गायत्री मैं हूँ ॥३५॥

प्रणवः सर्ववेदेषु। (गी० अ० ७ श्लो० ८)

सब वेदों में श्रेष्ठ प्रणव मैं हूँ ॥८॥

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। (गी० अ० ११ श्लो० १६)

हे विश्वेश्वर हे विश्वरूप आपके आदि मध्य तथा अन्त को मैं नहीं देखता हूँ ॥१६॥ इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि छन्दों में श्रेष्ठ विश्वरूप नारायण हैं। और छन्द के विषय में लिखा है—

मृत्युभीतैः पुरा देवैरात्मनश्छादनाय च ।

छन्दांसि संस्मृतानीह छादितास्तैस्ततोऽमराः ॥

(बृहत्पाराशरस्मृ० अध्या० २ श्लो० ३६)

छादनाच्छन्द उद्दिष्टं वाससी कृत्तिरेव च ।

छन्दोभिरावृतं सर्वं विद्यात्सर्वत्र नान्यतः ॥४०॥

पहले मृत्यु के भय से अपने को ढकने के लिये देवताओं ने छन्दों को स्मरण किया तिसके बाद सब देवता छन्द से आच्छादित हुए ॥३६॥ छादन करने से छन्द कहा जाता है कृत्ति वस्त्र है छन्द से ही सब देवता आच्छादित हैं दूसरे से नहीं ॥४०॥ परब्रह्म नारायण वेदों के लिये मरण रहित अमर से प्रधान रूप में उत्पन्न हुए हैं। क्यों कि लिखा है—

हत्वाऽसुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः ।

(श्रीमद्भा० स्कन्ध० ८ अध्या० २४ श्लो० ५७)

श्रीमत्स्यावतारधारी नारायण भगवान ने हयग्रीव असुर को मार कर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को लाया ॥५७॥ इस श्रुति में तथा—

अब्जा गोजा । (यजुर्वे० अ० १० मं० २४)

के "अब्जा" पद से जल में श्रीमत्स्य रूप से होने वाले और

कुचरो गिरिष्ठाः । (ऋग्वे० मण्ड०१ अ०२१ सूक्त० १५४ मं० २)

के "कुचरः" पद से श्रीमत्स्य रूप से पृथ्वी को खाने वाले श्रीमन्नारायण का वर्णन है। और शतपथ ब्राह्मण में भी श्रीमत्स्यावतार का वर्णन है कि—

मनवे ह प्रातः अवनेज्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येव तस्यावनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे सहास्मै वाचमुवाच बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति शश्वद् झष आस तमेवं भूत्वा समुद्रमभ्यवजहार स होवाच अपीपरं वैत्वा वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व । (शतपथब्रा० का० १ अ० ८ ब्रा० १ कण्डिका० १-६)

संक्षेप में लिखा है कि मनु ने प्रातःकाल अवनेजन के लिये जल हाथ में लिया। उनके हाथ में एक मछली आ गई उसने वाक्य कहा कि तुम मुझे पोषण करो मैं तुम्हें प्रलय के जल से पार करूंगी। फिर वह बड़ा मत्स्य हो गया। मनु ने उसको समुद्र में डाल दिया तब उसने कहा कि मैं तेरी रक्षा करता हूं नौका वृक्ष में बांधो ॥६॥ वह परमैश्वर्य वाला इन्द्र पद वाच्य नारायण मुझको धारण युक्त बुद्धि बल से बलवान् करें। यहां "इन्द्र" का अर्थ परब्रह्म नारायण है क्यों कि लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः। (ऋग्वे० अ० २ अ० ३ व० २२)

नारायण को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, विप्रगण कहते हैं ॥२२॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः। (कैवल्यो० श्रु० ८)

वही नारायण ब्रह्म है वही शिव है और वही इन्द्र है ॥८॥

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु। (ऋग्वे० मं० ३।८।९)

श्रीरामनारायण जी सीता देवी को प्राप्त करें और जनक राजा सीता देवी को प्रदान करें ॥९॥

देवानामस्मि वासवः। (गी० अ० १० श्लो० २२)

देवताओं में मैं इन्द्र हूं ॥२२॥ हे दिव्य देवनारायण। क्यों कि लिखा है—

शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।

(नारायणोप० श्रु० १)

शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई नहीं है ॥१॥ हे भगवन् आप की कथा रूप सुधा को अपने हृदय में धारण करने वाला मैं बन जाऊँ। मेरा शरीर विशेष फुर्तीला सब प्रकार से रोग रहित आपकी उपासना के योग्य बन जाय। मेरी जीभ आपके मधुर नामों को मधुर स्वर से उच्चारण करने वाली हो जाय। और दोनों कानों से भगवद्विषय को बहुत मैं सुनता रहूं। हे श्रीमन्नारायण लौकिक बुद्धि से आच्छादित आप वेद के निधि हैं। जैसे निधि से तत्तद्वस्तु निकलता है वैसे ही नारायण से वेद निकला हुआ है क्यों कि यह लिखा है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥

(अथर्ववे० काण्ड० ११ प्रपा० अनु० १ मं० २४)

सबके अन्त में शेष रहने वाले श्रीमन्नारायण भगवान से ऋग्वेद, सामवेद, छन्द तथा यजुर्वेद के साथ पुराण और दिवलोक में रहने वाले दिविश्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥२४॥

स यथार्द्रैन्धनाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वारेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥

(शतप० प्रपा० १४ ब्रा० ४ कं० १०)

जिस प्रकार से गीले ईन्धन के संयोग से अग्नि में नानाविध धूम प्रगट होते हैं उसी प्रकार उस परमात्मा के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान यह सब श्वास भूत हैं ॥१०॥

अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि ॥ (बृहदा० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ११)

अरे उस महान् परब्रह्म नारायण के श्वासभूत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान हैं ॥११॥ हे प्रभो आचार्य से सुना हुआ मेरे सदुपदेश को निर्हेतुक दया करके आप रक्षा कीजिये। ये मंत्र मेधाकामी पुरुष के जप के लिये हैं ॥१॥

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः ।

वासांसि मम गावश्च अन्नपाने च सर्वदा ॥

ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ॥२॥

अन्वयार्थ—(ततः) बुद्धि प्राप्त कराने के अनन्तर अब ऐश्वर्य प्राप्त करने की रीति बताते हैं हे श्रीमन्नारायण देव जो श्री (मम) मेरी (आत्मनः) आत्मा के लिये (अचीरम्) शीघ्र ही (वासांसि) नाना प्रकार के वस्त्रों को (च) और (गावः) गौओं को (च) तथा (अन्नपाने) खाने पीने के पदार्थों को (सर्वदा) सदा (आवहन्ती) ला देने वाली (वितन्वाना) लाया हुआ वस्तु का विस्तार करने वाली और (कुर्वाणा) सब वस्तु को बनाने वाली है (लोम शाम्) रोएँ वाले—भेड़ बकरी आदि से युक्त (पशुभिः) तथा अन्य गौ अश्व आदि पशुओं के (सह) सहित (श्रियम्) उस लक्ष्मी को (मे) मेरे लिये (आवह) बुला लाओ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ ॥२॥

विशेषार्थ—मेधाकामी पुरुष के लिये पहले जप करने के मंत्र कहने के बाद अब लक्ष्मी कामी पुरुष के लिये हवन का मंत्र बतलाये जाते हैं—हे अग्नि के अधिष्ठाता नारायण देव जो मेरे निज जन के लिये आवश्यकता होने पर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकार के वस्त्र गौएँ और खाने पीने की विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत करती है और उन्हें बढ़ाती रहती है तथा उन्हें नवीन रूप से रच दिया करती है उस श्री देवी को आप मेरे लिये भेड़ बकरी आदि रोएँ वाले एवं अन्य गौ अश्व आदि पशुओं के सहित कृपा करके बुला लाइये। क्योंकि लिखा है—

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।
(ऋग्वे० अष्टक ८ मण्डल १ अ० १० सूक्त १२५ मं० १)

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम् ॥३॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥४॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मान्त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥५॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवेहन्तवाऊम् ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आविवेश ॥६॥

श्री देवी कहती हैं कि--मैं मित्रदेव तथा वरुणदेव को धारण तथा पालन करती हूं मैं इन्द्रदेव तथा अग्निदेव को और दोनों अश्वनी-कुमारों को धारण तथा पालन करती हूं ॥१॥ मैं सब ओर से मारने वाले सोमदेव को धारण और पोषण करती हूं और मैं ही त्वष्टादेव को तथा पूषादेव को और भगदेव को धारण तथा पालन करती हूं और जो यजमान सुन्दर हविष्य सोम इन्द्रादि देवों के लिये देते हैं उनके लिये मैं धन देती हूं ॥२॥ मैं सब संसार के ईश्वरी तथा मिलने वाली ज्ञान वाली पहली यजनीय देवता मैं अनेक तरफ से स्थित होने वाली अनेक तरह से सब ओर से प्रवेश करती हूं मुझको देव लोग अनेक जगह विधान करते हैं ॥३॥ मैं ही आप यह कहती हूं जो कि देवताओं से तथा मनुष्यों से सेवित है जिसको मैं चाहती हूं उसको उत्तम बढ़िया बनाती हूं उसको ब्रह्मा उसको ऋषि और उसको मेधावी बनाती हूँ ॥४॥ मेरी सहायता से सब अन्न को खाते हैं जो देखता है जो श्वास लेता है जो सुनता है और जो मेरे कहे हुए को नहीं मानता है वह नष्ट हो जाता है सुन सखे श्रद्धा और यत्न से प्राप्त होने वाले वचन को तुझसे मैं कहती हूं ॥५॥ मैं रुद्रदेव के धनुष को विस्तारयुक्त करती हूं ब्राह्मण के वैरियों के तथा हिंसकों के मारने के लिये और मैं ही जन के लिये मद युक्त करती हूँ तथा मैं आकाश पाताल तथा पृथिवी में व्याप्त हो रही हूं ॥६॥ इस प्रकार की शक्ति वालो श्री देवी।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ । (यजुर्वे० अ० ३१ मं० २२)

श्रीदेवी और भूदेवी आपकी पत्नी हैं ॥२२॥ इस लक्ष्मी के उद्देश्य से यह आहुति देता हूं। आहुति गोघृत का ही देना चाहिये। क्योंकि लिखा है—

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।

(ऋग्वेदीय श्रीसूक्तफल श्रुति १६)

जो बाह्य आभ्यन्तर पवित्र होकर मन सहित सब इन्द्रियों को एकाग्र करके गोघृत को नित्य प्रति हवन करेगा ॥१६॥ वह निश्चय करके

लक्ष्मी को प्राप्त करेगा। परन्तु शास्त्रानुसार सब होना चाहिये। गौ के विषय में लिखा है—

स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत्। (ब्राह्म०)

जिसका शरीर हृष्ट पुष्ट गोल बड़े बड़े चिह्नों से युक्त हो नेत्र सूर्य और अग्नि के समान रक्त वर्ण हो उस गौ को घृत के निमित्त ग्रहण करे। और—

तव वृक्षोऽथ बिल्वः। (श्रीसू० मं० ६)

आपका वृक्ष श्रीफल है ॥६॥ इसके अनुसार श्रीफल का समिधा होना चाहिये।

नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थूलतमा क्वचित्।
न निर्मुक्ता त्वचा चैव न सकीटा न पाटिता ॥ (कात्यायन०)

अंगूठे से अधिक मोटी समिधा कभी भी नहीं ग्रहण करनी चाहिये बिना छिलके की तथा कीट से युक्त और फाटी हुई समिधा भी नहीं ग्रहण करनी चाहिये।

प्रादेशान्नाधिका नोना न च शाखासमन्विता।
नत्वग्घीना न निर्वीर्या होमेषु तु बिजानता ॥ (आह्निकसू०)

एक बीता से अधिक या न्यून समिधा नहीं हवन में ग्रहण करनी चाहिये और होम की विधि को जानने वाले शाखायुक्त तथा छिलका रहित और बिना वीर्य की समिधा को होम में ग्रहण नहीं करते हैं।

निवासा ये च कीटानां लताभिर्वेष्टिताश्च ये।
अयज्ञिया गर्हिताश्च वल्मीकैश्च समावृताः ॥ (वायुपुराण०)
शकुनीनां नीवासाश्च वर्जयेत्तान् महीरुहान्।
अन्यांश्चैवं विधान् सर्वान् यज्ञियांश्च विवर्जयेत् ॥

जिस वृक्ष में कीट निवास करते हों तथा लताओं से जो वेष्टित हों और यज्ञिय जो न हों तथा गर्हित हों और जिस पर पक्षिविशेष निवास करते हों तथा इस प्रकार के अन्य वृक्षों को समिधा के लिये यज्ञ में नहीं देना चाहिये।

सुस्नातः सम्यगाचान्तः कृतसन्ध्यादिकक्रियः ।
कामक्रोधविहीनश्च पाखण्डस्पर्शवर्जितः । (दा० हे०)
जितेन्द्रियः सत्यवादी सर्वकर्मसु शस्यते ॥

सुन्दर स्नान किया हुआ भलीभांति आचमन किया हुआ संध्या वन्दनादिक क्रिया किया हुआ जितेन्द्रिय सत्य बोलने वाला काम क्रोध से रहित और पाखण्ड स्पर्श से वर्जित पुरुष सब कर्मों में प्रशस्त है ।

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च ।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम् ॥ (का०)

सर्वदा यज्ञोपवीत से युक्त और शिखा बान्धा हुआ होना चाहिये बिना शिखा और बिना यज्ञोपवीत के जो कर्म करता है वह नहीं किया हुआ के समान निष्फल हो जाता है ।

उपस्थाने जपे होमे दोहे च यज्ञकर्मणि ।
हस्तस्वरं न कुर्वीत शेषास्तु स्वरसंयुताः ॥
जपे होमे मखे श्राद्धेऽभिषेके पितृकर्मणि ।
हस्तस्वरं न कुर्वीत सन्ध्यादौ देवपूजने ॥ (श्रौतोल्लासः)

उपस्थान में, जप में, हवन में, दोहन में, और यज्ञकर्म में हस्त स्वर नहीं करना चाहिये शेष वेदपाठ आदिक हस्त स्वर में संयुक्त ही होना चाहिये । जप हवन में मख में श्राद्ध अभिषेक में पितृ कर्म में हस्त स्वर नहीं करना चाहिये और सन्ध्या वन्दनादिक में तथा देवताओं के पूजन में में भी हस्त स्वर नहीं करना चाहिये । कीट केश कंकण पत्थल भूसा आदि से रहित शुद्ध मिट्टी से चार अङ्गुल ऊँचा और एक हाथ लम्बा चतुरस्र वेदि बनाकर कुशा के आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर पञ्चभूसंस्कार करके स्रुवा से श्रीकामी हवन करे । पञ्चभूसंस्कार के विषय में लिखा है—

कृमिकीटपतङ्गाद्या विचरन्ति महीतले ।
तेषां संरक्षणार्थाय परिसमूहनमुच्यते ॥

कृमि, कीट, पतङ्ग आदिक पृथिवी पर विचरते हैं अतः उन सबों की रक्षा के लिये कुशों से वेदि को साफ करना परिसमूहन कहा जाता है—

पुरा इन्द्रेण वज्रेण हतो वृत्रो महासुरः ।
व्यापिता मेदसा पृथ्वी तदर्थमुपलेपयेत् ॥

पहले इन्द्र ने वज्र से महा असुर वृत्रासुर को मारा तब उसकी मेदा से पृथिवी व्याप्त हो गई इससे पृथिवी की शुद्धि के लिये गोबर और जल से उपलेप करे ।

उल्लेखनं ततः कुर्यादस्थिकण्टकमेव च ।
तेषां प्रहरणार्थाय उल्लेखः कथितो बुधैः ॥

उपलेप करने के अनन्तर अस्थि कांट आदि के उल्लेखन करे अतः अस्थि कण्टक आदि के प्रहरण के लिये स्रुवा के मूल से पूर्व की ओर उत्तरोत्तर क्रम से प्रादेशमात्र परिमाण के तीन लकीर खींचनारूप उल्लेख पण्डितों ने कहा है ।

अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यां अग्निकार्ये तथोत्करे ।
रेखाभ्यः समुपादाय रत्निमात्रे निधापयेत् ॥
ये भ्रमन्ति पिशाचाद्या अन्तरिक्षनिवासिनः ।
तेषां प्रहरणार्थाय समुध्रः कथितो बुधैः ॥

अग्निकार्य सुन्दर समृद्ध होने के निमित्त अनामिका और अंगूठे से उन तीन लकीरों में से किञ्चित मिट्टी लेकर रत्निमात्र पर रख दे । जो अन्तरिक्ष निवासी पिशाच आदि भ्रमण करते हैं उन सबों के प्रहरण के लिये मिट्टी के फेंकनारूप समुध्र विद्वज्जनों ने कहा है ।

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणाः स्मृताः ।
सर्वे तदाप आदाय अभ्युक्षन्ति पुनः पुनः ॥

जल सब देवगण हैं और जल पितृगण कहे गये हैं इस कारण से सब लोग जल को लेकर पुनः पुनः वेदि को अभ्युक्षण करते हैं ।

अभ्युक्षणं तु कर्तव्यमुत्तानेनैव मुष्टिना । (कल्पवल्ली०)

वेदिका सिंचन उत्तान मुष्टि से करना चाहिये ।

आज्यस्थाली कांस्यमयी यद्वा ताम्रमयी तथा ।
प्रादेशमात्रदीर्घा सा गृहीतव्याऽव्रणा शुभा ॥

स्रुवसंमार्जनार्थाय पञ्च वाथ त्रयोऽपि वा ।
प्रादेशमात्रान् गृह्णीयात्सम्मार्गकुशसंज्ञकान् ॥ (कल्पवल्ली०)

घृत रखने का पात्र कांस्य के या ताम्र के होना चाहिये और प्रादेश मात्र दीर्घ तथा विना छिद्र के सुन्दर ग्रहण करना चाहिये। स्रुवा को संमार्जन करने के लिये पांच या तीन प्रादेश मात्र कुशाओं को ग्रहण करना चाहिये उन कुशाओं का संमार्जन कुशा नाम है। स्रुवा के विषय में लिखा है—

खादिरः स्रुवः । (कात्या० श्रौ० १।३।३३)
अरत्निमात्रः स्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः (का० श्रौ० १।३।३६)

खैर के लकड़ी का स्रुव होना चाहिये ॥३३॥ निमुठ हाथ के और अंगूठे के पर्व के समाज वृत्त पुष्कर यानी गोल स्रुवा होना चाहिये जिसमें गोल खात भी बना हो ॥३६॥

अग्रे धृत्वार्थनाशाय मध्ये चैव मृतप्रजाः ।
मूले च म्रियते होता स्रुवस्थानं कथं भवेत् ॥ (कारिका०)

स्रुवा के अग्र भाग पकड़ने से धन का नाश होता है तथा मध्य भाग पकड़ने से सन्तान मरता है और मूल भाग पकड़ने से स्वयं हवन करने वाला मरता है तो स्रुवा पकड़ने का स्थान कौन सा होगा।

अग्रमध्याच्च यन्मध्यं मूलमध्याच्च मध्यतः ।
स्रुवं धारयते विद्वान् ज्ञातव्यं च सदा बुधैः ॥ (कारिका०)
तर्जनीं च बहिः कृत्वा कनिष्ठां च बहिस्तथा ।
मध्यमानामिकांगुष्ठैः स्रुवं धारयते द्विजः ॥

अग्रभाग और मध्य भाग के जो बीच में स्थान है तथा मूल भाग और मध्य भाग के बीच में जो स्रुवा के भाग है उसी को विद्वान् लोग पकड़ते हैं यह सदा बुधजनों करके जानने योग्य है। तर्जनी और कनिष्ठिका अङ्गुलि को बाहर करके मध्यमा तथा अनामिका और अङ्गूठे से द्विजजन स्रुवा को पकड़ते हैं। और अग्नि के विषय में लिखा है—

अधोमुखम् ऊर्ध्वपादः प्राङ्मुखो हव्यवाहनः ।
तिष्ठत्येव स्वभावेन आहुतिः कुत्र दीयते ॥ (कारिका०)

अधोमुख और ऊपर चरण करके पूर्व मुहं स्वभाव से ही अग्नि रहता है तो आहुति कहां पर दी जाती है ।

सपवित्राम्बुहस्तेन वह्नेः कुर्यात्प्रदक्षिणाम् ।
हव्यवाट् सलिलं दृष्ट्वा बिभेति सम्मुखो भवेत् ॥ (कारि०)

पवित्रा के सहित जल को हाथ में लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा करे अग्नि जल को देखकर डरता है अतः सन्मुख हो जाता है ।

आस्यान्तर्जुहुयादग्नेर्विपश्चित्सर्वकर्मसु ।
कर्णहोमे भवेद् व्याधिर्नेत्रेऽन्धत्वमुदाहृतम् । (प्रयोगरत्न०)
नासिकायां मनः पीडा मस्तके च धनक्षयः ॥
सधूमोऽग्निः शिरो ज्ञेयो निर्धूमश्चक्षुरेव च ।
ज्वलत्कृशानुः स्यात्कर्णः काष्ठलग्नस्तु नासिका ॥
अग्निः ज्वालायते यत्र शुद्धः स्फटिकसन्निभः ।
तन्मुखे तस्य विज्ञेयं चतुरङ्गुलमानतः ॥
विवाहादि संस्कारे च शालाय वास्तु पूजने ।
नित्यहोमे वृषोत्सर्गे पूर्णाहुतिं न कारयेत् ॥ (प्रयोगरत्न०)

विद्वान् पुरुष सब कर्मो में अग्नि के मुख में हवन करे अग्नि के कान में हवन करने से रोग होता है और अग्नि के नेत्र में हवन करने से अन्धा होता है । तथा अग्नि के नांक में हवन करने से होता के मन में पीडा होती है और अग्नि के मस्तक पर हवन करने से धन का नाश होता है । धूम से युक्त अग्नि को मस्तक जानना चाहिये विना धूम के अग्नि को नेत्र जानना चाहिये जलता हुआ अग्नि को कान जानना चाहिये और काठ-लग्न अग्नि को नांक जानना चाहिये । शुद्ध स्फटिक मणि के समान जहां पर अग्नि की ज्वाला होती है वही चार अंगुल अग्नि का मुख है वही हवन करने वालों के जानने योग्य है । विवाह आदिक संस्कार में और शालाके

लिये वास्तु पूजन में तथा नित्य होम में और वृषोत्सर्ग में पूर्णाहुति नहीं करनी चाहिये। ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूं जिसको अधिक जानना हो वह मेरा बनाया हुआ "श्रीसूक्त के पुरश्चरण विधि" को अवलोकन करे ॥२॥

आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥३॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मचारिणः) वेदाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी लोग (मा) मेरे पास (आ+यन्तु) भलीभांति आवें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी लोग (मा) मत (वि+यन्तु) वियुक्त होवें अथवा (विमायन्तु) निष्कपट होवें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी लोग (प्रमायन्तु) यथार्थ ज्ञान को पावें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी लोग (दमायन्तु) अन्तःकरण के नियमन करने वाले होवें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी लोग (शमायन्तु) बाहरी इन्द्रियों के नियमन करने वाले होवें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं ॥३॥

विशेषार्थ—इस मंत्र में आचार्य को ब्रह्मचारियों के हित के लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये यही वर्णन किया गया है—वेदाध्ययन करने वाले उत्तम ब्रह्मचारी लोग मेरे पास विद्या पढ़ने के लिये आवें इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह पहली आहुति देता हूँ। मेरे ब्रह्मचारी मुझसे वियुक्त न होवें अथवा मेरे ब्रह्मचारी कपट शून्य होवें इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह दूसरी अहुति देता हूँ। ब्रह्मचारी लोग प्रामाणिक यथार्थ ज्ञान को पावें इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह तीसरी आहुति देता हूँ। मेरे ब्रह्मचारी लोग अन्तःकरण के नियमन करने वाले होवें इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह चौथी अहुति देता हूँ। इस के विषय में लिखा है—

दमः अन्तःकरणनियमनम् ।

(भगद्गी० अ० १८ श्लो० ४२ रामानुजभाष्य)

अन्तःकरण नियमन के नाम "दम" है ॥४२॥

दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥८॥
दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥९॥
दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥१०॥
प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् ।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥११॥

(महा० शा० प० अ० १६० श्लो० ८--११)

इस चेतन की क्रिया सिद्धि यथार्थ दम से होती है और दम ही दान तथा यज्ञ और अध्ययन को अतिक्रमण करता है ॥८॥ दम तेज को बढ़ाता है और दम सबसे पवित्र है बिना पाप के तेज से युक्त पुरुष दम को प्राप्त करता है ॥९॥ दम के सदृश धर्म लोक में दूसरा मैं नहीं सुना हूँ इस लोक में सब धर्म वालों को दम ही अत्यन्त प्रशस्त है ॥१०॥ हे मनुष्येन्द्र इस लोक में दम को पाकर श्रेष्ठसुख को पाता है और निश्चय करके दम से युक्त पुरुष श्रेष्ठधर्म को पाता है ॥११॥ ब्रह्मचारी लोग बाहरी इन्द्रियों के नियमन करने वाले होवें इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह पांचवीं आहुति देता हूँ। शम के विषय में लिखा है—

शमः बाह्येन्द्रियनियमनम् ।

(रामनुजभाष्य गी० अ० १८ श्लो० ४०)

बाहरी इन्द्रियों के नियमन का नाम "शम" है ॥४२॥

शमः पवित्रमतुलं शमः पुण्यमनुत्तमम् ।
शमः सुखमसंख्येयं शमः पापहरं स्मृतम् ॥

(महाभारत शान्तिप० अध्या० १६० श्लो० ३)

शम तुलना रहित अति पवित्र है तथा शम सबसे श्रेष्ठ पुण्य है और शम असंख्येय सुख है तथा शम पाप को दूर करने वाला है ॥३॥

शम एव परं तीर्थं शम एव परं तपः ।
शम एव परं ज्ञानं शमो योगः परस्तथा ॥

(महाभारत शान्तिप० अध्या० २६० श्लो० ३६)

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
सर्व एते शमेनैव प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥३७॥

शम सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है तथा शम श्रेष्ठ तप है और शम ही सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है तथा शम सबसे श्रेष्ठ योग है ॥३६॥ ब्रह्मचारी या गृहस्थ या वानप्रस्थी या संन्यासी ये सब शम से ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥३७॥ और लिखा है—

उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः । (का० श्रौ० १।२।७)

समीप में बैठ कर स्वाहा कह कर जो हवन किया जाता है वही आहुति है ॥७॥

देवोद्देशेन वह्नौ मंत्रेण हविः प्रक्षेप आहुतिः । (का० श्रौ० २।१।२०)

देवता के उद्देश्य से अग्नि में मंत्र द्वारा हविष्य समर्पण करने का नाम आहुति है ॥२०॥ हाथ से आहुति देने में मुद्रा का विचार करना चाहिये क्यों कि लिखा है—

होमे मुद्रा स्मृतास्तिस्रो मृगी हंसी च सूकरी ।
मुद्रां विना कृतो होमः सर्वो भवति निष्फलः ॥

(परशुरामकारिका)

शान्तिके तु मृगी ज्ञेया हंसी पौष्टिककर्मणि ।
सूकरी त्वभिचारे तु कार्या तंत्रविदुत्तमैः ॥
कनिष्ठातर्जनीहीना मृगी मुद्रा निगद्यते ।
हंसी मुक्तकनिष्ठा स्यात् करसङ्कोचसूकरी ॥

हवन में मृगी तथा हंसी और सूकरी ये तीन मुद्रायें कही गयी हैं विना मुद्रा के किया हुआ हवन निष्फल होता है । शान्ति कर्म में श्रेष्ठ तंत्र

वेत्ताओं से मृगी मुद्रा जाननें योग्य है तथा पौष्टिक कर्म में हंसी मुद्रा जानने योग्य है और अभिचार कर्म में सूकरी मुद्रा करने योग्य है। दक्षिण हाथ के कनिष्ठा और तर्जनी अंगुलि को बराकर शेष अंगुलियों के मिलने से मृगी मुद्रा कही जाती है केवल कनिष्ठा अंगुलि को बराकर शेष चार अंगुलियों के मिलने से हंसी मुद्रा कही जाती है और पांचो अंगुलियों को मिला कर हाथ संकोच करने से सूकरी मुद्रा हो जाती है।

अग्निहोत्रे वैश्वदेवे संस्कारादिविधौ तथा।
न च स्मरेदृषींश्छन्दः श्राद्धे वैतानिके मखे॥ (देवल०)

अग्निहोत्र में वैश्वदेव कर्म में संस्कार आदिक विधि में श्राद्ध में और वैतानिक मख में ऋषि तथा छन्द का स्मरण न करे। प्रस्तुत श्रुति में ब्रह्मचारी शब्द आया है इससे यहां प्रश्न होता है कि ब्रह्मचारी कब होता है और ब्रह्मचारी के बाहरी चिह्न कौन से हैं। इसका उत्तर लिखा है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(मनुस्मृ० अ० २ श्लो० ३६)

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का तथा ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और गर्भ से बारवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार करे॥३६॥

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्।

(पारस्करगृह्य० काण्ड–२ कण्डिका २ सू० १)

गर्भाष्टमे वा ॥२॥ एकादशवर्षं राजन्यम् ॥३॥ द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥४॥

जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे॥१॥ अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे॥२॥ ग्याहवें वर्ष में क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे॥३॥ बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार करे॥४॥

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्।

(आप० धर्म० १।१।१।१९)

वसन्त ऋतु में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे तथा ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे और शरद ऋतु में वैश्य का उपनयन संस्कार करे ॥१६॥

ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुतेः। (का० श्रौ० १।१।६)

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय और वैश्यों की श्रुति होने से ॥६॥

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।

वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥

(मनुस्मृ० अ० २ श्लो० ४१)

ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कृष्ण मृग के चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी को चित्रमृग के चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये और वैश्य ब्रह्मचारी को बकरे का चर्म उत्तरीय धारण करना चाहिये। और ब्राह्मण ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र शन का होना चाहिये तथा क्षत्रिय ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र तिसी का बना हुआ होना चाहिये और वैश्य ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र भेंड़ के केश का बना हुआ ऊर्णामय होना चाहिये ॥४१॥

वासांसि शाणक्षौमाविकानि ॥१६॥

ऐणेयमजिन मुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥ आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१६॥

(पा० गृ० का० २ कं० ५ सू० १६—१६)

ब्राह्मण ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र शन का बना हुआ होना चाहिये और क्षत्रिय ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र तिसी के छिलके का बना हुआ होना चाहिये तथा वैश्य ब्रह्मचारी का कटिवस्त्र भेंड़ के केश का बना हुआ ऊर्णामय होना चाहिये ॥१६॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कृष्णमृग के चर्म का उत्तरीय होना चाहिये ॥१७॥ क्षत्रिय ब्रह्मचारी के चित्रमृग के चर्म का उत्तरीय होना चाहिये ॥१८॥ वैश्य ब्रह्मचारी का बकरे का चर्म अथवा गौ का चर्म उत्तरीय होना चाहिये ॥१६॥

मौञ्जी त्रिवित्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ४२)

मुञ्जाभावे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकवल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिखे च ॥४३॥

मुञ्ज की तिगुनी रस्सी की बनी हुई अत्यन्त चिक्कन ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला बनानी चाहिये और क्षत्रिय ब्रह्मचारी की स्नायुमयी यानी चर्म की तात की मेखला बनानी चाहिये तथा वैश्य ब्रह्मचारी के शन की तांत की मेखला बनानी चाहिये ॥४२॥ यदि मुञ्ज का अभाव हो तो कुश की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये यदि धनुष के ज्या का अभाव हो तो अश्मन्तक तृण की मेखला क्षत्रिय ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये और यदि शन के सूता का अभाव हो तो बल्वज तृण की मेखला वैश्य ब्रह्मचारी के बनाना चाहिये ये त्रिवृत मेखलायें एक ग्रन्थि या तीन ग्रन्थि अथवा पांच ग्रन्थि से युक्त होनीं चाहिये ॥४३॥

मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य । (पारस्करगृ० कां० २ कण्डि—५ सू० २१)
धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥ मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥ मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकवल्वजानाम् ॥२४॥

मुञ्ज तृण की बनी हुई ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥२१॥ धनुष की ज्या के स्नायुमयी क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥२२॥ मुरु तृण के बनी हुई वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला होती है ॥२३॥ मुञ्ज के अभाव में कुश की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी की होती है । धनुष के ज्या का अभाव में अश्मन्तक तृण की मेखला क्षत्रिय ब्रह्मचारी की होती है । मुरु तृण के अभाव में बल्वज तृण की मेखला वैश्य ब्रह्मचारी की होती है ॥२४॥

मेखला सप्तहस्ता स्यादजिनं तु द्विहस्तकम् ।

ब्रह्मचारी की मेखला सात हाथ की होनी चाहिये और उत्तरीय का चर्म दो हाथ का होना चाहिये ।

शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठं क्षौमं च क्षत्रियस्य पीतं कौशेयं वैश्यस्य । (वसिष्ठ संस्काररत्नमाला)

शुक्ल फटा न हुआ सुन्दर वस्त्र ब्राह्मण ब्रह्मचारी का होता है और

माञ्जिष्ठ रंग के तिसी का सूता से बना हुआ क्षत्रिय ब्रह्मचारी के कटि वस्त्र होता है तथा पीतवर्ण के कौशेय वस्त्र वैश्य ब्रह्मचारी के होता है।

सर्वेषां कार्पासं वाऽविकृतम्। (गौतम०)

अथवा विकार रहित सफेद कपास का बना हुआ वस्त्र सब ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के ब्रह्मचारियों का होता है।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥
(मनु० अ० २ श्लो० ४४)

त्रिगुण किया ऊर्ध्ववृत दक्षिणावर्तित कपास के सूता का बना हुआ यज्ञोपवीत ब्राह्मण का होता है तथा शन के सूता का क्षत्रिय का होता है और भेंड़ के केश का ऊर्णामय वैश्य का यज्ञोपवीत होता है ॥४४॥

वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः। (परब्रह्मोप० श्रु० १०)
नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः ॥११॥

बायें कन्धा से लेकर दाहीना कटि पर्यन्त यज्ञोपवीत होता है। नाभि से लेकर ब्रह्मरंध्र पर्यन्त प्रमाण वाला यज्ञोपवीत को सुधीजन धारण करे ॥११॥

ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते ॥ (छन्दोगपरिशि०)

कापास के सूता को ऊपर में पहले तीगुना करे इसके बाद तीगुने हुए उन सूतों को नीचे में फिर से तीगुने इसके बाद भांज कर उसको तीगुना करके गांठ दे तो उसको यज्ञोपवीत कहते हैं।

यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः। (देवल०)

नव सूता के यज्ञोपवीत बनाना चाहिये।

एकैकमुपवीतं तु यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
गृहिणां च वनस्थानामुपवीतद्वयं स्मृतम् ॥
(वृद्धहा० अध्या० ८ श्लो० ४४)

ब्रह्मचारी और संन्यासी के एक यज्ञोपवीत होता है तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ के दो यज्ञोपवीत होता है ॥४४॥

उपवीतं वटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृते ।
एकमेव यतीनां स्यादिति धर्मस्य निर्णयः ॥ (पारिजात)

ब्रह्मचारी के एक यज्ञोपवीत कहा गया है और गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के दो यज्ञोपवीत कहा गया है और संन्यासी के भी एक ही यज्ञोपवीत कहा गया है यज्ञोपवीत के विषय में इस प्रकार के धर्म का निर्णय है ।

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ४५)

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥४६॥
ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥४७॥

ब्राह्मण ब्रह्मचारी धर्मानुसार श्रीफल तथा पालाश के दण्ड को और क्षत्रिय ब्रह्मचारी वट तथा खैर के दण्ड को और वैश्य ब्रह्मचारी गूलर और पाकड़ के दण्ड को धारण करे ॥४५॥ ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केशान्त पर्यन्त और क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाट पर्यन्त तथा वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड नांक पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में होना चाहिये ॥४६॥ वे सब दण्ड कोमल व्रण रहित देखने में अत्यन्त सुन्दर छिलका सहित अग्नि के दाह से रहित प्राणियों के नहीं उद्विग्न करने वाले शास्त्र में विधान किये गये हैं ॥४७॥

पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ।

(पारस्करगृ० कां० २ कण्डि--५ सू० २५)

बैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥ औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

ब्राह्मण ब्रह्मचारी के पालाश का दण्ड होता है ॥२५॥ क्षत्रिय ब्रह्मचारी के श्रीफल का दण्ड होता है ॥२६॥ वैश्य ब्रह्मचारी के गूलर का दण्ड होता है ॥२७॥

मौञ्ज्याद्यजिनदण्डास्तु ब्रह्मचारी धरेत्सदा ।

(पराशरीयध० अ० ५ श्लो० १०)

ब्राह्मण ब्रह्मचारी मुञ्ज के तिगुनी हुई सुन्दर मेखला तथा कृष्णमृग चर्म एक कपास के बना हुआ जनेव खराऊं और केशान्त बेल या पलाश का अंगुलि इतना मोटा दण्ड को तथा धातु के कमण्डलु को सदा धारण करै। और क्षत्रिय ब्रह्मचारी मौर्वी धनुष का गुण के समान स्नायुमयी मेखला तथा चित्र मृग के चर्म एक शन के बना हुआ जनेव और ललाट पर्यन्त बर या खैर का अंगुलि इतना मोटा दण्ड तथा धातु के कमण्डलु को सदा धारण करै। और वैश्य ब्रह्मचारी शन के सूत के सुन्दर चिक्कन मेखला तथा बकरा के चर्म और भेंड़ के केश का बना हुआ एक जनेव तथा नासिकान्त गूलर या पाकड़ का छिलका सहित अंगुलि इतना मोटा दण्ड तथा धातु के कमण्डलु को सदा धारण करै ॥१०॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
कटिसूत्रं च कौपीनं ब्रह्मचारी तु धारयेत् ॥ (पाञ्चरा०)

मेखला, चर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन को ब्रह्मचारी सदा धारण करै।

तामसं नग्नमेकं तु राजसं वसनद्वयम् ।
कौपीनसहितं तत्तु सात्त्विकं मुनिभिः स्मृतम् ॥

(भारद्वाजसं० अध्या० ४ श्लो० ५५)

केवल एक वस्त्र का धारण करना नग्न के समान तामस है और दो वस्त्रों का धारण करना राजस है तथा कौपीन कटिवस्त्र और उत्तरीय इन तीनों को धारण करना सात्विक है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥५५॥

अयुक् सूत्रैर्व्यतिस्यूतं धारयेत्कटिबन्धनम् ।
कौपीनं वस्त्रयुग्मं च यथार्हमितराणि च ॥

(भारद्वाजसं० अध्या० ३ श्लो० ८०)

दो सौ चालिस चौवा के और यज्ञोपवीत के समान नव सूत्र से बना हुआ कटि सूत्र को तथा कौपीन को और कटिवस्त्र को तथा उत्तरीय को यथा योग्य धारण करै ॥८०॥

ब्रह्मचारी वनस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत् । (वासुदेवोपनि०)

ब्रह्मचारी और वानप्रस्थी ललाट हृदय कण्ठ और बाहुमूलों में "ओं नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" इस वैष्णव गायत्री से अथवा कृष्ण आदिक नामों से ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण करें ।

धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रांश्च विष्णोः प्रीतिकरान्सदा ।
जपहोमार्चनध्यानदानादिषु विशेषतः ॥
(भारद्वाजसं० अ० ३ श्लो० ६७)

नश्यन्ति सकलाः क्लेशा नराणां पापसम्भवाः ।
अभीष्टान्यखिलानि स्युरूर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥६८॥

विष्णु प्रीति कारक ऊर्ध्व पुण्ड्रों को सदा धारण करना चाहिये और जप होम अर्चन ध्यान दान आदि कर्मों के समय में विशेष करके अवश्य ही धारण करना चाहिये ॥६७॥ ऊर्ध्व पुण्ड्र के धारण करने से मनुष्यों के पापजनित जितने क्लेश हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं और समस्त मनोभिलाष सिद्ध हो जाते हैं ॥६८॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं ललाटे तु कुर्वीत चतुरङ्गुलम् ।
उदरे हृदि कण्ठे च दशाष्टचतुरङ्गुलान् ॥
(भा० सं० अ० ३ श्लो० ७३)

ललाट में चार अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये और उदर में दश अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये तथा हृदय में आठ अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये और कण्ठ में चार अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥७३॥

सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रमूर्ध्वरेखं ललाटे यस्य दृश्यते ॥

(पद्मपु० पातालख० ५ अध्या० ७९ श्लो० १९)

सान्तरालं प्रकर्तव्यं पुण्ड्रं हरिपदाकृतिम् ॥२५॥
नासादिकेशपर्यन्तमूर्ध्वपुण्ड्रं सुशोभनम् ।
मध्ये छिद्रसमायुक्तं तं विद्याद्धरिमन्दिरम् ॥२७॥

जिसके ललाट पर ऊर्ध्व रेखा वाला ऊर्ध्व पुण्ड्र देखा जाता है वह सब पापों से विशुद्ध आत्मा वाला विष्णुलोक को जाता है ॥२२॥ विष्णु भगवान के चरणारविन्द के आकार के सामान ऊर्ध्वपुण्ड्र अन्तराल के सहित करना चाहिये ॥२५॥ नाक के आदि से केश पर्यन्त मध्य में छिद्र से युक्त सुन्दर जो ऊर्ध्वपुण्ड्र है उसको श्रीहरि का मन्दिर जानो ॥२७॥

स स्नातः सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रं यो मृदा शुभ्रेण वैष्णवः ॥

(पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२५ श्लो० ४)

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः सर्वलोकेषु पूजितः ।
विमानवरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम् ॥५॥
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रं तु त्रिसन्ध्यं हि द्विजोत्तमः ।
सर्वपापविशुद्ध्यर्थमिष्टापूर्तफलाप्तये ॥६॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरं दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
नमस्कृत्वाथवा भक्त्या सर्वदानफलं लभेत् ॥७॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति ।
आकल्पकोटिपितरस्तस्य तृप्ता न संशयः ॥८॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो यस्तु कुर्याच्छ्राद्धं शुभानने ।
कल्पकोटि सहस्राणि गयाश्राद्धफलं लभेत् ॥९॥
यज्ञदानतपश्चर्याजपहोमादिकं च यत् ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरः कुर्यात् तस्य पुण्यमनन्तकम् ॥१०॥

जो विष्णु का भक्त सफेद मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है वह सब तीर्थों में स्नान करता है और सब यज्ञों में दीक्षित होता है ॥४॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करने वाला ब्राह्मण सब लोकों में पूजित होता है और श्रेष्ठ विमान पर चढ़कर श्रीविष्णु के परमपद को प्राप्त करता है ॥५॥ हे द्विजोत्तम सब पाप को दूर करने के लिये और इष्टापूर्त के फल प्राप्ति के लिये तीनों संध्याओं में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥६॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाले को देखकर सब पापों से छुट जाता है और भक्ति से नमस्कार करने से सब दान देने के फल को प्राप्त करता है ॥७॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाले ब्राह्मण को जो श्राद्ध में भोजन कराता है उसके करोड़ कल्प तक पितर तृप्त होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥८॥ हे सुन्दर मुख वाली जो ऊर्ध्व-पुण्ड्र धारण करके श्राद्ध करता है वह हजार करोड़ कल्प तक गया में श्राद्ध करने के फल को प्राप्त करता है ॥९॥ जो ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करके यज्ञ दान तपस्या जप होम व्रत आदि करता है वह नहीं अन्त होने वाले पुण्य को प्राप्त करता है ॥१०॥

हरेः पादाकृतिं कुर्यादूर्ध्वपुण्ड्रं विधानतः ।
मध्यछिद्रेण संयुक्तं तद्धि वै मन्दिरं हरेः ॥

(पद्मपु० उत्तरखं० ६ अध्या० २२५ श्लो० २२)

ऊर्ध्वपुण्ड्रमृजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरम् ।
दण्डाकारं सुशोभाढ्यं मध्ये छिद्रं प्रकल्पयेत् ॥२३॥
ऊर्ध्वपुड्रस्य मध्ये तु विशाले सुमनोहरे ।
सान्तराले समासीनो हरिरस्ति श्रिया सह ॥२५॥
तस्माच्छिद्रान्वितं पुण्ड्रं सहरिद्रं शुभान्वितम् ।
धारयेद् ब्राह्मणो नित्यं हरिसाजोक्यसिद्धये ॥२८॥

श्रीहरि के चरणारविन्द के आकार के तुल्य और मध्य में छिद्र से युक्त विधि के अनुसार ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करें वह निश्चय करके श्रीहरि का मंदिर है ॥२२॥ कोमल सौम्य अत्यन्त मन को हरण करने वाला सुन्दर शोभा युक्त मध्य में छिद्र सहित दण्डाकार ऊर्ध्वपुण्ड्र को करे ॥२३॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र के विशाल अत्यन्त मनोहर अन्तराल के मध्य में श्रीदेवी के साथ नारायण रहते हैं ॥२५॥ इससे ब्राह्मण हरदी के चूर्ण से युक्त अत्यन्त

सुन्दर छिद्र रहित ऊर्ध्वपुण्ड्र नित्य प्रति श्रीहरि के सायुज्य सिद्धि के लिए धारण करे ॥२८॥

आदाय वैष्णवक्षेत्रान्मृत्तिकां विमलां शुभाम् ।
मूलमंत्रेणाभिमंत्र्य ऊर्ध्वपुण्ड्राणि धारयेत् ॥

(पराशरीयधर्म० उत्तरखं० अध्य० २ श्लो० ६)

संध्याकाले जपे होमे स्वाध्याये पितृतर्पणे ।
श्राद्धे दाने च यज्ञे च धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥१४॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु विप्राणां संध्यानुष्ठानकर्मवत् ।
श्राद्धकाले विशेषेण कर्त्ता भोक्ता च न त्यजेत् ॥१५॥
तस्मात्तु ब्राह्मणो नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रं तु धारयेत् ।
पुण्ड्रस्य धारणादेव वैकुण्ठं यात्यसंशयः ॥२६॥

श्री वैष्णव क्षेत्र से सुन्दर सफेद मिट्टी को लेकर मूलमंत्र से अभिमंत्रित करके ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥६॥ संध्या करने के समय में जप में हवन में स्वाध्याय में पितृतर्पणमें श्राद्ध में दान में और यज्ञ में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥१४॥ संध्यावन्दन कर्म के समान ब्राह्मणों को ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये और श्राद्ध समय में विशेष रूप से कर्ता और भोक्ता ऊर्ध्वपुण्ड्र को नहीं छोड़े ॥१५॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करने से विना संदेह के वैकुण्ठ को प्राप्त करता है इससे ब्राह्मण सर्वदा ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥२६॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रो यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तं पूतं विजानीयाद्राजभिः सत्कृतोभवेत् ॥

(ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनि० खण्ड—५ श्रु० २)

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रो तपहोमादिकं चरेत् ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति विधानेन विशेषतः ॥८॥
अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
तेषां पुण्यमवाप्नोति ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥११॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला विप्र जिस जिसको नेत्र से देखता है

उस उसको पवित्र जानना चाहिये और वह राजाओं से सत्कार युक्त होता है ॥३॥ जो ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला विप्र तप हवन आदिक करता है वह शास्त्र के विधान से न्यून है तौ भी विशेष रूप से पूर्णता को प्राप्त करता है ॥८॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र के धारण करने से हजार अग्निष्टोम यज्ञ के और सौ वाजपेय यज्ञ के पुण्य को प्राप्त करता है ॥११॥

ब्राह्मणोर्ध्वपुण्ड्रमालिखेत्तस्माद्विरेखं भवति ।
ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥

(शतपथब्रा० विष्णुब्राह्म० खण्ड—३)

ब्राह्मण ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे ऊर्ध्वपुण्ड्र करने से दो रेखा वाला हो जाता है और ब्रह्म के सायुज्य तथा सलोकता को जीतता है जो इस प्रकार ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण को जानता है ॥३॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र की मिट्टी का स्थान लिखा है—

पर्वताग्रे नदीतीरे विल्वमूले जलाशये ।
सिन्धुतीरे च वल्मीके हरिक्षेत्रे विशेषतः ॥

(पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२५ श्लो० ३५)

श्रीरङ्गे वेङ्कटाद्रौ च श्रीकूर्मे द्वारके शुभे ।
प्रयागे नारसिंहाद्रौ वाराहे तुलसीवने ॥३७॥
गृहीत्वा मृत्तिकां भक्त्या विष्णुपादजलैः सह ।
धृत्वा पुण्ड्राणि चाङ्गेषु विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥३८॥
यस्मिन् कस्मिन्महाभाग वैष्णवा धारयन्ति वै ।
तस्मिन्वै मृत्तिका ग्राह्या ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणे ॥३९॥

करिशैल यादवाद्रि आदिक पर्वत के शिखर की और गंगा यमुना सरयू गोदावरी आदिक पवित्र नदियों के तीर की तथा विल्ववृक्ष के मूल की और तोताद्रि आदिक दिव्यदेश के जलाशयों की तथा समुद्र के तीर की और सफेद दींवक की तथा विशेष करिके हरिक्षेत्र की सफेद मिट्टी को ॥३५॥ और श्रीरंग धाम की तथा वेङ्कटाद्रिकी और श्रीकूर्मक्षेत्र की तथा शुभ द्वारिकापुरी की और प्रयागराज की तथा सिंहाचल की और वाराह क्षेत्र की

सुन्दर छिद्र रहित ऊर्ध्वपुण्ड्र नित्य प्रति श्रीहरि के सायुज्य सिद्धि के लिए धारण करे ॥२८॥

आदाय वैष्णवक्षेत्रान्मृत्तिकां विमलां शुभाम् ।
मूलमंत्रेणाभिमंत्र्य ऊर्ध्वपुण्ड्राणि धारयेत् ॥

(पराशरीयधर्म० उत्तरखं० अध्य० २ श्लो० ६)

संध्याकाले जपे होमे स्वाध्याये पितृतर्पणे ।
श्राद्धे दाने च यज्ञे च धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥१४॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु विप्राणां संध्यानुष्ठानकर्मवत् ।
श्राद्धकाले विशेषेण कर्त्ता भोक्ता च न त्यजेत् ॥१५॥
तस्मात्तु ब्राह्मणो नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रं तु धारयेत् ।
पुण्ड्रस्य धारणादेव वैकुण्ठं यात्यसंशयः ॥२६॥

श्री वैष्णव क्षेत्र से सुन्दर सफेद मिट्टी को लेकर मूलमंत्र से अभिमंत्रित करके ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥६॥ संध्या करने के समय में जप में हवन में स्वाध्याय में पितृतर्पणमें श्राद्ध में दान में और यज्ञ में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥१४॥ संध्यावन्दन कर्म के समान ब्राह्मणों को ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये और श्राद्ध समय में विशेष रूप से कर्ता और भोक्ता ऊर्ध्वपुण्ड्र को नहीं छोड़े ॥१५॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करने से विना संदेह के वैकुण्ठ को प्राप्त करता है इससे ब्राह्मण सर्वदा ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करे ॥२६॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रो यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तं पूतं विजानीयाद्राजभिः सत्कृतोभवेत् ॥

(ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनि० खण्ड—५ श्रु० ३)

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रो तपहोमादिकं चरेत् ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति विधानेन विशेषतः ॥८॥
अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
तेषां पुण्यमवाप्नोति ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणात् ॥११॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला विप्र जिस जिसको नेत्र से देखता है

उस उसको पवित्र जानना चाहिये और वह राजाओं से सत्कार युक्त होता है ॥३॥ जो ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला विप्र तप हवन आदिक करता है वह शास्त्र के विधान से न्यून है तौ भी विशेष रूप से पूर्णता को प्राप्त करता है ॥८॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र के धारण करने से हजार अग्निष्टोम यज्ञ के और सौ वाजपेय यज्ञ के पुण्य को प्राप्त करता है ॥११॥

ब्राह्मणोर्ध्वपुण्ड्रमालिखेत्तस्माद्द्विरेखं भवति ।
ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥

(शतपथब्रा० विष्णुब्राह्म० खण्ड—३)

ब्राह्मण ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे ऊर्ध्वपुण्ड्र करने से दो रेखा वाला हो जाता है और ब्रह्म के सायुज्य तथा सलोकता को जीतता है जो इस प्रकार ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण को जानता है ॥३॥ ऊर्ध्वपुण्ड्र की मिट्टी का स्थान लिखा है—

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले जलाशये ।
सिन्धुतीरे च वल्मीके हरिक्षेत्रे विशेषतः ॥

(पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२५ श्लो० ३५)

श्रीरङ्गे वेङ्कटाद्रौ च श्रीकूर्मे द्वारके शुभे ।
प्रयागे नारसिंहाद्रौ वाराहे तुलसीवने ॥३७॥
गृहीत्वा मृत्तिकां भक्त्या विष्णुपादजलैः सह ।
धृत्वा पुण्ड्राणि चाङ्गेषु विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥३८॥
यस्मिन् कस्मिन्महाभाग वैष्णवा धारयन्ति वै ।
तस्मिन्वै मृत्तिका ग्राह्या ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणे ॥३९॥

करिशैल यादवाद्रि आदिक पर्वत के शिखर की और गंगा यमुना सरयू गोदावरी आदिक पवित्र नदियों के तीर की तथा बिल्ववृक्ष के मूल की और तोताद्रि आदिक दिव्यदेश के जलाशयों की तथा समुद्र के तीर की और सफेद दींवक की तथा विशेष करिके हरिक्षेत्र की सफेद मिट्टी को ॥३५॥ और श्रीरंग धाम की तथा वेङ्कटाद्रिकी और श्रीकूर्मक्षेत्र की तथा शुभ द्वारिकापुरी की और प्रयागराज की तथा सिंहाचल की और वाराह क्षेत्र की

तथा वृन्दावन की ॥३७॥ सफेद मिट्टी को भक्ति से लेकर और गङ्गाजल से घिसकर जो अपने अङ्गों में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करता है वह विष्णु भगवान के सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करता है ॥३८॥ अथवा महाभाग श्रीवैष्णव जिस स्थान के सफेद मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र को करते हैं उस स्थान की सफेद मिट्टी को ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने के लिये ग्रहण करना चाहिये ॥३९॥

ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे ।
वक्षस्थले माधवं च गोविन्दं कण्ठकूबरे ॥

(पद्मपु० खं० ६ अ० २२५ श्लो० ४५)

विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम् ।
त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके ॥४६॥
श्रीधरं बाहुके वामे हृषीकेशं तु कन्धरे ।
पृष्ठे वै पद्मनाभं तु त्रिके दामोदरं न्यसेत् ॥४७॥

ललाट पर केशव को ध्यान करे और उदर पर नारायण को ध्यान करे तथा हृदय पर माधव को और कण्ठ पर गोविन्द को ध्यान करे ॥४५॥ दाहिनी कुक्षि पर विष्णु को और दाहिने बाहु मूल पर मधुसूदन को तथा दाहिने कंधे पर त्रिविक्रम को ध्यान करे और बांयें पार्श्व में वामन को ध्यान करे ॥४६॥ वांयें बाहु मूल पर श्रीधर को तथा वांयें कंधें पर हृषीकेश को ध्यान करे और पीठ पर पद्मनाभ को तथा गर्दन पर दामोदर को ध्यान करे ॥४७॥

ललाटे भुजयुग्मे तु पृष्ठयोः कण्ठकूबरे ।
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रं तु चतुरङ्गुलमायतः ॥

(पद्मपु० उत्तरखं० ६ अ० २२५ श्लो० ४९)

कुक्षौ तत्पार्श्वयोः प्रोक्तमायतं तु दशाङ्गुलम् ।
बाह्वोर्वक्षस्थले पुण्ड्रमष्टाङ्गुलमुदाहृतम् ॥५०॥

ललाट, दाहिना कंधा, बांयां कंधा, पीठ, गर्दन, कण्ठ, इन छव स्थानों पर चार चार अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिये ॥४९॥ और

उदर दाहिनी कुक्षि बांयीं कुक्षि इन तीन स्थानों पर दश दश अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये और हृदय दाहिना बाहु मूल बांयां बाहु मूल इन तीन स्थानों पर आठ आठ अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये ॥५०॥

॥ अथ वैदिक ब्रह्मचारितिलक धारण विधिः ॥

ब्रह्मचारी स्नान करने के बाद कौपीन कटिवस्त्र आदिक धारण करके कृष्ण मृग चर्म या कुशासन पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख सिद्धासन से बैठकर अपने दाहिने भाग में गङ्गाजल से भरा हुआ जलपात्र को रखे और सफेद श्रीरङ्ग आदिक दिव्य देशों की मिट्टी से बना हुआ चक्राङ्कित पाशा को और श्रीचूर्ण के पात्र को तिलक पेटी के ऊपर सामने रखे। इसके बाद जलपात्र से थोड़ा जल ताम्र या रजत के गोकर्णी में रखे और ताम्र या रजत के एक उद्धरणी को भी जलपूरित गोकर्णी में रख दे तथा एक निर्मल दर्पण भी सामने तिलक पेटी पर रखे। इसके बाद—

विष्णुचन्दन पापघ्न विष्णुलोकसमुद्भव ।
चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदोभव ॥

(वासु० उप० खं० २)

इस मंत्र को पढ़कर अञ्जलि मुद्रा बान्ध कर पाशा के लिये नमस्कार करे इसके बाद बायां हांथ की हथेली को गोकर्णाकृति बनाकर दाहिना हांथ से गोकर्णी में से उद्धरणी के द्वारा जल को लेकर—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

(ऋग्वे० मण्डल० १० सूक्त० ७५ मं० ५)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ बायां हांथ की हथेली में जल छोड़ दे तदनन्तर—

उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १ अनुवा० १ मं० ३०)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ दक्षिण हांथ की अंगुलियों से सफेद मिट्टी के पाशा को ग्रहण करे इसके बाद—

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥
(ऋग्वे० मण्डल० १ सूक्त० १५४ मं० १)

इस मंत्र को पढ़कर उस पाशा को वाम हांथ की हथेली पर रगड़े तदनन्तर—

ओं नमो नारायणाय। (नारायणोप० मं० ४)

इस मंत्र को ब्रह्मचारी अपना दाहिना हांथ के बीचली अंगुलि से बाम हांथ की हथेली पर विष्णु चन्दन को रगड़ता हुआ लिखे तदनन्तर—

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्तधामभिः॥ (ऋक्० मण्डल १ सू० २२ मं० १६)

इस मंत्र को तथा—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ (ऋ० मण्डल १ सू० २० मं० २१)

इस मंत्र को और—

इदं विष्णु र्विचक्रमेत्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा॥ (शुक्लयजु० अध्या० ५ मं० १५)

इस मंत्र को तथा—

विष्णोरराटमसि विष्णोः श्नप्त्रेस्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णो ध्रुवोऽसि। वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ (शुक्लयजु० अ० ५ मं० २१)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ दाहिना हांथ की हथेली से बाम हांथ की हथेली को ढँक कर विष्णु चन्दन को अभिमंत्रित करे तदनन्तर—

शङ्खचक्र गदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्॥ (वासुदेवोप० खं० ३)

इस मंत्र से केशव भगवान का ध्यान करके दाहिने हांथ की मध्यमा अंगुलि से विष्णु चन्दन को लेकर सुन्दर दर्पण में अपने मुख को देखता हुआ—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि।
तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठक० १० अनुवा० १ मं० २८)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ अन्तराल से युक्त सुन्दर अनामिका अंगुलि के बराबर मोटा यानी चौड़ा और चार अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक अपने आचार्य के कथनानुसार ललाट पर धारण करे। इसके अनन्तर पुनः दक्षिण हांथ की अनामिका अंगुलि से सफेद विष्णु चन्दन को लेकर—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

(तै० प्रपा० १० अनु० १ मं० २८)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ माधव भगवान का ध्यान करके हृदय में यानी छाती पर अपने आचार्य के कथनानुसार अन्तराल से युक्त अत्यन्त सुन्दर आठ अंगुल लंबा बद्धमूल वाला ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे। तदनन्तर पुनः दाहिने हांथ की अनामिका अंगुलि से सफेद विष्णु चन्दन को वाम हथेली से लेकर—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

(तै० आ० प्र० १० अ० १ मं० २८)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ गोविन्द भगवान का ध्यान करके कण्ठ पर अपने आचार्य के कथनानुसार अन्तराल से युक्त अति सुन्दर बद्धमूल वाला चार अंगुल लंबा दर्पण को देखकर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे। तदनन्तर पुनः दाहिने हांथ की अनामिका अंगुलि से सफेद विष्णु चन्दन को वाम हथेली से लेकर बांया हांथ की मध्यमा अंगुलि पर रखकर—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

(तै० आ० प्र० १० अ० १ मं० २८)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ मधुसूदन भगवान का ध्यान करके अपने आचार्य के कथनानुसार दाहिने भुजा के मूल पर अन्तराल से युक्त अत्यन्त सुन्दर बद्धमूल वाला आठ अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे। तदनन्तर पुनः दाहिना हांथ की अनामिका अंगुलि से सफेद विष्णु चन्दन को बायां हथेली से लेकर—

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

(तै० प्र० १० अनु० १ मं० २८)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ श्रीधर भगवान का ध्यान करके अपने आचार्य के कथनानुसार बायां भुजा के मूल पर अन्तराल से युक्त अत्यन्त सुन्दर बद्ध मूल वाला आठ अंगुल लंबा ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करे। इसके बाद बाम हथेली के सफेद मिट्टी को दाहिना हाथ से थोड़ा जल देके धोवे और उस हस्त प्रक्षालित जल को वासुदेव भगवान का ध्यान करके अपने मस्तक पर रखे। तदनन्तर—

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनु० १ मं० ३४)

इस मंत्र को पढ़कर दाहिने हांथ से श्रीचूर्ण के पात्र को लेकर बायां हांथ की हथेली पर श्रीचूर्ण रखे तदनन्तर—

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

(अथर्ववेद)

इस मंत्र को पढ़कर गोकर्णी में से उद्धरणी के द्वारा बायां हथेली में श्रीचूर्ण के ठीक भींजने भर थोड़ा जल छोड़ दे इसके बाद—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकम्म इषाण॥

(शुक्लय० अ० ३१ मं० २२)

इस मंत्र को पढ़कर श्रीचूर्ण को बायें हथेली पर दाहिने हांथ की अनामिका अंगुलि से रगड़े तदनन्तर पुनः।

श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते नारायणाय नमः।

(त्रिपाद्विभूतिमहानारायणो० अध्या० ७)

इस मंत्र को ब्रह्मचारी अपने दाहिने हाथ की अनामिका अंगुलि से बाम हांथ की हथेली पर श्रीचूर्ण को रगड़ता हुआ लिखे तदनन्तर।

कांसोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्। पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम्॥ (श्रीसूक्त० मं० ४)

इस मंत्र को पढ़ता हुआ दाहिने हांथ की हथेली से वाम हांथ की हथेली को ढँककर श्रीचूर्ण को अभिमंत्रित करे तदनन्तर श्रीदेवी का ध्यान करके दाहिने हांथ की मध्यमा अंगुलि से अरुण सिक्त श्रीचूर्ण को लेकर सुन्दर दर्पण में अपने मुख को देखता हुआ—

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् । (लक्ष्मीसूक्त० मं० ९)

इस मंत्र को पढ़कर दीप शिखा के समान दोनों सफेद ऊर्ध्व रेखाओं के मध्य में अत्यन्त सुन्दर अन्तरालयुक्त श्रीचूर्ण को ललाट पर चार अंगुल लंबा धारण करे। इसके अनन्तर पुनः दक्षिण हांथ की अनामिका अंगुलि से अरुण सिक्त श्रीचूर्ण को लेकर—

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि । तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् । (लक्ष्मीसूक्त० मं० ९)

इस मंत्र को पढ़कर भूदेवी का ध्यान करके दीपशिखा के समान दोनों सफेद ऊर्ध्व रेखाओं के मध्य में अत्यन्त सुन्दर अन्तराल युक्त श्रीचूर्ण को हृदय में यानी छाती पर आठ अंगुल लंबा धारण करे। तदनन्तर पुनः दक्षिण हांथ की अनामिका अंगुलि से सिक्त श्रीचूर्ण को लेकर—

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् । (लक्ष्मीसू० मं० ९)

इस मंत्र को पढ़कर और नीलादेवी का ध्यान करके दोनों सफेद ऊर्ध्व रेखाओं के मध्य में अत्यन्त सुन्दर अन्तराल युक्त दीप शिखा के समान श्रीचूर्ण को दर्पण से देखकर कण्ठ पर चार अंगुल लंबा धारण करे। तदनन्तर पुनः दाहिने हांथ की अनामिका अंगुलि से अरुण सिक्त श्रीचूर्ण को वाम हथेली से लेकर वाम हांथ की मध्यमा अंगुलि पर रखकर—

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि । तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् । (लक्ष्मीसू० मं० ९)

इस मंत्र को पढ़कर और सीतादेवी का ध्यान करके दोनों सफेद ऊर्ध्व रेखाओं के मध्य में अत्यन्त सुन्दर अन्तराल युक्त दीप शिखा के समान श्रीचूर्ण को दाहिना बाहु के मूल पर आठ अंगुल लंबा धारण करे।

तदनन्तर पुनः दाहिने हाथ की अनामिका अंगुलि से अरुण सिक्त श्रीचूर्ण को बाम हथेली से लेकर—

महालक्ष्मीं च विद्महे विष्णुपत्नीं च धीमहि । तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात् । (लक्ष्मीसू० मं० ६)

इस मंत्र को पढ़कर और रुक्मिणी देवी का ध्यान करके दोनों सफेद ऊर्ध्व रेखाओं के मध्य में अत्यन्त सुन्दर अन्तराल युक्त दीप शिखा के समान श्रीचूर्ण को बाम बाहु के मूल पर आठ अंगुल लंबा धारण करे। इसके बाद बाम हथेली के श्रीचूर्ण को दाहिने हाथ से उद्धरणी के द्वारा थोड़ा जल देकर धोवे और उस हस्तप्रक्षालित जल को महालक्ष्मी देवी का ध्यान करके अपने मस्तक पर रखे।

॥ इति वैदिकब्रह्मचारितिलकधारणविधिः ॥

सायं प्रातः समिद्धोमं स्वाध्यायाध्ययनं जपः ।
उपस्थितं गृहे भैक्ष्यं विधिस्तु ब्रह्मचारिणः ॥

(परा० अ० ५ श्लो० १८)

सांझ सुबह समिधा का हवन करना वेद पढ़ना जप करना उपस्थित घर में भिक्षा करना यह ब्रह्मचारी के लिये विधान है ॥१८॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ६६)

गुरु शिष्य के उपनयन संस्कार करिके पहिले शौच की तथा आचार की और अग्नि में सांझ सुबह हवन की तथा संध्योपासन विधि की शिक्षा दे ॥६६॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्रकरे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥

(मनु० अ० ५ श्लो० १३६)

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥१३७॥

मल मूत्र त्याग करने पर शुद्धि चाहने वाला एक बार जल सहित मिट्टी लिंग पर दे और गुदा मार्ग पर जल सहित तीन बार मिट्टी दे तथा बाम हांथ में जल सहित दश बार मिट्टी दे और दोनों हांथ में जल सहित सात बार मिट्टी दे ॥१३६॥ यह शौच गृहस्थों के लिये है इससे दो गुना शौच ब्रह्मचारियों के लिये है अर्थात् ब्रह्मचारी जल सहित मिट्टी लिंग पर दो बार और गुदा मार्ग पर छव बार तथा वाम हांथ में बीस बार और दोनों हांथों में चौदह बार दे ॥१३७॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षि पितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेवच ॥

(मनु० अ० २ श्लो० १७६)

ब्रह्मचारी स्नान करिके पवित्र होकर देव ऋषि और पितृ के तर्पण तथा देवताओं की पूजा और समिदाधान नित्य प्रति करे ॥१७६॥ जिसको स्नान आचमन संध्यावन्दन और जप की विधि जानना हो वह मेरे बनाये हुए "यतीन्द्र धर्ममार्तण्ड" ग्रन्थ को अवलोकन करे और देवता की पूजा विधि जानना हो तो मेरे बनाये हुए "पुरुषसूक्त पुरश्चरणविधि" को देख ले यहां ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूं।

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

(मनु० अ० २ श्लो० १७७)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्र धारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥

ब्रह्मचारी मधु और मांस को भोजन न करे कपूर चन्दन कस्तूरी इतर तेल आदिक देह में न लगावे माला न धारण करे खाटा तींता कडुवा गुड़ आदिक रसों को भोजन न करे स्त्री से रति न करे सिरका आदि सेवन न करे और समस्त प्राणियों की हिंसा न करे ॥१७७॥ तेल या

अबटन आदिक से देहमर्दन न करे दोनों नेत्रों में कज्जल या सुर्मा धारण न करे जुता न पेन्हे छाता न लगावे और काम क्रोध लोभ नांच गाना बाजा आदिक दुर्व्यसनों को परित्याग करे ॥१७८॥ जुआ खेलना निरर्थक मनुष्यों से कलह करना दूसरे के दोष को कहना झूठा बोलना और मैथुन की इच्छा से अनुराग सहित स्त्रियों को देखना तथा आलिंगन करना और दूसरों का अपकार करना इत्यादि कर्मों को ब्रह्मचारी परित्याग करै ॥१७९॥

अधः शाय्यक्षाराऌवणाशी स्यात् ।

(पारस्करगृ० कां० २ कण्डिका० ५ सू० १०)

दण्डधारणमग्निपरिचरण गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥

ब्रह्मचारी नीचे पृथिवी पर शयन करे खारा और नमकीन वस्तु को भोजन न करे ॥१०॥ अपनेवर्णानुसार दण्ड मेखला यज्ञोपवीत आदि सर्वदा धारण करे सुवह सांझ अग्नि में हवन करे सर्वदा गुरु की सेवा करे और नित्य प्रति भिक्षाटन करे ॥११॥ मधु और मांस को भोजन न करे ह्रद देवतीर्थ आदि में कूदकर स्नान न करे पलंग के ऊपर या तोसक आदि के ऊपर आसन न लगावे स्त्रियों के मध्य में न जावे असत्य भाषण न करे और विना दिये हुए किसी वस्तु को न ग्रहण करे ॥१२॥ ये ब्रह्मचारी के नियम हैं ॥३॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(जने) लोगों में (यशः) यश वाला (असानि) मैं होऊँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (वस्यसः) अति धनवान् से भी (श्रेयान्) श्रेष्ठ असानि मैं होऊँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (भग) हे षडैश्वर्य संपन्न भगवन् (तम्) उस (त्वा) आप में (प्रविशानि) मैं प्रवेश करूँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (भग) हे षडैश्वर्य संपन्न भगवन् (सः) वह तू (मा) मुझ में (प्रविश) प्रविष्ट हो जा (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (भग) हे षडैश्वर्य संपन्न भगवन् (तस्मिन्) तिस (सहस्रशाखे) हजार शाखा वाले (त्वयि) तेरे में (अहम्) मैं (निमृजे) निश्चय करके अपने को विशुद्ध करता हूँ (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूं (यथा) जिस प्रकार (आपः) जल (प्रवता) ढालू भूमि के द्वारा (यन्ति) समुद्र में चले जाते हैं और (यथा) जिस प्रकार (मासाः) महीने (अहर्जरम्) दिनो का अन्त करने वाले संवत्सर में चले जाते हैं (धातः) हे विधाता नारायण (एवम्) इसी प्रकार (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी लोग (माम्) मेरे पास (सर्वतः) सब ओर से (आयन्तु) आवें (स्वाहा) इस निमित्त यह आहुति देता हूँ (प्रतिवेशः) श्रम निवृत्ति के स्थान यानी समीपवर्ती गृह (असि) तुम हो (मा) मेरे लिये (प्रभाहि) तू प्रकाशित हो जा (मा) मुझे (प्रपद्यस्व) भलीभांति प्राप्त हो जा ॥४॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में आचार्य को अपने लौकिक और पारलौकिक हित के लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये यही प्रतिपादन किया गया है—सब लोगों में मैं यशस्वी बनूं जगत में मेरा यश सौरभ सर्वत्र फैल जाय इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह पहली आहुति देता हूँ। महान् धनवानों की अपेक्षा भी मैं अधिक संपत्तिशाली बन जाऊँ इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह दूसरी आहुति देता हूँ। हे षडैश्वर्य संपन्न परब्रह्म नारायण आपके उस दिव्य मङ्गलमय विग्रह में मैं प्रवेश करूँ इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह तीसरी आहुति देता हूँ। हे भगवन् श्रीमन्नारायण आपका दिव्य मंगलमय विग्रह मेरे मन में बस जाय इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह चौथी आहुति देता हूँ। हे सच्चिदानन्द भगवन् हजारों शाखा वाले आपके दिव्य मंगलमय स्वरूप में ध्यान द्वारा निमग्न होकर मैं आपकी कृपा कटाक्ष से अपने को विशुद्ध बना लूं इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह पांचवीं आहुति देता हूं।

जैसे समस्त जल प्रवाह नीचे की ओर बहते हुए समुद्र में चले जाते हैं और जैसे महीने दिनों के अन्त करने वाले संवत्सररूप काल में जा रहे हैं वैसे ही ब्रह्मचारी लोग सब दिशाओं से मेरे पास में आवें उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याण का उपदेश देकर अपने कर्तव्य का एवं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँ इस उद्देश्य से आचार्य मैं यह छठवीं आहुति देता हूं। हे लक्ष्मीनाथ आप समीप के घर की समान शीघ्र ही पाप और दुःख को दूर करके भक्तों को आश्रय देते हैं अतः अब मेरे अकिंचन के लिये अपने दिव्य स्वरूप को प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये। यह ज्ञान पाप कर्मों के नाश हो जाने पर ही उत्पन्न होता है। क्यों कि लिखा है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथादर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि ॥

(महाभार० शान्तिप० अध्या० २०४ श्लो० ८)

(गरुडपु० १ अध्या० २३७ श्लो० ६)

पाप कर्म के क्षय होने पर पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है जिस प्रकार दर्पण के स्वच्छ हो जाने पर उसमें मुख देखा जा सकता है उसी प्रकार शुद्ध शरीर में आत्मा का साक्षात्कार होता हैं ॥८॥६॥ यहां शीक्षा वल्ली का चौथा अनुवाक समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वेलोका महीयन्ते ॥१॥

अन्वयार्थ—(भूः) भूः (भुवः) भुवः (सुवः) स्वः (इति) इस प्रकार (वै) प्रसिद्ध (एताः) ये (तिस्रः) तीन (व्याहृतयः) व्याहृतियां हैं (तासाम्) उन तीनों में (उ) निश्चय करके (ह) प्रसिद्ध (एताम्) इस (चतुर्थीम्) चौथी व्याहृति को (माहाचमस्यः) महाचमस ऋषि के पुत्र ने (महः) महः (इति) इस नाम से (प्रवेदयते स्म) सबसे पहले जाना था (तत्) वह "महः" यह चौथी व्याहृति (ब्रह्म) ब्रह्म है (सः) वह "महः" यह व्याहृति (आत्मा) ऊपर कही हुई भूर्भुवः स्वः व्याहृतियों की आत्मा है (अन्याः) अन्य (देवताः) सब देवता (अङ्गानि) उसके अङ्ग हैं (भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (वै) निश्चय करके (अयम्) यह पृथिवी (लोकः) लोक है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक है (सुवः) स्वः (इति) यह व्याहृति (असौ) वह प्रसिद्ध (लोकः) स्वर्गलोक है (महः) महः (इति) यह चौथी व्याहृति (आदित्यः) सूर्य है (आदित्येन) सूर्य से (वाव) निश्चय करके (सर्वे) समस्त (लोकाः) लोक (महीयन्ते) वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में व्याहृतियों के द्वारा परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन की गई है—भूः भुवः स्वः ये तीन मन्वादि धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध व्याहृतियां हैं। क्यों कि लिखा है—

वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च। (मनु० अ० २ श्लो० ७६)
ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥

प्रजापति ने ऋग्वेद से भूः व्याहृति को तथा यजुर्वेद से भुवः व्याहृति को और सामवेद से स्वः व्याहृति को दुहा ॥७६॥ ओंकार पूर्वक भूर्भुवः स्वः ये तीन व्याहृतियां और त्रिपदा सावित्री ये विकार रहित हैं तथा वेद के मुखारविन्द जानने योग्य हैं ॥८१॥ भूर्भुवः स्वः इन व्याहृतियों से अतिरिक्त चौथी महः इस व्याहृति को सबसे पहले महाचमस ऋषि के पुत्र ने जाना था। इन व्याहृतियों में महः यह चौथी व्याहृति सर्व प्रधान और व्यापक है इससे महः व्याहृति को परब्रह्म नारायण का स्वरूप समझना चाहिये। महः चौथी व्याहृति भूर्भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों की आत्मा है। इन्द्रादि सब देवता महः स्वरूप परब्रह्म नारायण के अङ्ग

हैं। इस प्रकार अङ्गाङ्गी भाव से भगवान की उपासना करना चाहिये। इस श्रुति में देवता शब्द को देखकर कुछ लोग कहते हैं कि देवता मनुष्य से अलग नहीं है क्योंकि लिखा है—

विद्वांसो हि देवाः। (शतपथब्रा० ३।७।३।१०)

विद्वानों का नाम देवता है ॥१०॥ इस कथन का उत्तर यह है—

विद्वांसो हि देवाः। (शतप० ३।७।३।१०)

इस श्रुति का जो यह अर्थ किया गया है कि "विद्वानों का नाम देवता है" सो ठीक नहीं है क्यों कि लिखा है—

देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।

(यजु० अ० ६ मं० ७)

इस श्रुति के अर्थ में दिव्य गुण युक्त यह पशु अग्निषोमादि देवताओं के समीप गमन करें जो देवता विद्वान् अग्नि द्वारा हविष्य की इच्छा वाले हैं ॥७॥ इस मंत्र पर ही शतपथ की श्रुति है कि—

विद्वांसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति।

(शतप० ३।७।३।१०)

देवता विद्वान् हैं इससे उनको उशिज और वह्नितमान् कहा है ॥१०॥ विद्वानों का नाम देवता है इसका यहां कोई प्रसंग नहीं है। देव योनि मनुष्य योनि से अलग है इस विषय में निम्नलिखित प्रमाण देखिये।

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव, हैं ॥२०॥

त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।
(यजुर्वे० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादिक तीन देव, ग्यारह रुद्रदेव, तैंतीस देव, पुरोहित बृहस्पति देव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥

त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥

(यजु० अध्या० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृ कर्म में नियुक्त किया ॥७॥ अथवा "त्रीणि शतानि" ३०० तीन सौ "त्रीणि सहस्राणि" ३००० तीन सहस्र-गुणित अर्थात् ९०००० "त्रिंशत् नव च" और उन्तालीस ९०००३९ देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। अथवा—

नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः।
ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः॥

इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की शक्ति रूप से ३३३३३३३३३ इतने देवता होते हैं ॥७॥

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥

(अथर्व० कां० ११ प्रपा० अनु० १ मं० २४)

सबके अन्त में शेष रहने वाले श्रीमन्नारायण भगवान् से ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, और यजुर्वेद के साथ पुराण तथा दिव लोक में रहने वाले दिवि श्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥२४॥

मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि।

(शतप० अ० ११ प्रपा० ३ ब्रा० ८ कं० ८)

शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति हैं ॥८॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये अथ तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।

(केनोप० ख० ३ श्रु० १)

परब्रह्म नारायण ने निश्चित है कि देवताओं में प्रवेश कर देवताओं के लिये असुरों को विजय किया विजय होने के बाद निश्चय करके निम देवताविष्ट परब्रह्म नारायण के विजय में इन्द्रादिक देवताओं ने पूजा या गौरव अथवा अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया वे इन्द्रादिक देवता ऐसा समझने लगे कि यह विजय हम सबों का निश्चय करके है और यह प्रभाव हम सबों का ही है ॥१॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १)

चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ ॥१॥

देवा सुरा ह वै यत्र संयेतिरे। (छान्दोग्यो० अ० १ खं० २ श्रु० १)

देवता और असुर जहां पर निश्चय करके एकत्रित हुए ॥१॥

यान्ति देवव्रता देवान्। (भ० गी० अ० ६ श्लो० २५)

देवव्रती देवताओं को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।

(मनु० अ० १ श्लो० २२)

वह प्राणियों के प्रभु कर्मात्मा इन्द्रादि देवगण को बनाया ॥२२॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५)

यह तीन देवता हैं अग्नि देवता पृथिवी स्थान में वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥५॥

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः। (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० १३)

यह जो देवता कहे हैं इनमें कोई सूक्तों को सेवन करते हैं कोई हविष्य को कोई ऋचा को और कोई दोनों को सेवन करते हैं ॥१३॥

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्।

(पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० १४)

इस सूत्र में देवता शब्द से मनुष्य योनि से अलग ही देव योनि जैमिनी महर्षि मानते हैं ॥१४॥

देवादिवद् प लोके । (शारीरकमीमां० अध्या० २ पा० १ सू० २५)

इस सूत्र में वेदव्यास महर्षि ने मनुष्य से अलग देवता को मानकर "देवादिवत्" यह दृष्टान्त कहा है ॥२५॥ और व्याकरण भी मनुष्य से भिन्न ही देवता मानता है क्योंकि यह लिखा है—

सूर्याद्देवतायां चाप्वाच्यः । (वार्तिक)

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । देवता जाति में उत्पन्न हुई जो सूर्य की स्त्री है कात्यायनमहर्षि कहते हैं कि वहां पर सूर्य शब्द से आप् प्रत्यय होकर स्त्री प्रत्ययान्तपद "सूर्या" ऐसा पद नहीं बनेगा किन्तु सूर्य शब्द से—

पुंयोगादाख्यायाम् । (पाणि० व्या० अ० ४ पा० १ सू० ४८)

इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर ।

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ।

(पाणि० व्या० अ० ६ पा० ४ सू० १४९)

इस सूत्र करके ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च । (वार्तिक)

इस वार्तिक के नियम द्वारा य लोप होने से "सूरी" ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त पद बनेगा । इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट साबित होता है कि देवता मनुष्य से अलग हैं । अत्र व्याहृतियों में लोकों का चिन्तन करने की विधि बतायी जाती है भूः यह व्याहृति मानो पृथिवी लोक है तथा भुवः यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और स्वः यह व्याहृति सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है तथा महः यह चौथी व्याहृति सूर्य है । लोकों के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । (योगदर्श० अध्या० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक

परब्रह्म नारायण ने निश्चित है कि देवताओं में प्रवेश कर देवताओं के लिये असुरों को विजय किया विजय होने के बाद निश्चय करके तिस देवताविष्ट परब्रह्म नारायण के विजय में इन्द्रादिक देवताओं ने पूजा या गौरव अथवा अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया वे इन्द्रादिक देवता ऐसा समझने लगे कि यह विजय हम सबों का निश्चय करके है और यह प्रभाव हम सबों का ही है ॥१॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव । (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १)

चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ ॥१॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे । (छान्दोग्यो० अ० १ खं० २ श्रु० १)

देवता और असुर जहां पर निश्चय करके एकत्रित हुए ॥१॥

यान्ति देवव्रता देवान् । (भ० गी० अ० ९ श्लो० २५)

देवव्रती देवताओं को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।

(मनु० अ० १ श्लो० २२)

वह प्राणियों के प्रभु कर्मात्मा इन्द्रादि देवगण को बनाया ॥२२॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५)

यह तीन देवता हैं अग्नि देवता पृथिवी स्थान में वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में इन देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥५॥

इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः । (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० १३)

यह जो देवता कहे हैं इनमें कोई सूक्तों को सेवन करते हैं कोई हविष्य को कोई ऋचा को और कोई दोनों को सेवन करते हैं ॥१३॥

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ।

(पूर्वमीमां० अ० ९ पा० १ सू० ९)

इस सूत्र में देवता शब्द से मनुष्य योनि से अलग ही देव योनि जैमिनी महर्षि मानते हैं ॥१४॥

देवादिवच्च लोके । (शारीरकमीमां० अध्या० २ पा० १ सू० २५)

इस सूत्र में वेदव्यास महर्षि ने मनुष्य से अलग देवता को मानकर "देवादिवत्" यह दृष्टान्त कहा है ॥२५॥ और व्याकरण भी मनुष्य से भिन्न ही देवता मानता है क्योंकि यह लिखा है—

सूर्याद्देवतायां चाप्वाच्यः । (वार्तिक)

सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । देवता जाति में उत्पन्न हुई जो सूर्य की स्त्री है कात्यायनमहर्षि कहते हैं कि वहां पर सूर्य शब्द से आप् प्रत्यय होकर स्त्री प्रत्ययान्तपद "सूर्या" ऐसा पद नहीं बनेगा किन्तु सूर्य शब्द से—

पुंयोगादाख्यायाम् । (पाणि० व्या० अ० ४ पा० १ सू० ४८)

इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर ।

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ।

(पाणि० व्या० अ० ६ पा० ४ सू० १४९)

इस सूत्र करके ।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च । (वार्तिक)

इस वार्तिक के नियम द्वारा य लोप होने से "सूरी" ऐसा स्त्री प्रत्ययान्त पद बनेगा । इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट साबित होता है कि देवता मनुष्य से अलग हैं । अब व्याहृतियों में लोकों का चिन्तन करने की विधि बतायी जाती है भूः यह व्याहृति मानो पृथिवी लोक है तथा भुवः यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और स्वः यह व्याहृति सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है तथा महः यह चौथी व्याहृति सूर्य है । लोकों के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । (योगदर्शन० अध्या० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक-

इति । ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् । माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः । (व्यासभाष्य)

सूर्य में संयमन करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ उस भुवन का विस्तार सात लोक हैं। अविचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक भूलोक है १, और सुमेरु की पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्षलोक है २, तथा उससे परे पांच प्रकार के स्वर्गलोक है ३, और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है ४, और तीन प्रकार के ब्रह्मलोक हैं--जनलोक ५., तपोलोक ६, और सत्यलोक ७, ।

ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालख्यानि सप्त । (व्यासभाष्य)

इसके बाद नीचे महातल १, रसातल २, अतल ३, सुतल ४, वितल ५, तलातल ६, और पाताल ७, ये सात लोक हैं ॥२४॥ सूर्य से निश्चय करके समस्त लोक की प्रजा वृद्धि को प्राप्त होती है। क्योंकि लिखा है—.

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

(मनु० अ० ३ श्लो० ७६)

सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है तथा अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है ॥७६॥ इस परम्परा से सूर्य के द्वारा ही सब लोक वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१॥

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ॥२॥

अन्वयार्थ—(भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (वै) निश्चय करके (अग्निः) अग्नि है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (वायुः) वायु है (सुवः)

स्वः (इति) यह व्याहृति (आदित्यः) सूर्य है (महः) महः (इति) यह व्याहृति (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है क्योंकि (चन्द्रमसा) चन्द्रमा से (वाव) निश्चय करके (सर्वाणि) समस्त (ज्योतींषि) तारागण आदि ज्योतियां (महीयन्ते) वृद्धि को प्राप्त होते हैं (भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (वै) निश्चय करके (ऋचः) ऋग्वेद है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (सामानि) सामवेद है (सुवः) स्वः (इति) यह व्याहृति (यजूंषि) यजुर्वेद है (महः) महः (इति) यह व्याहृति (ब्रह्म) व्यापक परब्रह्म है (ब्रह्मणा) परब्रह्म नारायण से (वाव) निश्चय करके (सर्वे) समस्त (वेदाः) वेद (महीयन्ते) महिमान्वित होते हैं या वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में ज्योतियों में और वेदों में व्याहृतियों के द्वारा परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन किया गया है कि—भूः यह व्याहृति निश्चय करके अग्नि है और भुवः यह व्याहृति वायु है तथा स्वः यह व्याहृति आदित्य है। आदित्य के विषय में लिखा है—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥

(महाभारत आदिप० १ अध्या० ६५ श्लो० १५)

एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥१६॥

धाता १, मित्र २, अर्यमा ३, शक्र ४, वरुण ५, अंश ६, भग ७, विवस्वान् ८, पूषा ९, और दशवां सविता १०, ॥१५॥ ग्यारहवां त्वष्टा ११, और बारहवां विष्णु १२, ये बारह आदित्य कहे जाते हैं ॥१६॥ और महः यह चौथी व्याहृति चन्द्रमा है क्यों कि चन्द्रमा से ही सब तारा गण ज्योतियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं या महिमावाली होती हैं। भूः यह व्याहृति निश्चय करके ऋग्वेद है। ऋग्वेद के विषय में लिखा है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।

(पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० ३५)

जिसमें अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥

एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः। (सीतोपनि०)

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२)

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा ।

(कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

एकविंशतिधा बह्वृच्यः । (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्निक १)

इक्कीस शाखा ऋग्वेद के हैं ॥१॥ भुवः यह व्याहृति सामवेद है। सामवेद के विषय में लिखा है—

गीतिषु सामाख्या । (पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० ३६)

गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥

साम्नः सहस्रशाखाः स्युः । (सीतोपनि०)

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १३)

सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः ।

(कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

सहस्रवर्त्मा सामवेदः । (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक हजार शाखा सामवेद के हैं ॥१॥ और स्वः यह व्याहृति यजुर्वेद है। यजुर्वेद के विषय में लिखा है—

शेषे यजुः शब्दः । (पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० ३७)

ऋगादि से शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥३७॥

शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ॥ (सीतोपनि०)

नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२)

हे महावीर यजुर्वेद के एक सौ नव शाखा हैं ॥१२॥ महर्षिपतञ्जलि के समय में—

एकशतमध्वर्युशाखाः । (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक सौ एक शाखा यजुर्वेद के प्रसिद्ध होते थे ॥१॥

शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम् ।

शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् । (प्रतिज्ञासूत्रभाष्य)

यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का कहा गया है उनमें वाजसनेय शुक्लयजुर्वेद है और तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद है ।

यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरंशतम् ।

शाखास्तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः । (बृहन्नारदीय०)

यजुर्वेद महा कल्पतरु के एक सौ एक शाखा हैं उसमें शुक्ल यजुर्वेद के पन्द्रह शाखा हैं । और महः यह चौथी व्याहृति परब्रह्म है क्योंकि परब्रह्म नारायण से ही समस्त चारो वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं या महिमान्वित होते हैं । वेद के विषय में लिखा है—

चत्वारो वेदाः । (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व ये चार वेद हैं ॥१॥

मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । (आपस्तम्बश्रौतसू० २४।१।३१)

मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥३१॥ इस श्रुति में वेद शब्द को देख कर कुछ लोग यह कहते हैं कि केवल मंत्र को ही वेद कहते हैं । ब्राह्मण वेद की व्याख्या है वेद नहीं है । इस विषय में मेरा कहना यह है कि सब महर्षि लोग ब्राह्मण ग्रन्थ को वेद मानते हैं निम्नलिखित प्रमाणों को सज्जन लोग अवलोकन करें । महर्षि बौधायन ने कहा है—

मंत्रब्राह्मणमित्याहुः । (बौधायन गृह्यसूत्र २।६।२)

मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ॥२॥ तथा कौशिक महर्षि ने कहा है—

आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च । (कौशिक सू० १।३)

मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ॥३॥ और महर्षि जैमिनी ने कहा है—

तच्चोदकेषु मंत्राख्या । (पूर्वमीमां० अ० २ पा० १ सू० ३२)

शेषे ब्राह्मणशब्दः । (पूर्वमी० २।१।३३)

चोदना लक्षण श्रुति ही का नाम मंत्र है ॥३२॥ मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥३३॥ इस प्रकार महर्षि जैमिनी ने

मंत्र ब्राह्मणात्मक समस्त वेद का लक्षण कहकर वेद के एक देश को कहा है कि—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । (पूर्वमी० अ० २ पा० १सू० ३५)

गीतिषु सामाख्या । (पूर्वमी० २।१।३६)

शेषे यजुः शब्दः । (पूर्वमी० २।१।३७)

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् । (पूर्वमी० २।१।३८)

जहां पर अर्थवश से पाद की व्यवस्था हो उसे ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥ गीति में सामवेद ऐसी आख्या होती है ॥३६॥ कहे हुवे से शेष यजुः शब्द से कहा जाता है ॥३७॥ और धर्म विशेष होने से निगद या चतुर्थ अथर्व वेद कहा जाता है ॥३८॥ यदि आचार्य ब्राह्मण को वेद नहीं मानते तब तो मंत्र के लक्षण कहने के बाद ही ऋग्वेदादि का लक्षण कहते। पर यह तो मंत्र लक्षण के बाद ब्राह्मण लक्षण कहते हैं। इससे जैमिनि महर्षि मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद मानते हैं। और महर्षि कणाद ने कहा है कि—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।

(वैशेषिक अध्या० १० आह्नि० २ सू० ८)

वेद में देखे हुए और जिनका प्रयोजन इस लोक में ही दिखता है उनका तथा जब दृष्ट ऐहिक फल न मिले तब भी अनुष्ठान करना पारलौकिक फल के लिये माननीय है ॥८॥ दृष्ट फल और अदृष्ट फल दोनों विधान ब्राह्मण भाग में है और इस सूत्र में दृष्टादृष्ट फल वेद में बतलाया गया है। इससे साबित होता है कि कणाद महर्षि वेद मंत्र और ब्राह्मण दोनों को मानते हैं। और गौतम महर्षि ने कहा है कि—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।

(न्यायवा० अध्या० २ आह्नि० १ सू० ५७)

उस वेद का प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि भूठा तथा पूर्वा पर विरोध और दो बार कहना इत्यादि दोष हैं। असत्य का उदाहरण जैसे—

पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत् ।

जिसे पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि यज्ञ करे। परन्तु कहीं पुत्रेष्टि करने से भी पुत्र नहीं होता। जब की इस प्रत्यक्ष वाक्य का प्रमाण नहीं तो।

अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः । (ब्राह्म०)

स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे। ऐसा जो वेद में अदृष्टार्थ वाक्य है उसकी सत्यता में कैसे विश्वास हो। यहां

तदप्रामाण्यम् । (न्याय० २।१।५७)

इस सूत्र में तत् पद से वेद का ही परामर्श है इस रीति से वेद की अप्रमाणता की आशंका करके।

अग्निहोत्रं जुहुयात् । (ब्राह्म०)

इस ब्राह्मण वाक्य का अप्रमाण दिखलाते हैं ॥५७॥ यदि ब्राह्मण को वेद न मानते होते तो वेद के अप्रमाण दिखलाने के समय ब्राह्मण का अप्रमाण कैसे दिखलाते। इससे सिद्ध होता है कि गौतम महर्षि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और महर्षि कपिल ने कहा है कि—

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ।

(सांख्य० अध्या० ५ सू० १)

मंगलाचरण करना चाहिये शिष्टाचार होने से तथा फल दर्शन से और—

समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् । (ब्राह्म०)

इस वेद प्रमाण से भी ॥१॥

(सांख्य० अध्या० ५ सू० १ में) "श्रुतितः" इस पद से। "समाप्तिकामः" इस ब्राह्मण वाक्य को ग्रहण करते हैं।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य । (सांख्य० अ० ५ सू० १२)

उपनिषद् भी प्रधान को ही संसार का उपादान कारण कहता है ॥१२॥ इस सूत्र में श्रुति से उपनिषद् का भी ग्रहण होता है। इससे साबित होता है कि कपिल महर्षि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और महर्षि वेदव्यास ने उपनिषदों को वेद मान करके ही अधोलिखित सूत्रों का निर्माण किया है। वे सूत्र ये हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । (शारीरकमीमां० अ० २ पा० १ सू० २७)

परात्तु तच्छ्रुतेः । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४०)

भेदश्रुते वैलक्षण्याच्च । (शा० मी० अ० २ पा० ४ सू० १६)

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।

(शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ६)

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । (शा० मी० ३।२।७)

भूतेषु तच्छ्रुतेः । (शा० मी० अ० ४ पा० २ सू० ५)

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः । (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० ५)

यहां पर उपनिषद् जो ब्राह्मणों का भाग है उसको श्रुति मान कर इन सूत्रों को व्यास जी ने बनाया है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि वेदव्यास मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और मनु भगवान ने भी कहा है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।

(मनु० अ० ६ श्लो० २६)

दीक्षा युक्त ब्राह्मण वन में निवास करता हुआ आत्मज्ञान सिद्धि के लिये इन नियमों को तथा अन्य नियमों को और अनेक उपनिषदों की श्रुतियों को विचार करे ॥२६॥ इस श्लोक में "औपनिषदीः श्रुतीः" ऐसा पद है। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि मनु मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और पाणिनि महर्षि ने भी कहा है कि—

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । (पा० व्या० अ० २ पा० ३ सू० ६२)

इस सूत्र में "छन्दसि" इस पद से मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का ग्रहण होता है। और कात्यायन महर्षि ने कहा है—

षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम् । (वार्तिक)

इस वार्तिक में भी पूर्वोक्त सूत्र से "छन्दसि" पद आता है जिससे मंत्र तथा ब्राह्मण इन दोनों का ग्रहण होता है। अत एव इसका उदाहरण श्री पतञ्जलि महर्षि ने दिया है कि—

या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति तस्या इति प्राप्ते। या मलवद्वाससं संधत्ते तस्यै जायते अभिशस्तः। यारण्ये तस्यै स्तेनो या स्नाति तस्या अप्सु मारुको याभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या दतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादको जायते।

(महाभाष्य अ० २ पा० ३ आह्नि०)

जो स्त्री तीन रात्रि रजस्वला समय में छोटे पात्र से जल पीती है उसका छोटा यानी नांटा लड़का होता है। जो मल वाला वस्त्र धारण करती है उसका लड़का अभिशस्त होता है। और जो जंगल में रजस्वला हो जाती है उसका चोर लड़का होता है। जो रजस्वला स्नान करती है उसका जल में जीव मारने वाला लड़का उत्पन्न होता है। जो देह में तेल अबटन लगाती है उसका दुश्चर्म वाला लड़का होता है। जो रजस्वला समय में दांत को धोती है उसका काला दांत वाला लड़का उत्पन्न होता है। जो नखों को काटती है उसका कुनखी लड़का होता है और जो रजस्वला समय में पत्ता से पानी आदिक पिती है उसका पागल लड़का उत्पन्न होता है। ये सब वाक्य प्रायः ब्राह्मण भाग के हैं। इससे यह साबित होता है कि महर्षि पाणिनि तथा कात्यायन और श्री पतञ्जलि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को वेद मानते हैं। और जैसे श्री पतञ्जलि महर्षि ने महाभाष्य के आदि में—

अथ शब्दानुशासनम्। (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

ऐसा कहकर स्वयं व्याख्यान किया है कि—

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः। (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

अथ यह शब्द प्रारम्भ का वाचक है यानी अधिकारार्थक है ॥१॥ इत्यादि तो भी सब वादी लोग महाभाष्य के व्याख्यान को महाभाष्य मानते हैं। वैसे ही वेद का भी व्याख्यान वेद ही है ॥२॥

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा-महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्र-

श्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥३॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(भूः) भूः (इति) यह व्याहृति (वै) निश्चय करके (प्राणः) प्राण है (भुवः) भुवः (इति) यह व्याहृति (अपानः) अपान है (सुवः) स्वः (इति) यह व्याहृति (व्यानः) व्यान है (महः) महः (इति) यह महा व्याहृति (अन्नम्) अन्न है (अन्नेन) अन्न से (वाव) निश्चय करके (सर्वे) समस्त (प्राणाः) प्राण (महीयन्ते) वृद्धि को प्राप्त होते हैं (वै) निश्चय करके (ताः) वे (एताः) ये (चतस्रः) चारों (व्याहृतयः) व्याहृतियां (चतस्रः) चार (चतस्रः) चार (चतुर्धा) चार प्रकार के यानी सब सोलह प्रकार के हैं (यः) जो उपासक (ताः) उन सब व्याहृतियों को (वेद) यथार्थ जानता है (सः) वह पुरुष (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को जानता है (अस्मै) इस भगवदुपासक के लिये (सर्वे) समस्त इन्द्रादिक (देवाः) देवता (बलिम्) भेंट को (आवहन्ति) सब ओर से समर्पण करते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में चारों व्याहृतियों को चार चार प्रकार से प्रयुक्त करके उपासना करने वालों के लिये फल बताया गया है। भूः यह व्याहृति प्राण है और भुवः यह व्याहृति अपान है तथा स्वः यह व्याहृति व्यान है। प्राणादि के विषय में लिखा है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते। (प्रश्नोप० प्रश्न० ३ श्रु० ५)

मलद्वार और मूत्रद्वार में अपान रहता है और अपने आप प्राण मुख तथा नांक से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है ॥५॥

अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। तासु व्यानश्चरति।

(प्रश्नोप० प्रश्न० ३ श्रु० ६)

इस हृदय में एक सौ मूलभूत प्रधान नाड़ियां हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़ियां हैं। प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर

बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियां हैं। इस प्रकार इस शरीर में सब मिला कर बहत्तर करोड़ नाड़ियां हैं। इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है ॥६॥ और महः यह चौथी महाव्याहृति अन्न है क्योंकि अन्न से ही समस्त प्राण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अन्न के विषय में लिखा है—

अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। (तैत्तिरीयोप० वल्ली २ अनुवा० २)

अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होकर अन्न से ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह अन्न प्राणियों को खाता है। इसी से वह अन्न कहा जाता है ॥२॥

पचाम्यन्नं चतुर्विधम्। (भ० गी० अ० १५ श्लो० १४)

भक्ष्य १, भोज्य २, चोष्य ३, और लेह्य ४, इस चार प्रकार के अन्न को मैं पकाता हूँ ॥१४॥ भूः, भुवः और स्वः यह तीन व्याहृति हैं कहीं तो "स्वः" ऐसा व्याहृति का आकार होता है और कहीं "सुवः" ऐसा आकार होता है। अर्थ का भेद नहीं क्योंकि वेद के प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थ में स्वः के स्थान में सुवः और स्वर्ग के स्थान में सुवर्ग ऐसा शब्द प्रयोग होता है। इन तीन व्याहृतियों के विषय में लिखा है—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः।

(छान्दोग्योप० अध्या० ४ खं० १७ श्रु० १)

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥२॥ स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥३॥

प्रजापति ने लोकों को लक्ष्य बनाकर ध्यान रूप तप किया उन तप किये जाते हुए लोकों से उसने रसों को निकाला पृथिवी से अग्नि को तथा अन्तरिक्ष से वायु को और दिव लोक से आदित्य को निकाला ॥१॥ फिर प्रजापति ने इन अग्नि वायु आदित्य तीन देवताओं को लक्ष्य करके

तप किया उन तप किये जाते हुए देवताओं से उसने रसों को निकाला अग्नि से ऋग्वेद को तथा वायु से यजुर्वेद को और आदित्य से सामवेद को ग्रहण किया ॥२॥ फिर प्रजापति ने इस ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद रूप त्रयी विद्या को लक्ष्य करके तप किया उस तप की जाती हुई त्रयी विद्या से उसने रसों को निकाला ऋग्वेद की श्रुतियों से भूः तथा यजुर्वेद की श्रुतियों से भुवः और सामवेद की श्रुतियों से स्वः इन रसों को ग्रहण किया ॥३॥ और माहाचमस्य ऋषि ने "महः" को पहले पहल जाना इन भूः, भुवः, स्वः, महः, चार व्याहृतियों से चतुष्पाद परब्रह्म नारायण की उपासना करे। पूर्वोक्त चार व्याहृतियों के फिर चार चार भेद होने से कुल सोलह हैं। अर्थात् भूः का पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, और प्राण ये चार भेद हैं। तथा भुवः का अन्तरिक्ष, वायु, सामवेद, और अपान ये चार भेद हैं। तथा स्वः का स्वर्ग, आदित्य, यजुर्वेद, और व्यान, ये चार भेद हैं। तथा महः का आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म, और अन्न ये चार भेद हैं। इन सोलहों को यथार्थ रूप से समझ कर जो उपासक सोलह कला वाला पर पुरुष की उपासना करता है तो उसे परमेश्वर का प्यारा समझ कर समस्त इन्द्रादिक देवता लोग भगवदुपासक के लिये सब ओर से भेंट समर्पण करते हैं। इस श्रुति में वेदन का अर्थ उपासना है क्यों कि लिखा है—

वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्। (बोधायनवृ०)

उपासना के विषय में श्रवण होने से वेदन का अर्थ उपासना ही समझना चाहिये।

उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च। (बोधायनवृ०)

दर्शन और निर्वचन होने से ध्रुवानुस्मृति को उपासना कहते हैं। यहां शीक्षावल्ली का पांचवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥३॥

॥ अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः।

यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि ॥१॥

अन्वयार्थ—(अन्तर्हृदये) हृदय के भीतर (आकाशः) आकाश है (तस्मिन्) उस दहराकाश में (यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) परब्रह्म नारायण हैं (सः) वह नारायण (मनोमयः) मनोमय हैं (अयम्) यह परब्रह्म नारायण (अमृतः) मरणधर्म रहित (हिरण्मयः) हिरण्मयाकार हैं (यः) जो (एषः) यह (तालुके) दोनों तालुओं के (अन्तरेण) बीच में (स्तनः) स्तन के (इव) समान (अवलम्बते) लटक रहा है (यत्र) जहां (असौ) वह (केशान्तः) केशों का मूल स्थान ब्रह्मरन्ध्र (विवर्तते) विभाग करके रहता है (शीर्षकपाले) मस्तक के दोनों कपालों को (व्यपोह्य) चीर करके निकली हुई जो सुषुम्ना नाड़ी है (सा) वह (इन्द्रयोनिः) परमात्मा की प्राप्ति का द्वार है अन्तकाल में भगवान की उपासना करने वाला (भूः) भूः (इति) इस व्याहृति के अर्थ रूप (अग्नौ) अग्नि में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है तदनन्तर (भुवः) भुवः (इति) इस व्याहृति के अर्थ रूप (वायौ) वायु में स्थित होता है तदनन्तर (सुवः) स्वः (इति) इस व्याहृति के अर्थ रूप (आदित्ये) आदित्य में स्थित होता है उसके बाद (महः) महः (इति) इस व्याहृति के अर्थ रूप (ब्रह्मणि) परब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ—पांचवें अनुवाक में जिस परब्रह्म नारायण की उपासना को प्रतिपादन किया गया है वह सर्वान्तर्यामी पुरुष कहां है। और परमेश्वर की उपासना करने वाला किस मार्ग से परब्रह्म नारायण को प्राप्त करता है। इसी बात को इस श्रुति में बतलाया गया है कि हृदय के भीतर दहराकाश है। हृदय का लक्षण लिखा है कि—

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्।
अधो निष्ठ्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति।
हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥
(तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठक० १० अनुवा० ११ श्रु० ८)

श्वेत कमल के आकार वाला तथा ऊंचे नाल और नीचे मुख वाला तथा सब विश्व के प्राणों का बड़ा आश्रय अनेकों नाड़ियों के छिद्र वाला जो मांस का पिण्ड नाभि से ऊपर एक बीता के भितर नीचे रहता है उसी को हृदय जानना चाहिये ॥८॥ उस हृदय के दहराकाश में मरण धर्मरहित अविनाशी मनोमय हिरण्मयाकार वह परब्रह्मनारायण हैं क्योंकि लिखा है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

(कठोप० अ० २ व० ३ श्रु० १७) (श्वेताश्व० अ० ३ श्रु० १३)

सबका अन्तर्यामी अंगूठे के समान परिमाण वाला परम पुरुष नारायण सदैव सभी मनुष्यों के हृदय में भलीभांति प्रविष्ट है ॥१७॥१३॥

आत्मान्तर्हृदये। (छान्दो० उ० अ० ३ खं० १४ श्रु० ४)

परमात्मा हृदय के भीतर रहता है ॥४॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

(भग० गी० अ० १८ श्लो० ६१)

हे अर्जुन सर्वेश्वर नारायण सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित हैं ॥६१॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः। (छा० उ० अ० ३ खं० १४ श्रु० २)

वह परमात्मा मनोमय तथा प्राण शरीरवाला प्रकाश स्वरूप है ॥२॥

एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः।

(छा० उ० अ० ८ खं० १ श्रु० ५)

यह परमात्मा पाप से शून्य तथा जरा हीन और मरणरहित है ॥५॥

हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः। (छा० उ० अ० १ खं० ६ श्रु० ६)

हिरण्मय पुरुष दिखायी देता है उसकी दाढ़ी सुवर्ण की है तथा केश भी सुवर्ण के हैं और नख से लेकर चोटी तक सबही हिरण्मय है ॥६॥

अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि "पुरुष" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है इसमें क्या प्रमाण है। इसका उत्तर यह लिखा है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः।

(ऋ० वे० अष्ट० ८ मण्डल १० अनु० ७ अध्या० ४ सूक्त ९० मं० १)

(यजुर्वे० अध्या० ३१ मं० १) (सामवे० पूर्वार्चिक प्रपाठक ६ सूक्त १३ मं० ३)

हजारों शिर वाला पुरुष परब्रह्म नारायण हैं ॥१॥१॥३॥

सहस्रबाहुः पुरुषः । (अथर्व० काण्ड० १९ अनुवा० १ सूक्त० ६ मं० १)

हजारों भुजा वाला परम पुरुष नारायण है ॥१॥

पुरुषान्न परं किञ्चित् । (कठोप० अ० १ व० ३ श्रु० ११)

परब्रह्म नारयण से श्रेष्ठ कोई नहीं है ॥११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

(कठो० अ० २ व० ४ श्रु० १२)

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ॥१३॥

अंगुष्ठ परिमाण अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण आत्मा के मध्य में स्थित है ॥१२॥ अंगुष्ठ परिमाण अन्तर्यामी नारायण धुएं से रहित प्रकाश के समान देह में स्थित है ॥१३॥

इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ।

(प्रश्नो० प्रश्न० ६ श्रु० ५)

परब्रह्म नारायण की ओर जाने वाली यह सोलह कला नारायण को प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं ॥५॥

येनाक्षरं पुरुषं वेद । (मुण्ड को० मु० १ खं० २ श्रु० १३)

जिससे अविनाशी परब्रह्म नारायण को जानता है ॥१३॥

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ।

(मुण्डको० मु० ३ खं० २ श्रु० १)

जो निष्काम बुद्धिमान् परब्रह्म नारायण की उपासना करते हैं वे निश्चय जन्म को लांघ जाते हैं ॥१॥

य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते ।

(छा० उ० अ० १ प्रपा० १ खं० ७ श्रु० ५)

जो यह नेत्र के भीतर परब्रह्म नारायण देखा जाता है ॥५॥

य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते । (छा० उ० अ० ४ खं० १२ श्रु० १)

जो यह चन्द्रमा में परब्रह्म नारायण देखा जाता है ॥१॥

योसावसौ पुरुषः । (बृहदा० उ० अध्या० ५ ब्रा० १५ श्रु० १)

जो सूर्यमण्डल में वह परब्रह्म नारायण है ॥१॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । (श्वेता० उ० अ० ३ श्रु० ८)

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥

उस महान् परब्रह्म नारायण को मैं जानता हूँ ॥८॥ उस परब्रह्म नारायण से यह समस्त जगत् पूर्ण है ॥९॥

पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत । (नारायणो० श्रु० १)

निश्चय करके परब्रह्म नारायण ने इच्छा किया ॥१॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषम् । (तैत्तिरीयार० प्रपा० १० अनुवा० १२)

ऋत सत्य परब्रह्म नारायण को ॥१२॥

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते योऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः । (शतपथ० १३।६।२।१)

इन लोकों में पूर्ण होने से और इस शरीर में शयन करने से यह नारायण पुरुष है ॥१॥

अनेन विधिना कृत्वा स्नपनं पुरुषस्य तु ।
दत्वा पायसमन्नं च शेषं परिसमापयेत् ॥

(बौधायनसूत्र विष्ण्वाराधनप्रकरण)

इस विधि से परब्रह्म नारायण का स्नपन करके और पायसान्न को निवेदन करके शेष क्रिया को समाप्त करे ।

स्वहृदयस्यावाङ्मुखस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत् ।

(विष्णुस्मृ० अध्या० ९८)

अवाङ्मुख अपने हृदय कमल के मध्य में दीप के समान परब्रह्म नारायण का ध्यान करे ॥९८॥

एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्त्याव्यक्तः सनातनः । (शङ्खस्मृ० अध्या० ७)

यह परब्रह्म नारायण निश्चय करके व्यक्ति से अव्यक्त सनातन है ॥७॥

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।

(गी० अ० १० श्लो० १२)

सब ऋषिगण आपको—सनातन दिव्य सब देवों का आदि देव अजन्मा सर्वव्यापी परब्रह्म नारायण कहते हैं ॥१२॥

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे । (गी० अ० ११ श्लो० १८)

त्वमादि देवः पुरुषः पुराणः ॥३८॥

आप सनातन परब्रह्म नारायण हैं ऐसा मेरा मत है ॥१८॥ आप आदिदेव सनातन परब्रह्म नारायण हैं ॥३८॥

अव्ययः पुरुषः साक्षी । (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० २)

अव्यय १, पुरुष २, साक्षी ३, नारायण के नाम हैं ॥२॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।

(महाभा० शान्तिप० भीष्मस्तवरा० श्लो० ४३)

बड़े अन्धकार से परे अति तेजस्वी परब्रह्म नारायण हैं ॥४३॥

युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ।

(महाभार० शान्तिप० गजेन्द्रमोक्ष० श्लो० ७५)

युगान्त में रहने वाले सनातन सर्व व्यापी उस वासुदेव परब्रह्म नारायण के शरण मैं प्राप्त करता हूं ॥७५॥

प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् । (वाल्मीकिरामा०)

प्राणायाम से जनार्दन परब्रह्म नारायण को चिन्तवन करती हुई ।

पुरुषस्यांशसंभूतं त्वां वयं निरणैष्महि । (हरिवंश)

हम परब्रह्म नारायण के अंश से उत्पन्न आप को निर्णय करते हैं ।

तत्र गत्वा जगन्नाथं वासुदेवं वृषाकपिम् ।

पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः । (श्रीमद्भागवत)

वहां पर जाकर वृषाकपि अखिल ब्रह्माण्ड नायक सर्व व्यापक परब्रह्म नारायण को समाहित होकर पुरुष सूक्त से उपस्थान किये ।

अथवा पुरुषसूक्तेन पुरुषं नित्यमर्चयेत् । (अग्निपुराण)

अथवा पुरुष सूक्त से नित्यप्रति परब्रह्म नारायण की पूजा करे ।

सर्व लोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः ।

तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक् । (नरसिंहपुरा०)

अखिल ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म नारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं उस कमलनयन परब्रह्म नारायण के विना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है।

पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः।
शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते॥
यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते स पुरुषो हरिः।
यदि वा पुरुवासीति पुरुषः प्रोच्यते हरिः॥
यदि वा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषं विदुः।
यदि वा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते॥
पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः।
पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते॥
यद्वा पुरुषशब्दोऽयं रूढ्या वक्ति जनार्दनम्। (पद्मपुराण)

पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान् पुरुष हैं। शकार को षकार पुरुष शब्द में व्यत्यय से प्रयोग किया जाता है।

अथवा इस शरीर में नारायण भगवान् रहते हैं इससे पुरुष कहे जाते हैं। या शरीर में निवास करते हैं इससे परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं। अथवा इस संसार में पहले से नारायण भगवान् थे इससे महर्षि लोग उनको पुरुष जानते हैं। या बहुत दान देने से ही विष्णु भगवान् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं। नारायण भगवान् के पूर्ण होने से विष्णु पुरुष कहे जाते हैं। अथवा सबसे पुराने होने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं। या पुराण के सेवन करने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं। अथवा यह पुरुष शब्द रूढ़ी से ही परब्रह्म नारायण को कहता है।

पुराण पुरुषो यज्ञः पुरुषः पुरुषोत्तमः।

(अभिधानकोश)

पुराण पुरुष १, यज्ञ २, पुरुष ३, और पुरुषोत्तम ४ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं। ये श्रुति स्मृति इतिहास पुराण और कोश प्रमाण हैं कि "पुरुष" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण है। छठवें अनुवाक के इस

पहले अंश में उपास्य परब्रह्म नारायण के हिरण्मयाकार और हृदय स्थान बतलाया गया है। अब इस अनुवाक के दूसरे अंश में भगवदुपासक के मोक्ष का मार्ग प्रतिपादन किया जाता है कि—मनुष्यों के मुख में तालुओं के बीचो बीच जो एक थन के आकार का मांस पिण्ड लटकता है उसके आगे केशों का मूल स्थान ब्रह्मरंध्र है वहां हृदय देश से निकल कर घांटी के भीतर से होती हुई दोनों कपालों को भेद कर गयी हुई जो सुषुम्ना नाम से प्रसिद्ध नाड़ी है वही उन इन्द्र नाम से कहे जाने वाले परब्रह्म नारायण की प्राप्ति का द्वार है। क्यों कि लिखा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ॥ (कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १६)

हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियां हैं उन नाड़ियों के मध्य में एक सुषुम्ना नाड़ी मस्तक की ओर निकली हुई है उस सुषुम्ना ब्रह्म नाड़ी के द्वारा ऊपर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता हुआ परब्रह्म प्राप्ति पूर्वक स्व स्वरूप आविर्भाव लक्षण अमृत-मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१६॥ और ब्रह्मरंध्र के विषय में लिखा है—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ॥
(ऐतरेयोप० अध्या० १ खं० ३ श्रु० १२)

वह परमात्मा मस्तक की सीमा को यानी केशों के विभाग स्थान कपाल को विदीर्ण कर उस मार्ग से ही शरीर में प्रवेश किया है विदीर्ण किये जाने के कारण वह द्वार "विदृति" नाम से प्रसिद्ध है वह ब्रह्मरन्ध्र रूप द्वार परम आनन्द को देने वाला है ॥१२॥ अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि—"इन्द्रयोनिः" इस पद में इन्द्र शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण कैसे होता है। इसका उत्तर यह लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्वे० मण्डल० १ सूक्त १६ मं० ४६)

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक, सत्, इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण नारायण को कहते हैं ॥४६॥

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।

(ऋ० मण्डल ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)

परब्रह्म नारायण अपनी इच्छा से बहुत रूप धारण करता है ॥१८॥

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु । (ऋ० मण्डल ३ सू० ८ मं० ६)

श्री रामावतारधारी नारायण सीता देवी को निश्चय ग्रहण करें ॥६॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।

(तैत्तिरीयार० प्रपाठ० १० अनुवा० ११ श्रु० १४)

वही नारायण ब्रह्मा है वही शिव है वही इन्द्र है वही अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है ॥१४॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥

(कैवल्यो० खं० १ श्रु० ८)

वही नारायण ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है और निश्चय करके वही व्यापक विष्णु है, वही प्राण है, वही काल है, वही अग्नि है तथा वही चन्द्रमा है ॥८॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम ।
तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण ॥

(ऐतरेयोप० अध्या० १ खं० ३ श्रु० १४)

इस लिये जो इस शरीर को देखता है वह परमात्मा "इदन्द्र" नाम वाला है लोक में परमेश्वर "इदन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार "इदन्द्र" होने पर भी परब्रह्म नारायण की उपासना करने वाले व्यवहार के लिये "इन्द्र" इस परोक्ष नाम से पुकारते हैं क्योंकि पूज्यतम होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नाम लेने में उन्हें भय है ॥१४॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः ।

(ऐतरेयोप० अध्या० ३ खं० १ श्रु० ३)

यह नारायण ब्रह्मा है। यह इन्द्र है, यह प्रजापति है ॥३॥ इन श्रुतियों के प्रमाण से "इन्द्र" शब्द का अर्थ परब्रह्म नारायण होता है। अन्तकाल में

श्रीमन्नारायण की उपासना करने वाला वह महानुभाव ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से शरीर के बाहर निकल कर भूः इस व्याहृति के अर्थ रूप अग्नि में प्रतिष्ठित होता है इसके बाद भुवः इस व्याहृति के अर्थरूप वायु में स्थित होता है तदन्तर स्वः इस व्याहृति के अर्थरूप सूर्य में स्थित होता है इसके बाद महः इस व्याहृति के अर्थरूप ब्रह्म यानी नारायण को प्राप्त करके सदा के लिये वहां स्थित हो जाता है। भूः का और भुवः का तथा स्वः का क्रम से अग्नि तथा वायु और सूर्य अर्थ होता है। क्योंकि यह लिखा है—

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः॥
(तैत्तिरीयो० व० १ अनुवा० ५ श्रु० २)

भूः इस व्याहृति का अग्नि अर्थ है तथा भुवः का वायु अर्थ है और स्वः का सूर्य अर्थ है ॥२॥ और महः का ब्रह्म अर्थ होता है क्योंकि लिखा है—

मह इति ब्रह्म। (तै० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० २)

महः का अर्थ परब्रह्म नारायण होता है ॥२॥ प्रस्तुत श्रुति में "अग्नि" शब्द कह कर अर्चिरादि मार्ग का संकेत किया गया है। क्योंकि लिखा है—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः। (शारीरकमी० अ० ४ पा० ३ सू० १)

एक अर्चिरादि मार्ग से ही भगवद्भक्तों का परब्रह्म के पास गमन होता है क्योंकि सर्वत्र अर्चिरादि मार्ग ही की प्रसिद्धि है ॥१॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः।
(छान्दोग्योप० अ० ४ खं० १५ श्रु० ५)

स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥

इस उपासक के लिये शव कर्म करें अथवा न करें वह अर्चि अभिमानी देवता को ही प्राप्त होता है। फिर अर्चि अभिमानी देवता से

दिवसाभिमानी देवता को और दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को तथा शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायण के छः मासों को प्राप्त होता है। मासों से संवत्सर को संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होता है। वहां से अमानव पुरुष इसे ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग ब्रह्ममार्ग है। इससे जाने वाले पुरुष इस मानव मण्डल में नहीं लौटते हैं नहीं लौटते हैं ॥५॥६॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।

(बृह० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५)

वे जो इस प्रकार इसको जानते हैं तथा जो वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं वे ज्योति के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवता को दिन के अभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को और शुक्ल पक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रह कर चलता है उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। षण्मासाभिमानी देवताओं से देवलोक को देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् संबन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहकर भगवान को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥१५॥

स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् । (कौषीतकिब्राह्मणोप० अध्या० १ श्रु० ३)

वह परब्रह्म का उपासक इस देवयान मार्ग पर पहुँचकर पहले अग्नि लोक में आता है फिर वायु लोक में आता है वहां से सूर्य लोक में आता है

तदनन्तर वरुण लोक में आता है तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में आता है इन्द्रलोक से प्रजापति लोक में आता है और प्रजापति के लोक से परब्रह्म लोक में आता है ॥३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(गी० अ० ८ श्लो० २४)

अग्नि रूप ज्योति दिन शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छौ महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन परब्रह्म नारायण को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

अर्चिरहः सितपक्षानुदगयनाब्दौ च मारुतार्केन्दून् ।
अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः ॥

अर्चि १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८, वैद्युत पुरुष ९, वरुण १०, इन्द्र ११, प्रजापति १२, आतिवाहिक १३, यह अभियुक्त संगृहीत अर्चिरादि मार्ग है। पूर्वोक्त श्रुतियों के आधार पर महर्षि वेदव्यास ने अधो लिखित सूत्रों का निर्माण किया है। वे सूत्र ये हैं—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । (शारीरकमी० अ० ४ पा० ३ सू० १)

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् । (४।३।२)

तडितोऽधिवरुणस्सम्बन्धात् । (४।३।३)

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् । (४।३।४)

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः । (४।३।५)

जगद्गुरु भगवद्रामानुजाचार्य ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । (शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १)

के श्री भाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की शिक्षावल्ली के छटवें अनुवाक की पहली श्रुति के पूर्व खण्ड को उद्धृत किये हैं ॥१॥

आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् ।
वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो-

भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्मप्राणारामं मन-आनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥२॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(स्वाराज्यम्) स्वाराज्य को (आप्नोति) भगवदुपासक प्राप्त कर लेता है (मनसस्पतिम्) मन के स्वामी को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (वाक्पतिः) वाणी का स्वामी हो जाता है (चक्षुष्पतिः) नेत्रों का स्वामी हो जाता है (श्रोत्रपतिः) कानों का स्वामी हो जाता है (विज्ञानपतिः) विज्ञान का स्वामी हो जाता है (ततः) उस पहले बताये हुए साधन से (एतत्) यह फल (भवति) होता है (आकाशशरीरम्) आकाश शरीर वाला (सत्यात्मप्राणारामम्) सत्यस्वरूप जीवात्मा के और प्राणों के आराम देने वाला (मन आनन्दम्) मन को आनन्द देने वाला (शान्तिसमृद्धम्) शान्ति से पूर्ण सम्पन्न (अमृतम्) मरण धर्म से रहित (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (प्राचीन योग्य) हे प्राचीन योग्य शिष्य (इति) इस प्रकार (उपास्स्व) तू उपासना कर ॥२॥

विशेषार्थ—वह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित पुरुष कैसा होता है यह इस श्रुति के पूर्वार्ध में बतलाया जाता है कि—भगवान की उपासना करने वाला ब्रह्मलोक में स्वाराज्य को पाकर स्वराट् बन जाता है। और मन आदिक समस्त अन्तः करण को वश में रखने से मन आदि का स्वामी हो जाता है। क्योंकि लिखा है—

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ।

(वराहोप० अध्या० १ श्रु० ४)

मन, बुद्धि, अहंकार, और चित्त ये अन्तःकरण चतुष्टय हैं ॥४॥
और मन के विषय में लिखा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

(शाट्यायनीयोप० श्रु० १)

समासक्तं सदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥२॥

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष में कारण मन ही है विषयासक्त मन बन्धन के लिये और विषय रहित मन मोक्ष के लिये कहा गया है॥१॥ प्राणियों का चित्त सदा विषय में अत्यन्त आसक्त रहता है यदि इस प्रकार परब्रह्म नारायण में चित्त अत्यन्त आसक्त हो जाय तो कौन प्राणी बन्धन से नहीं छूट जायेगा ॥२॥ और वाणी आदि समस्त कर्मेन्द्रियों को वश में रखने से वाणी आदि का स्वामी हो जाता है। क्योंकि लिखा है—

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात् ।
(वरा० उ० अ० १ श्रु० ३)

वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३॥ और श्रोत्र नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखने से कान आंख आदि का स्वामी हो जाता है। क्योंकि लिखा है—

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः ।
(वरा० उ० अ० १ श्रु० २)

श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, रसना, त्वचा, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं ॥२॥ और परब्रह्म की प्राप्ति होने से विज्ञान का भी स्वामी हो जाता है। उस पहले बताये हुए साधन से यह उपर्युक्त फल मिलता है। अब उपास्य परब्रह्म नारायण का स्वरूप प्रतिपादन करती हुई यह श्रुति उपासना का विधान करती है आकाश शरीर वाला सत्य स्वरूप और प्राणों के आराम देने वाला मन को आनन्द देने वाला शान्ति से पूर्ण संपन्न परब्रह्म नारायण को हे प्राचीनयोग्य शिष्य इस प्रकार समझ कर तू उपासना कर। परब्रह्म का आकाश शरीर है। क्योंकि लिखा है—

यस्याकाशः शरीरम्। (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० १२) (सुबा० खं० ७)

जिस परब्रह्म नारायण का आकाश शरीर है ॥१२॥७॥

विजरो विमृत्युः। (छां० उ० अ० ८ खं० ७ श्रु० १)

वह परब्रह्म जरा और मरण से रहित है ॥१॥ और ब्रह्म के विषय में लिखा है—

यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म ॥

(तैत्तिरी० उ० व० ३ अनुवा० १ श्रु० १)

जिससे ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं तथा जिस करके जीवित रहते हैं और जिससे प्रलय होते हैं तथा जिसके द्वारा मुक्त हो जाते हैं उसी को विशेष रूप से जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है ॥१॥

जन्माद्यस्य यतः। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २)

इस ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् के जिससे उत्पत्ति पालन और संहार आदिक होते हैं वही ब्रह्म है ॥२॥ प्रकृत श्रुति के अन्त में हे प्राचीन योग्य तू नारायण की उपासना कर यह आचार्य की सूक्ति उपासना के गौरव के लिये है। उपासना के विषय में लिखा है—

ओमित्येवात्मानं ध्यायथ। (मुण्डकोप० मु० २ खं० २ श्रु० ६)

प्रणव से परमात्मा का ध्यान करो ॥६॥

आत्मानमेव लोकमुपासीत (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ४ श्रु० १५)

प्रकाशमान परमात्मा की उपासना करे ॥१५॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० उ० अ० ३ खं० १८ श्रु० १)

मनोमय ब्रह्म की उपासना करे ॥१॥ वेदन निदिध्यासन उपासन ये पर्याय वाचक शब्द हैं। क्योंकि लिखा है—

वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्। (बोधायनवृ०)

वेदन को ही उपासना जानना चाहिये क्योंकि श्रुतियों में वेदन के विषय में ही उपासना सुनाती है।

उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च। (बोधायनवृ०)

दर्शन और निर्वचन से उपासना ही ध्रुवानुस्मृति कही जाती है। यहां शीक्षावल्ली का छठवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥२॥

॥ अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्नि-र्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो-

वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति ॥१॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(पृथिवी) पृथिवी लोक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (द्यौः) स्वर्ग लोक (दिशः) दिशाएँ (अवान्तरदिशः) दिशाओं के बीच के कोण यह पांच लोकों की पङ्क्ति है (अग्निः) अग्नि (वायुः) वायु (आदित्यः) सूर्य (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणि) समस्त बृहस्पति आदि तारागण यह पांच देवताओं की पङ्क्ति है (आपः) जल (ओषधयः) ओषधियां (वनस्पतयः) वनस्पतियां (आकाशः) आकाश (आत्मा) स्थूल शरीर यह पांच स्थूल भूतों की पङ्क्ति है (इति) यह (अधिभूतम्) आधिभौतिक दृष्टि से वर्णन हुआ (अथ) अब (अध्यात्मम्) आध्यात्मिक दृष्टि से बतलाते हैं (प्राणः) प्राण (अपानः) अपान (व्यानः) व्यान (उदानः) उदान (समानः) समान यह पांच पांच प्राणादि वायु की पङ्क्ति है (चक्षुः) नेत्र (श्रोत्रम) कान (मनः) मन (वाक्) वाणी (त्वक्) त्वचा यह पांच इन्द्रियों की पङ्क्ति है (चर्म) चाम (मांसम्) मांस (स्नावा) नाड़ी (अस्थि) हड्डी (मज्जा) मज्जा यह पांच शरीर के धातुओं की पङ्क्ति है (एतत्) इसको (अभिविधाय) सम्यक् कल्पना करके (ऋषिः) मंत्रद्रष्टा ऋषि ने (अवोचत्) कहा (वै) निश्चय करके (इदम्) यह (सर्वम्) सब (पाङ्क्तम्) पांच संख्या वाला है (इति) इस प्रकार (पाङ्क्तेन) अध्यात्मिकपाङ्क्त से (एव) ही (पाङ्क्तम्) बाह्यपाङ्क्त को (स्पृणोति) पाङ्क्तोपासक पूर्ण करता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में अब पृथिवी आदि पाङ्क्तरूप से परब्रह्म नारायण की उपासना का वर्णन किया गया है। क्योंकि लिखा है—

पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः। (ब्राह्मण)

पङ्क्ति छन्द पांच पदों वाला है और यज्ञ पांच संख्या वाला पाङ्क्त है। पृथिवी लोक १, अन्तरिक्ष लोक २, स्वर्ग लोक ३, पूर्व पश्चिम आदि दिशाएं ४, और आग्नेय नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएं ५ यह पांच लोकों की आधिभौतिक पङ्क्ति है। भूलोक आदि के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। (योगद० अ० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृतिमेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। (व्यासभाष्य)

सूर्य में संयमन करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ उस भुवन का विस्तार सात लोक हैं। अवीचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक भू लोक है १, और सुमेरु की पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्ष लोक है २, तथा उससे परे पांच प्रकार के स्वर्ग लोक हैं ३, और तृतीय माहेन्द्र लोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है ४, और तीन प्रकार का ब्रह्म लोक है—जनलोक ५, तपलोक ६, और सत्यलोक ७।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

(मनु० अ० १२ श्लो० ९७)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण तथा पृथिवी लोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, ये तीनों लोक और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ये चारो आश्रम वेद पुरुष से पृथक् पृथक् प्रसिद्ध हुए हैं ॥९७॥

इत इदमिति यतस्तत् (दिश्यं लिङ्गम्)।

(वैशेषिकद० अध्या० २ आह्नि० २ सू० १०)

कार्यविशेषेण नानात्वम्। (वै० २।२।१३)

आदित्यसंयोगाद्भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च (प्राची) (वै० २।२।१४)

तथा (दक्षिणा) (प्रतीची) (उदीची) च। (वै० २।२।१५)

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि। (वै० २।२।१६)

यहां से यह है इस प्रकार के जो हैं वही दिशा के चिह्न है ॥१०॥ कार्य विशेष से अनेक दिशा है ॥१३॥ आदित्य से पहले संयोग होने से तथा भूतपूर्व होने से और भविष्य से तथा हुआ था इससे वह पूर्व दिशा है अर्थात् सबेरे जिधर सूर्य दिखायी पड़ता है वह पूर्व दिशा है ॥१४॥ वैसे ही दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशा को भी जानना चाहिये ॥१५॥ इस व्याख्यान से अग्निकोण, निर्ऋतिकोण, वायव्यकोण, और ईशानकोण का भी व्याख्यान हो गया ॥१६॥ अग्निदेव १, वायुदेव २, सूर्यदेव ३, चन्द्रमादेव ४, और समस्त बृहस्पति आदि तारागण ५ यह पांच देवताओं की पङ्क्ति है। अग्नि आदि देवताओं के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव ॥२०॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५)

नैरुक्त ये तीन देवता हैं अग्नि देवता पृथिवी स्थान में वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में और सूर्य देवता द्युस्थान में है ॥५॥ जल १, ओषधियां २, वनस्पतियां ३, आकाश ४, और स्थूल शरीर ५ यह पांच स्थूल भूतों की आधिभौतिक पङ्क्ति है जल के विषय में लिखा है—

रूपरसस्पर्शवत्य (आपो) द्रवाः स्निग्धाः।

(वैशे० द० अ० २ आह्नि० १ सू० २)

रूप, रस स्पर्शवाला और द्रव तथा स्निग्ध जल होता है ॥२॥

शीतता। (वै० द० अ० २ आह्नि० २ सू० ५)

जल में शीतलता रहती है ।।५।। ओषधि और वनस्पति का लक्षण लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । (मनु० अ० १ श्लो० ४६)
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।।४७।।

बहुत फूल और फल से संयुक्त हो तथा फल के पकने से नष्ट हो जाय उस यव आदिक को ओषधि कहते हैं ।।४६।। जिसमें विना फूल के फल हो जाय उस गूलर आदिक पेड़ को वनस्पति कहते हैं ।।४७।। और आकाश के विषय में लिखा है—

त आकाशे न विद्यन्ते । (वै० द० अ० २ आह्नि० १ सू० ५)
निष्क्रमणं प्रवेशनमिति आकाशस्य लिङ्गम् । (वै० द० २।१।२०)
परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य । (वै० २।१।२७)

रूप रस गन्ध स्पर्श ये आकाश में नहीं हैं ।।५।। निकलना और प्रवेश करना यह आकाश का चिह्न है ।।२०।। सबसे बचा हुआ शब्द गुण आकाश का चिह्न है ।।२७।। शरीर के विषय में लिखा है—

देहत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधाः । (वराहोप० अ० १ श्रु० ६)

स्थूल सूक्ष्म और कारण भेद से शरीर तीन प्रकार का बुधजन जानते हैं ।।६।। यह सब पूर्वोक्त मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त है । इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक—शरीर के भीतर रहने वाला पाङ्क्त है । इसमें प्राण १, अपान २, व्यान ३, उदान ४, और समान ५ यह पांच प्राण आदिक वायु की पङ्क्ति है । प्राणादिक के विषय में लिखा है—

हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्व शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ।।

(योगचूडामण्यु० श्रु० २४)

हृदय में सदा प्राणवायु रहता है और गुदामण्डल में अपानवायु रहता है तथा नाभि देश में समान वायु रहता है और कण्ठ के मध्य में उदान वायु रहता है तथा सब शरीर में व्यान वायु रहता है इस प्रकार से

ये प्राणादि पांच वायु प्रधान हैं ॥२४॥ नेत्र १, श्रोत्र २, मन ३, वाणी ४, और त्वचा ५ यह पांच इन्द्रियों की पङ्क्ति है। मन के विषय में लिखा है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च (मनसोलिङ्गम्)

(वै० द० अ० ३ आह्नि० २ सू० १)

आत्मा और इन्द्रियों के अर्थों का संयोग होने पर ज्ञान के भाव और अभाव होना मन के चिह्न है ॥१॥ चर्म १, मांस २, नाड़ी ३, हड्डी ४, और मज्जा ५ यह पांच शरीर गत धातुओं की पङ्क्ति है। पङ्क्ति का समूह ही पाङ्क्त कहा जाता है। इस प्रकार पाङ्क्तोपासना का भलीभांति विधान कर मंत्र द्रष्टा ऋषि ने कहा। ऋषि के विषय में लिखा है—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् सन्नियतं यस्मिन्ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥

(वायुपुरा० अ० ५६ श्लो० ७६)

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेष स्वयंभूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥८१॥

ऋष् धातु गमन श्रवण सत्य और तप इन अर्थों में प्रयुक्त होता है ये सब बातें जिसके अन्दर एक साथ निश्चित रूप से हों उसी का नाम ब्रह्मा ने ऋषि रक्खा है ॥७६॥ गत्यर्थक ऋष धातु से ही ऋषि शब्द की निष्पत्ति हुई है और आदिकाल में यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है इसी से इसकी ऋषि संज्ञा है ॥८१॥ निश्चय करके यह सब पांच संख्या वाला पाङ्क्त है इस प्रकार पाङ्क्तोपासक आध्यात्मिक पाङ्क्त से ही बाह्य पाङ्क्त को पूर्ण करता है। यह सब पाङ्क्त है ऐसा जो जानता है वह पुरुष प्रजापति को प्राप्त कर लेता है। यहां शीक्षावल्ली का सातवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदं सर्वम् । ओ-मित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति ।

ओमिति सामानि गायन्ति । ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥१॥

॥ इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(ओम्) ओम् (इति) यह (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण का बड़ा नाम है (ओम्) ओम् (इति) यह (इदम्) यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला (सर्वम्) समस्त जगत् है (ओम्) ओम् (इति) इस प्रकार का (एतत्) यह अक्षर (ह) ही (वै) निःसंदेह (अनुकृतिः) अनुकरण या अनुमोदन है (स्म) यह बात प्रसिद्ध है (अपि) इसके सिवा (ओ) हे आचार्य (श्रावय) मुझे सुनाइये (इति) इस प्रकार कहने पर (आश्रावयन्ति) ओम् ऐसा कह कर याज्ञिक लोग प्रति श्रवण कराते हैं (ओम्) ओम् (इति) ऐसा कह कर (सामानि) सामगायक विद्वान् सामवेद को (गायन्ति) गान करते हैं (ओम्) ओम् (शोम्) शोम् (इति) ऐसा कहकर (शस्त्राणि) शस्त्र शंसन करने वाले विद्वान् शस्त्रों को यानी गायन रहित ऋचाओं को (शंसन्ति) पढ़ते हैं (ओम्) ओम् (इति) ऐसा कहकर (अध्वर्युः) यज्ञ का यजुर्वेदी ऋत्विक् (प्रतिगरम्) प्रतिगर मंत्र को (प्रतिगृणाति) हर एक कथन के साथ बोलता है (ओम्) ओम् (इति) ऐसा कहकर (ब्रह्मा) यज्ञ का ब्रह्मा (प्रसौति) अनुमति देता है (ओम्) ओम् (इति) ऐसा कहकर (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र को करने के लिये (अनुजानाति) आज्ञा देता है (प्रवक्ष्यन्) अध्ययन करने के लिये उद्यत (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (ओम्) पहले ओम् (इति) ऐसा (आह) उच्चारण करता है (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (उपाप्नवानि) प्राप्त करूं (इति) इस प्रकार की इच्छा से भगवदुपासक ओम् नाम को उच्चारण करता है तो वह (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण को (एव) निश्चय करके (उपाप्नोति) प्राप्त करता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस अनुवाक में ओम् इस नारायण के नाम के प्रति भक्तों की श्रद्धा और रुचि अधिक बढ़ने के लिये प्रणव की महिमा का वर्णन किया गया है। और अन्यत्र भी प्रणव के विषय में लिखा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ० मण्डल १ सू० १६४ मं० ३९॥ श्वे० उ० अ० ४ श्रु० ८)

जिस प्रणव में समस्त देवगण भलीभांति स्थित हैं उस परम व्योम प्रणव अक्षर में संपूर्ण वेद स्थित हैं जो मनुष्य उस ओङ्कार को नहीं जानता है वह वेदों के द्वारा क्या सिद्ध करेगा परन्तु जो उस प्रणव को जानते हैं वे तो सम्यक् प्रकार से स्थित रहते हैं ॥३९॥८॥ इस श्रुति पर यास्काचार्य स्पष्ट लिखे हैं—

इति विदुष उपदिशति कतमत्तदेतदक्षरमोमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचो ह्यक्षरे परमे व्यवनेऽधीयन्ते नाना दैवतेषु च मंत्रेणैतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम्।

(निरु० अध्या० १३ पा० १ खं० १०)

जिस परम व्योम संज्ञक अक्षर में देवादि स्थित हैं सो अक्षर कौन है। ओम् यह वाक् परम उत्कृष्ट सबकी रक्षा करने वाला जो प्रणव है उसमें ही सम्पूर्ण ऋग्वेदादि मंत्र अध्ययन किये जाते हैं। और जो अनेक देवता हैं वे सब मंत्रों में स्थित हैं तथा मंत्रों में कारण होने से यह अक्षर व्याप्त है क्योंकि सर्व वेदत्रयी विद्या के प्रति यह अक्षर व्याप्त है ऐसा ब्राह्मण भी प्रतिपादन करता है। यह शाकपूणि नामक निरुक्तकार का मत है ॥१०॥

ओं खं ब्रह्म। (शुक्लय० अ० ४० मं० १८)

ओं खं ब्रह्म पदवाच्य नारायण हैं ॥१८॥

ओं क्रतो स्मर। (ईशोप० श्रु० १७)

हे ज्योतिष्टोमादि क्रतुस्वरूप हे ओम् पदवाच्य नारायण भगवन् मुझ अकिंचन भक्त को आप स्मरण करें ॥१७॥

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।

(कठोप० अ० १ व० २ श्रु० १६)

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

निश्चय करके इस ओम् अक्षर की उपासना करके जो उपासक जिस वस्तु की इच्छा करता है निश्चय करके उस उपासक को वही मिल जाता है ॥१६॥ इस ओम् आलम्बन को आचार्य से भलीभांति जानकर परब्रह्म के लोक में उपासक पूजित होता है ॥१७॥

तस्माद्विद्वानेतेनैवायतने नैकतरमन्वेति । (प्रश्नोप० प्रश्न० ५ श्रु० २)

तिस कारण से उपासक पुरुष इस ओंकार रूप मार्ग के अवलम्ब से निश्चय करके पर या अपर किसी एक ब्रह्म की उपासना करता है ॥२॥

ओमित्येवं ध्यायथात्मानं स्वस्ति वः ।
(मुण्डको० मु० २ खं० २ श्रु० ६)

ओम् इस नाम के द्वारा परब्रह्म नारायण का ध्यान करो इस प्रकार के ध्यान के लिये प्रवृत्त तुम लोगों के लिये कल्याण हो ॥६॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति ।
(छां० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १)

ओम् इससे अविनाशी उद्गीथ परब्रह्म नारायण की उपासना करे और निश्चय करके ओम् ऐसा गान करे ॥१॥

तद्बोभयं वै प्रणवेन देहे । (श्वे० उ० अ० १ श्रु० १३)

निश्चय करके देह में प्रणव द्वारा ब्रह्म और जीव इन दोनों को जानता है ॥१३॥

ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तम् । (अथर्वशिखो० श्रु० १)

ओम् यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ है ॥१॥

तस्मादोमित्यनेनैतदुपासिताजस्रमिति ।
(मैत्रायण्युप० प्रपाठ० ५ श्रु० ४)

इससे प्रणव द्वारा सर्वदा परब्रह्म नारायण की उपासना करे ॥४॥

ओङ्कारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ।
(ध्यानविन्दूप० श्रु० १४)

ओङ्कारप्रभवा देवा ओङ्कारप्रभवाः स्वराः ।
ओङ्कारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥१६॥

जो ओंकार को नहीं जानता है वह परब्रह्म नारायण का प्रिय नहीं होता है ॥१४॥ ओंकार से सब देवता उत्पन्न होते हैं तथा ओंकार से सब स्वर उत्पन्न होते हैं और ओंकार से चर अचर के साथ तीनों लोक उत्पन्न होते हैं ॥१६॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः । (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २)

जो ब्रह्मवादियों से कहा गया है वह ओम् यह व्यापक प्रधान अक्षर है ॥२॥

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।

जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे । (योगतत्त्वो० श्रु० ६३)

सर्वविघ्नहरो मंत्रः प्रणवः सर्वदोषहा ॥६४॥

इसके बाद एकान्त में बैठकर पूर्वजन्मार्जित पापों के नाश करने के लिये प्लुतमात्रा करके प्रणव को जपे ॥६३॥ सब विघ्न को और सब दोष को नाश करने वाला प्रणव है ॥६४॥

ओं प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् । (आत्मप्रबोधोप० श्रु० १)

ओं प्रत्यक् आनन्द है और वेद पुरुष प्रणव स्वरूप है ॥१॥

भूतं भवद्भविष्यद्यत्त्रिकालोदितमव्ययम् ।

तदप्योङ्कारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥

(नारदपरिव्रा० उ० उपदेश ८ श्रु० ३)

भूत भविष्य वर्तमान यह जो कुछ त्रिकालोदित विकार रहित वस्तु है वह भी ओङ्कार ही है इस ओङ्कार को मोक्ष देने वाला जानो ॥३॥

ओमित्यात्मानं युञ्जीत । (नारायणो० श्रु० ७६)

प्रणव से आत्मा को समर्पण करे ॥७६॥

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ॥

(योगचूडामण्यु० श्रु० ७७)

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।

न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥७८॥

प्रणव से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं प्रणव से इन्द्र उत्पन्न होते हैं प्रणव से रुद्र उत्पन्न होते हैं निश्चय करके प्रणव सबसे श्रेष्ठ है ॥७७॥ जो पवित्र या अपवित्र सब समय में ओङ्कार को जपता है वह जैसे जल से कमल पत्र नहीं लिप्त होता है वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता है ॥८८॥

प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म । (त्रिपाद्विभूति महानारायणोप० अ० १)

प्रणवात्मक से कहा हुआ परब्रह्म है ॥१॥

त्रयः कालास्त्रयो देवास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो वेदाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥

(योगशिखो० अ० ६ श्रु० ५७)

तीन काल तीन देवता तीन लोक तीन स्वर तीन वेद जहां पर स्थित हैं वह पर ज्योति ओम् यह है ॥५७॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । (सूर्योप०) ओम् यह एकाक्षर ब्रह्म है ।

ओङ्कारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् । (अद्युप० श्रु० ४३)

विश्वप्राज्ञ आदिक लक्षण संपूर्ण ओंकार है ॥४३॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यद्यच्चान्यत्तत्वमंत्रवर्ण देवता छन्दो ऋक्कलाशक्तिसृष्ट्यात्मकमिति ।

(तारसारोप० पाद० २ श्रु० ५)

ओम् यह अक्षर यह सब संसार है उसी का उपव्याख्यान भूत भविष्य वर्तमान है और अन्य जो तत्त्व, मंत्र, वर्ण, देवता, छन्द, ऋचा, कला, शक्ति, सृष्ट्यात्मक हैं सो ओंकार ही है ॥५॥

अक्षरोऽहमोङ्कारोऽयम् । (गोपालोत्तरता० उ० श्रु० ९)

यह ओंकार अक्षर मैं हूँ ॥९॥

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ।
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ॥ (शाट्या० उ० श्रु० १६)

जो सावधान होकर प्रणव मंत्र द्वारा अपनी आत्मा को ब्रह्माग्नि में हवन करता है तो सब यज्ञों से उत्तमोत्तम वह ज्ञान यज्ञ है ऐसा जानना चाहिये ॥१६॥

प्रणवः सर्व वेदेषु ॥ (गी० अ० ७ श्लो० ८)

सब वेदों में मैं प्रणव हूं ॥८॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् । (गी० अ० ८ श्लो० १३)

ओम् इस एक अक्षर रूप मेरे नाम को उच्चारण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता है वह परमगति को प्राप्त होता है ॥१३॥

वेद्यं पवित्रमोङ्कारः । (गी० अ० ९ श्लो० १७)

जानने योग्य पवित्र ओंकार मैं हूँ ॥१७॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

(गी० अ० १७ श्लो० २३)

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

ओम् तत् सत् ऐसा तीन प्रकार का वेद का निर्देश बतलाया गया है उसी से पहले ब्राह्मण वेद और यज्ञ रचे गये हैं ॥२३॥ इस लिये वेदपाठियों की शास्त्रोक्त यज्ञ दान और तप की क्रियाएँ सदा ओम् ऐसा उच्चारण करके हुआ करती हैं ॥२४॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यते ॥ (मनु० अ० २ श्लो० ७४)

वेदाध्ययन के प्रारम्भ में और समाप्ति में सर्वदा प्रणव को उच्चारण करे जिस वेदाध्ययन के प्रारम्भ में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह शनैः शनैः नष्ट हो जाता है और जिस वेदाध्ययन की समाप्ति में प्रणवोच्चारण नहीं किया जाता है वह अवस्थिति को ही नहीं प्राप्त करता है ॥७४॥

तस्य वाचकः प्रणवः । (योगद० अ० १ पा० १ सू० २७)

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

इस परमात्मा का वाचक प्रणव है ॥२७॥ प्रणव का जप करना

चाहिये और प्रणव का अर्थानुसंधान करना चाहिये ॥२८॥ ओम् यह परब्रह्म नारायण का बड़ा नाम है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला समस्त जगत् ओम् ही है। ओम् यह अनुकरण संमति सूचक संकेत है ऐसा प्रसिद्ध है। इसके सिवा हे आचार्य मुझे सुनाइये इस प्रकार कहने पर ओम् ऐसा कहकर याज्ञिक लोग प्रति श्रवण कराते हैं। सामवेद का गान करने वाले भी ओम् इस परमेश्वर के नाम को भलीभांति गान करके तब सामवेद का गान किया करते हैं। सामवेद के विषय में लिखा है—

गीतिषु सामाख्या। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६)

गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि। (गी० अ० १० श्लो० २२)

चारो वेदों में श्रेष्ठ मैं सामवेद हूँ ॥२२॥

साम्नः सहस्रशाखाः स्युः। (सीतोप०)

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।

(मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३)

सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः।

(कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१)

सहस्रवर्त्मा सामवेदः। (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक हजार शाखा सामवेद के हैं ॥१॥ और यज्ञकर्म में शस्त्र शंसन रूप कर्म करने वाले शास्ता नामक ऋत्विक् ओम् शोम् ऐसा कहकर ही शस्त्रों का यानी गीति रहित ऋचाओं का पाठ करते हैं। यज्ञ कर्म करने वाला यजुर्वेदी ऋत्विक् ओम् इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही प्रतिगर मंत्र को हर एक कथन के साथ बोलता है। यज्ञ का ब्रह्मा भी ओम् इस नाम को उच्चारण करके यज्ञ कर्म करने के लिये अनुमति देता है। और ओम् ऐसा कहकर ही अग्निहोत्र करने के लिये आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मण ओम् ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है कि—मैं परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लूं तो वह भगवदुपासक निश्चय करके परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि ब्राह्मण किसको कहते हैं। इसका उत्तर यह लिखा है—

यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भाषमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहङ्कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव । (वज्रसूचिकोप०)

जो कोई अद्वितीय आत्मा को जाति प्राकृत गुण क्रिया से रहित तथा षडूर्मि और षड्भावादि सब दोषों से हीन सत्य ज्ञान आनन्द अनन्त स्वरूप स्वयं निर्विकल्प अशेष कल्पाधार समस्त भूतों के अन्तर्यामी रूप से वर्तमान तथा सबके बाहर भीतर आकाश के समान व्याप्त अखण्डानन्द स्वभाव अप्रमेय अनुभव से एक जानने योग्य प्रत्यक्ष भाषमान करतलामलकवत् साक्षात् प्रत्यक्ष करके जानता है तथा कृतार्थ होने से काम रागादि दोष रहित जो है। और शम दम आदिक से संपन्न तथा भाव मात्सर्य तृष्णा आशा आदिक से रहित और दम्भ अहंकार आदिक से असंस्पृष्ट चित्त वाला इस प्रकार से उक्त लक्षण युक्त जो रहता है वह निश्चय करके ब्राह्मण है। ऐसा श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों का अभिप्राय है। अन्यथा ब्राह्मणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

सान्तपना इदं हविरित्येष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणो- यस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनिकृतानि भवन्ति स सान्तपनः । (गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग ब्रा० २३)

जिसका गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, गोदान, चूडाकरण, उपवीत, अग्निहोत्र, आप्लवन, व्रतचर्या आदिक संस्कार हुए हैं वह ब्राह्मण जाति और गुण कर्म से यथार्थ है

चाहिये और प्रणव का अर्थानुसंधान करना चाहिये ॥२८॥ ओम् यह परब्रह्म नारायण का बड़ा नाम है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला समस्त जगत् ओम् ही है। ओम् यह अनुकरण संमति सूचक संकेत है ऐसा प्रसिद्ध है। इसके सिवा हे आचार्य मुझे सुनाइये इस प्रकार कहने पर ओम् ऐसा कहकर याज्ञिक लोग प्रति श्रवण कराते हैं। सामवेद का गान करने वाले भी ओम् इस परमेश्वर के नाम को भलीभांति गान करके तब सामवेद का गान किया करते हैं। सामवेद के विषय में लिखा है—

गीतिषु सामाख्या । (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६)

गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि । (गी० अ० १० श्लो० २२)

चारों वेदों में श्रेष्ठ मैं सामवेद हूँ ॥२२॥

साम्नः सहस्रशाखाः स्युः । (सीतोप०)

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।

(मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३)

सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः ।

(कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१)

सहस्रवर्त्मा सामवेदः । (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक हजार शाखा सामवेद के हैं ॥१॥ और यज्ञकर्म में शस्त्र शंसन रूप कर्म करने वाले शास्ता नामक ऋत्विक् ओम् शोम् ऐसा कहकर ही शस्त्रों का यानी गीति रहित ऋचाओं का पाठ करते हैं। यज्ञ कर्म करने वाला यजुर्वेदी ऋत्विक् ओम् इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही प्रतिगर मंत्र को हर एक कथन के साथ बोलता है। यज्ञ का ब्रह्मा भी ओम् इस नाम को उच्चारण करके यज्ञ कर्म करने के लिये अनुमति देता है। और ओम् ऐसा कहकर ही अग्निहोत्र करने के लिये आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करने वाला ब्राह्मण ओम् ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है कि—मैं परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लूं तो वह भगवदुपासक निश्चय करके परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है। अब यहां पर यह प्रश्न होता है कि ब्राह्मण किसको कहते हैं। इसका उत्तर यह लिखा है—

यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो-दम्भाहङ्कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। (वज्रसूचिकोप०)

जो कोई अद्वितीय आत्मा को जाति प्राकृत गुण क्रिया से रहित तथा षडूर्मि और षड्भावादि सब दोषों से हीन सत्य ज्ञान आनन्द अनन्त स्वरूप स्वयं निर्विकल्प अशेष कल्पाधार समस्त भूतों के अन्तर्यामी रूप से वर्तमान तथा सबके बाहर भीतर आकाश के समान व्याप्त अखण्डानन्द स्वभाव अप्रमेय अनुभव से एक जानने योग्य प्रत्यक्ष भासमान करतलामलकवत् साक्षात् प्रत्यक्ष करके जानता है तथा कृतार्थ होने से काम रागादि दोष रहित जो है। और शम दम आदिक से संपन्न तथा भाव मात्सर्य तृष्णा आशा आदिक से रहित और दम्भ अहंकार आदिक से असंस्पृष्ट चित्त वाला इस प्रकार से उक्त लक्षण युक्त जो रहता है वह निश्चय करके ब्राह्मण है। ऐसा श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों का अभिप्राय है। अन्यथा ब्राह्मणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

सान्तपना इदं हविरित्येष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मणो-यस्य गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयनाप्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनिकृतानि भवन्ति स सान्तपनः। (गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग ब्रा० ३३)

जिसका गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, गोदान, चूडाकरण, उपवीत, अग्निहोत्र, आल्पवन, व्रतचर्या आदिक संस्कार हुए हैं वह ब्राह्मण जाति और गुण कर्म से यथार्थ है

वह सान्तपन अग्नि है और निश्चय करके उसी को ब्राह्मण कहते हैं ॥३३॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । (पा० व्या० अ० ५ पा० १ सू० ११५)

इस सूत्र पर महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति । अतश्च गुणसमुदाये एवं ह्याह ॥

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥१॥
तथा गौरः शुच्याचारः पिङ्गलः कपिलकेश इति । (महाभाष्य)

सब यह शब्द गुण समुदायों में वर्तते हैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इससे गुण समुदाय में इस प्रकार कहे हैं कि—तप करना, वेद पढ़ना, श्रेष्ठ ब्राह्मणी कन्या में जन्म होना, यह ब्राह्मण का लक्षण है। जो ब्राह्मण इन तपस्या और वेदाध्ययन करके हीन है केवल ब्राह्मण कुल में जन्म मात्र है वह जाति से ब्राह्मण है ॥१॥ और गौरवर्ण, पवित्राचरण, पिंगल, केश-कपिल होना यह भी ब्राह्मण के लक्षण हैं।

शान्ताः सन्तः सुशीलाश्च सर्वभूतहिते रताः ।
क्रोधं कर्तुं न जानन्ति एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥
सन्ध्योपासनशीलश्च सौम्यचित्तो दृढ़व्रतः ।
समः परेषु च स्वेषु एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥
एकाहारश्च सन्तुष्टः स्वल्पाशी स्वल्पमैथुनः ।
ऋतुकालाभिगामी च एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥
परान्नं परवित्तं च पथि वा यदि वा गृहे ।
अदत्तं नैव गृह्णाति एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥
योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम् ।
विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(आह्निक सू० स्मृ०)

शान्त रहना साधुपना सुशील होना सब प्राणियों के हित में तत्पर

रहना और क्रोध नहीं करना यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। संध्या वन्दन करना सौम्य चित्त रहना दृढ़व्रत होना और अपना तथा पराये में सम व्यवहार करना यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। एक बेला भोजन करना सर्वदा संतुष्ट रहना स्वल्प भोजन करना स्वल्प मैथुन करना और ऋतुकाल में अपनी स्त्री से विषय करना यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। दूसरे का अन्न और दूसरे का धन मार्ग में हो या घर में हो बिना दिया हुआ नहीं ग्रहण करना यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। योग, तप, दम, दान, सत्य, शौच, दया, वेदाध्ययन, विद्या, विज्ञान, और आस्तिकता यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। इन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त को ब्राह्मण कहते हैं। यहां शीक्षावल्ली का आठवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ नवमोऽनुवाकः ॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥१॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(ऋतम्) मन से यथार्थ विचार करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (सत्यम्) वाणी से यथार्थ बोलना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने)

वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (तपः) तप करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (दमः) अतःकरण का नियमन करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (शमः) बाहरी इन्द्रियों के नियमन करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (अग्नयः) अग्नियों का चयन (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (अतिथयः) अतिथियों की सेवा (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (मानुषम्) मनुष्योचित लौकिक व्यवहार (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (प्रजा) सन्तान उत्पन्न करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (प्रजनः) ऋतुकाल में अपनी स्त्री से समागम करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (प्रजातिः) पौत्र की उत्पत्ति के निमित्त पुत्र का विवाह करना (च) और (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (च) भी अवश्य करना चाहिये (राथीतरः) रथीतर ऋषि का पुत्र (सत्यवचा) सत्य भाषण करने वाला सत्यवचा नामक ऋषि (सत्यम्) सत्य भाषण करना चाहिये (इति) ऐसा कहते हैं (पौरुशिष्टिः) पुरुशिष्ट ऋषि का पुत्र (तपोनित्यः) तपोनिष्ठ तपोनित्य नामक ऋषि (तपः) तप करना चाहिये (इति) ऐसा कहते हैं (मौद्गल्यः) मुद्गल ऋषि का पुत्र (नाकः) नाक नाम वाला ऋषि (स्वाध्यायप्रवचने) वेदों का पढ़ना तथा पढ़ाना (एव) निश्चय करके सर्व श्रेष्ठ है (इति) ऐसा कहते हैं (हि) क्योंकि (तत्) वह पढ़ना (तपः) तप है (हि) क्योंकि (तत्) वह पढ़ाना (तपः) तप है ॥१॥

विशेषार्थ—इस अनुवाक में यह बतलाया जाता है कि—शास्त्र और अपने कर्तव्यानुसार बुद्धि में सम्यक् रूप से निश्चित किया हुआ ऋत और अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। स्वाध्याय के विषय में लिखा है

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । (यजुरारण्यक० प्रपाठक० २ अनुवा० १५)

स्वाध्याय अध्ययन करने योग्य है ॥१५॥

स्वाध्यायः सविभूतेः भगवतः तदाराधन प्रकारस्य च प्रतिपादकः कृत्स्नो वेदः इति अनुसंधाय वेदाभ्यासनिष्ठा ।

(रामानुजभाष्यगीता० अ० १६ श्लो० १)

समस्त वेद विभूतियों के सहित भगवान् का और उनकी आराधना के भेदों का प्रतिपादन करने वाले हैं यह समझ कर वेदाभ्यास में निष्ठा करने का नाम "स्वाध्याय" है ॥१॥

मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाक्योवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते । (शतप० अ० ११ प्रपा० ३ ब्रा० ८ कण्डिका० ८)

शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति हैं ब्रह्मविद्या आदि विद्याएं उत्तर प्रत्युत्तर रूप ग्रन्थ, इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी ये शासन करने वाले हैं। जो इनका स्वाध्याय करता है वह नित्य प्रति हव्य द्रव्य एवं कव्य द्रव्य से देव पितरादिकों को तृप्त करने का फल भागी होता है ॥८॥

अथ स्वाध्यायमधीयीत ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो-ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृताहुतिभिर्यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन् स्वधा उपचरन्ति यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या यत्सामानि मध्वः कुल्या यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या यद्ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहास-पुराणानीत्यमृतस्य कुल्याः स यावन्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति।

(आश्वलायनसूत्र० अ० ३ पञ्चयज्ञप्रकरण०)

इसका आशय यह है कि जो ऋग्वेदादि चारों वेदों को और ब्राह्मणादि ग्रन्थों को कल्प गाथादि सहित पढ़ते हैं उनके पितरों का स्वधा से अभिषेक होता है। ऋग्वेद के पढ़ने वालों के पितरों को दूध की छोटी

नदी यजुर्वेद के पढ़ने वालों के पितरों को घी की सामवेद के पढ़ने वालों के पितरों को मधु की अथर्व वेद के पढ़ने वालों के पितरों को सोम की और ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण के पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की छोटी सी नदी प्राप्त होती है ॥३॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च । (मनु० अ० ३ श्लो० २३२)

पितरों के कर्म में समस्त वेद और धर्मशास्त्र तथा आख्यान और इतिहास तथा पुराणों को सुनावे ॥२३२॥

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः । (योगद० अ० १ पा० २ सू० ४४)

स्वाध्याय से इष्ट देवता का संयोग होता है ॥४४॥ स्वाध्याय शब्द वाच्य वेद के अक्षर राशि के ग्रहण—

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । (यजुरारण्य० प्रपा० २ अनुवा० १५)

की श्रुति से विधान किया गया है। वह वेदाध्ययन कब कैसे करना चाहिये। इस विषय में स्पष्ट लिखा है—

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत् । (शतपथब्रा०)

आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे और उसको पढ़ावे।

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥

(मनु० अ० ४ श्लो० ९५)

श्रावण मास की पूर्णिमा के या भादो महीना के पूर्णवांसी तिथि के अपने गृह्य के विधि के अनुसार उपाकर्म को करके ब्राह्मण साढ़े चार महीना एकाग्रचित्त करके वेदों को पढ़े ॥९५॥

गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ (पाणिनीयशि० श्लो० ३२)

गीत गाकर वेद पढ़ने वाला १, अत्यन्त शीघ्रता से वेद पढ़ने वाला २, मस्तक को कँपाकर वेद पढ़ने वाला ३, अपने से लिखे हुए ग्रन्थ को देखकर वेद पढ़ने वाला ४, और अर्थ को नहीं समझ कर वेद पढ़ने वाला ५, तथा अल्पकण्ठ से वेद पढ़ने वाला ६, ये छः वेदपाठी अधम हैं ॥३२॥

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥ (पा० शि० श्लो० ३३)

मधुरता से वेद पढ़ना १, वेद के अक्षरों को स्पष्ट कहना २, वेद का पदच्छेद करके कहना ३, सुन्दर स्वर से वेद पढ़ना ४, धीरता से वेद पढ़ना ५, और वेदका लय से समर्थ होकर वेद पढ़ना ६, ये छः वेदपाठी श्रेष्ठ गुण वाले हैं ॥३३॥ प्रकृत अनुवाक में स्वाध्याय के साहचर्य से "प्रवचन" का अर्थ पढ़ाना ही होता है। वाणी से यथार्थ भाषण और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। सत्य के विषय में लिखा है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

वायु सत्य से चलता है सूर्य सत्य से द्युलोक में प्रकाशित होता है वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सब लोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर । तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् । (जाबालदर्श० उ० खं० १ श्रु० ६)

हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूंघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥६॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलयाधृतम् ।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥ (विष्णुस्मृ० ८)

हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । योगद० अ० १ पा० २ सू० ३६)

सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ॥३६॥ तपश्चर्या और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये तप के विषय में लिखा है—

नदी यजुर्वेद के पढ़ने वालों के पितरों को घी की सामवेद के पढ़ने वालों के पितरों को मधु की अथर्व वेद के पढ़ने वालों के पितरों को सोम की और ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास, पुराण के पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की छोटी सी नदी प्राप्त होती है ॥३॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च। (मनु० अ० ३ श्लो० २३२)

पितरों के कर्म में समस्त वेद और धर्मशास्त्र तथा आख्यान और इतिहास तथा पुराणों को सुनावे ॥२३२॥

स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः। (योगद० अ० १ पा० २ सू० ४४)

स्वाध्याय से इष्ट देवता का संयोग होता है ॥४४॥ स्वाध्याय शब्द वाच्य वेद के अक्षर राशि के ग्रहण—

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। (यजुरारण्य० प्रपा० २ अनुवा० १५)

की श्रुति से विधान किया गया है। वह वेदाध्ययन कब कैसे करना चाहिये। इस विषय में स्पष्ट लिखा है—

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्। (शतपथब्रा०)

आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे और उसको पढ़ावे।

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥

(मनु० अ० ४ श्लो० ९५)

श्रावण मास की पूर्णिमा के या भादों महीना के पूर्णवांसी तिथि के अपने गृह्य के विधि के अनुसार उपाकर्म को करके ब्राह्मण साढ़े चार महीना एकाग्रचित्त करके वेदों को पढ़े ॥९५॥

गीती शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ (पाणिनीयशि० श्लो० ३२)

गीत गाकर वेद पढ़ने वाला १, अत्यन्त शीघ्रता से वेद पढ़ने वाला २, मस्तक को कँपाकर वेद पढ़ने वाला ३, अपने से लिखे हुए ग्रन्थ को देखकर वेद पढ़ने वाला ४, और अर्थ को नहीं समझ कर वेद पढ़ने वाला ५, तथा अल्पकण्ठ से वेद पढ़ने वाला ६, ये छः वेदपाठी अधम हैं ॥३२॥

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।

धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥ (पा० शि० श्लो० ३३)

मधुरता से वेद पढ़ना १, वेद के अक्षरों को स्पष्ट कहना २, वेद का पदच्छेद करके कहना ३, सुन्दर स्वर से वेद पढ़ना ४, धीरता से वेद पढ़ना ५, और वेदका लय से समर्थ होकर वेद पढ़ना ६, ये छः वेदपाठी श्रेष्ठ गुण वाले हैं ॥३३॥ प्रकृत अनुवाक में स्वाध्याय के साहचर्य से "प्रवचन" का अर्थ पढ़ाना ही होता है। वाणी से यथार्थ भाषण और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। सत्य के विषय में लिखा है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥

(तैत्तिरीयारण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

वायु सत्य से चलता है सूर्य सत्य से द्युलोक में प्रकाशित होता है वाणी की प्रतिष्ठा सत्य ही है सत्य में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सब लोग सत्य को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर । तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् । (जाबालदर्श० उ० खं० १ श्रु० ६)

हे विप्र नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया तथा सुना गया और सूंघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥६॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलयाधृतम् ।

अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥ (विष्णुस्मृ० ८)

हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । योगद० अ० १ पा० २ सू० ३६)

सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाओं का फल अधीन हो जाता है ॥३६॥ तपश्चर्या और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये तप के विषय में लिखा है—

तपसा देवा देवतामग्रआयन्तपसार्षयः सुवरन्वविन्दन् । तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्तपः परमं वदन्ति । (तै० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

देवगण तप से पहले देवत्व को प्राप्त किये हैं ऋषि लोग तप से स्वर्ग लोक को प्राप्त किये हैं तप से बड़े बड़े शत्रुओं को सज्जन लोग मारे हैं तप में सब प्रतिष्ठित हैं इससे सब लोग तप को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः । (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० ३)

वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुध जन तप कहते हैं ॥३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १४)

देवता ब्राह्मण गुरु और ज्ञानियों का पूजन शौच आर्जव ब्रह्मचर्य प्राणियों को पीडा न पहुँचाना यह शरीर संबन्धी तप कहलाता है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १५)

जो दूसरे को उद्वेग न पहुँचाने वाले सच्चे प्रिय और हितकारक वचन है तथा स्वाध्याय का अभ्यास है यह वाणी संबन्धी तप कहलाता है ॥१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १६)

मन की प्रसन्नता सौम्यता मौन आत्म विनिग्रह और भाव संशुद्धि यह मन संबन्धी तप कहलाता है ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १७)

फल की आकांक्षा से रहित और यह तप परम पुरुष की आराधना ही है ऐसी विचार धारा से युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ जो

तीन प्रकार के तप शरीर, वाणी, और मन के द्वारा तपा जाता है उसे सात्त्विक तप कहते हैं ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १८)

जो तप सत्कार मान और पूजा के लिये तथा दम्भ के साथ किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहां राजस कहलाता है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १९)

अविवेकियों के द्वारा किये हुए आग्रह से अपनी शक्ति आदि की विना जांच पड़ताल किये अपने आत्मा को पीड़ा पहुँचा कर जो तप किया जाता है तथा जो तप दूसरों का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥१९॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (यो० अ० १ पा० २ सू० ४३)

तप से अशुद्धि के नाश के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥४३॥ अन्तः करण के नियमन करना और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये । दम के विषय में लिखा है—

दमेन दान्ताः किल्बिषमवधून्वन्ति दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् । दमो भूतानां दुराधर्षं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दमः परमं वदन्ति ॥ (तै० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

दान्त लोग दम से पाप को कँपा देते हैं ब्रह्मचारी लोग दम से स्वर्ग को प्राप्त किये हैं दम सब जीवों का दुराधर्ष है दम में सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग दम को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

दमात्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥
(महाभारत० शान्तिप० अध्या० १६० श्लो० ८)

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥९॥

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥१०॥
प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम् ।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते ॥११॥

दम से इस चेतन की यथार्थ क्रिया सिद्धि होती है और दम दान तथा यज्ञ और अध्ययन को अतिक्रमण करता है ॥८॥ दम तेज को बढ़ाता है और दम सबसे पवित्र है बिना पाप के तेज से युक्त पुरुष श्रेष्ठ दम को प्राप्त करता है ॥९॥ दम के सदृश धर्म लोक में दूसरा मैंने नहीं सुना है इस लोक में सब धर्म वालों को दम ही अत्यन्त प्रशस्त है ॥१०॥ हे नरेन्द्र इस लोक में दम को पाकर श्रेष्ठ सुख को पाता है और निश्चय करके दम से युक्त पुरुष श्रेष्ठ धर्म को पाता है ॥११॥

दमः अन्तःकरणनियमनम् ।

(रामानुजभाष्यगीता अ० १८ श्लो० ४२)

अन्तः करण के नियमन का नाम दम है ॥४२॥ बाहरी इन्द्रियों के नियमन और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। शम के विषय में लिखा है—

शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दन् ।
शमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमः परमं वदन्ति ॥

(तै० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

शान्त लोग शम से कल्याण को प्राप्त करते हैं और मुनि लोग शम से स्वर्ग को प्राप्त किये हैं तथा शम सब जीवों का दुराधर्ष है शम में सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग शम को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

शमः पवित्रमतुलं शमः पुण्यमनुत्तमम् ।
शमः सुखमसंख्येयं शमः पापहरं स्मृतम् ॥

(महाभारत० शान्तिप० अध्या० २६० श्लो० ३)

शम एव परं तीर्थं शम एव परं तपः ।
शम एव परं ज्ञानं शमो योगः परस्तथा ॥३६॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
सर्व एते शमेनैव प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥३७॥

शम तुलना रहित अति पवित्र है तथा शम सबसे श्रेष्ठ पुण्य है और शम असंख्येय सुख है तथा शम पाप को दूर करने वाला है ॥३॥ शम सबसे श्रेष्ठ तीर्थ है तथा सम श्रेष्ठ तप है और शम ही सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है तथा शम सबसे श्रेष्ठ योग है ॥३६॥ ब्रह्मचारी या गृहस्थ या वानप्रस्थी या संन्यासी ये सब शम से ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥३७॥

शमः बाह्येन्द्रियनियमनम् । (रामानुजभाष्यगी० अ० १८ श्लो० ४२)

बाहरी इन्द्रियों के नियमन का नाम शम है ॥४२॥ दक्षिणाग्नि १, गार्हपत्य २, आहवनीय ३, आवसथ्य ४, और सभ्य ५ इन पांचों अग्नियों का चयन और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये । अग्नियों के विषय में लिखा है—

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्यपचनं यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत्तस्मादग्नीन्परमं वदन्ति ।

(तै० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

निश्चय करके अग्नियां त्रयी विद्या और देवयान मार्ग हैं गार्हपत्य अग्नि ऋग्वेद तथा पृथिवी लोक और रथन्तर है और अन्वाहार्यपचन अग्नि यजुर्वेद तथा अन्तरिक्ष लोक और वामदेव्य है तथा आहवनीय अग्नि सामवेद और स्वर्ग लोक तथा बृहत् है इससे सब लोग अग्नियों को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

आवसथ्याधानं दारकाले । (पारस्करगृ० कां० १ कण्डि० २ सू० १)

दायाद्यकाल एकेषाम् ॥ २ ॥ वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य ॥३॥

आवसथ्य अग्नि का आधान दारकाल में करना चाहिये ॥१॥ अथवा एक का मत है कि भ्राताओं के धन के विभाग काल में अग्नि का आधान करना चाहिये ॥२॥ बहुत पशु वाले वैश्य के घर से अग्नि को लाकर ग्रहण करना चाहिये ।

जायायाः पाणिं जिघृक्षन्नादधीत । (गृह्य०)

स्त्री के पाणिग्रहण करने की इच्छा वाला अग्न्याधान करे। अग्निहोत्र और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। अग्निहोत्र के विषय में लिखा है—

अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतयज्ञक्रतूनां प्रायणं सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति ।
(तै० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

सांझ सवेरे का अग्निहोत्र घरों की निष्कृति है और अग्निहोत्र ही सुन्दर इष्ट है तथा सुन्दर हवन किये हुए यज्ञ और क्रतुओं का अयन है तथा अग्निहोत्र ही स्वर्गलोक का ज्योति है इससे सब लोग अग्निहोत्र को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् । (ब्राह्मण)

जब तक जिये तब तक अग्निहोत्र करै ।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ (मनु० अ० २ श्लो० १५)

सूर्य के उदय होने पर अथवा अरुण किरण वाला विरलतारायुक्त सूर्योदय से पहले या सूर्य और तारा से रहित समय में सर्वथा अग्निहोत्र होता है "उदिते होतव्यम्" "अनुदिते होतव्यम्" इत्यादिक वेद की श्रुति है ॥१५॥ अतिथि सत्कार और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये । अतिथि के विषय में लिखा है—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् । (मनु०अ० ३ श्लो० ९९)
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

अपने से आया हुआ अतिथि के लिये सत्कार करके आसन और जल को देकर विधि पूर्वक यथाशक्ति अन्न को भी दे ॥६६॥ कटे हुए खेत में जो पड़ा हुआ बाकी रह जाता है उसको शिल कहते हैं उस शिल से जीविका करने वाले और दक्षिणाग्नि १, गार्हपत्य २, आहवनीय ३, आवसथ्य ४, और सभ्य ५ इन पांचो अग्नियों में हवन करते हुए पुरुषों के सब पुण्य को बिना पूजा अतिथि बसता हुआ ले लेता है ॥१००॥ तृण, भूमि, जल और प्रिय वचन ये चार वस्तु धार्मिक सज्जनों के घर में कभी नहीं नष्ट होते हैं ॥१०१॥ केवल एक रात्रि पराये घर में बसता हुआ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सदा न रहने से अतिथि होता है । नहीं हैं दूसरी तिथि जिसकी वह अतिथि कहा जाता है ॥१०२॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्नभोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० १०६)
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥१०७॥

जो वस्तु अतिथि भोजन न करे वह स्वयं निश्चय करके भोजन न करे अतिथिपूजन धन यश और आयु को बढ़ाने वाला है तथा स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है ॥१०६॥ आसन, विश्राम, स्थान, शय्या, गमन काल में कुछ दूर साथ चलना और परिचर्य्या उत्तम अतिथि में उत्तम, हीन अतिथि में हीन तथा सम अतिथि में समान करना चाहिये ॥१०७॥

आशा प्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्चसर्वान् ।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥
(कठो० अ० १ व० १ श्रु० ८)

जिस मन्द बुद्धि वाला पुरुष के घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है वह अल्प प्रज्ञ पुरुष के ईच्छित पदार्थ की प्रार्थना रूप आशा और जिसके मिलने का निश्चय हो चुका उसके पाने की इच्छा रूप प्रतीक्षा सत्पुरुषों के संग का फल और प्रिय मधुर वाणी बोलने

का फल और यज्ञादि शुभ कर्मों के तथा कूप मन्दिरादि निर्माण के फल और समस्त पुत्र तथा पशुओं को यह अतिथि का अनशन रूप पाप नष्ट कर देता है ॥८॥ मनुष्योचित लौकिक व्यवहार और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। क्योंकि यह लिखा है—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ (मनु० अ० २ श्लो० १२०)

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

आयु और विद्या से वृद्ध के आने पर अल्प आयु वाला नवयुवक के प्राण देह से बाहर निकसने की इच्छा करते हैं उन प्राणों को वृद्धों के प्रति आसन से ऊठकर साष्टाङ्ग प्रणिपात रूप अभिवादन करके फिर से जैसे के तैसे सुस्थ करे ॥१२०॥ ऊठकर सर्वदा वृद्धों के अभिवादन शील के और नित्य वृद्धों की सेवा करने वाले के आयु विद्या यश और बल ये चार वस्तु भलीभांति बढ़ते हैं ॥१२१॥ सन्तान उत्पत्ति और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। क्योंकि लिखा है—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति । (गरुडपु०)

बिना पुत्र की सद्‌गति नहीं होती है। ऋतुकाल में अपनी स्त्री से मैथुन और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। प्रजन के विषय में लिखा है—

ऋतौ भार्यामुपेयात् । (ब्राह्मण)

ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ सहवास करे।

प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संप्रयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ (प्रश्नो० प्रश्न० १ श्रु० १३)

जो लोग दिन में स्त्री सहवास रूप रति करके संयुक्त होते हैं ये लोग निश्चय करके अपने प्राण को प्रकर्ष रूप से नाश कर देते हैं और जो गृहस्थ मनुष्य रात में अपनी भार्या के सहवास रूप रति करके संयुक्त होते हैं वह निश्चय करके ब्रह्मचर्य है ॥१३॥

तामुद्वह्य यथर्तुप्रवेशनम् । (पारस्कर गृह्य० का० १ कं० ११ सू० ७)

स्त्री से विवाह करके प्रति ऋतु में अपनी स्त्री से मैथुन करे ॥७॥

ऋतौ भार्यामुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम् ।

निषिद्ध दिन को छोड़ कर सर्वदा ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ सहवास करे ।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥५॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥७॥
नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥८॥

(मनु० अ० ३ श्लो० ५—८)

जो कन्या माता की छः पीढ़ियों में न हो और विवाह करने वाले के पिता के गोत्र की न हो उससे ही द्विजातियों का विवाह करना चाहिये और वही स्त्री मैथुन में प्रशस्त है ॥५॥ गौ बकरा भेंड़ धन और धान्य से बड़ा समृद्ध भी इन निम्न लिखित दश कुलों को विवाह के संबन्ध में परित्याग कर दे ॥६॥ जातकर्म आदि क्रिया रहित १, कन्या उत्पन्न करने वाला २, वेद के अध्ययन से शून्य ३, बहुत लंबा तथा कड़ा रोंवा वाला ४, बवासीर रोग वाला ५, राजयक्ष्मा रोग वाला ६, मन्दाग्नि रोग वाला ७, मृगी रोग वाला ८, सफेद चर्म वाला ९, और कुष्ट रोग वाला १०, ऐसे कुल को विवाह के संबन्ध में परित्याग कर दे ॥७॥ जिसके कपिल केश हों और सर्वदा रोग से युक्त रहती हो तथा अधिक अंगुलि आदिक अङ्ग वाली हो और बिना केश की हो या बहुत रोंवां वाली हो तथा कड़ा बोलने वाली हो और बिडाल या बानर के समान नेत्र वाली हो तो ऐसी कन्या के साथ विवाह न करे ॥८॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० ४६)

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥४८॥

योनि से शोणित दर्शन के दिन से आदि के चार दिन स्त्री संपर्क तथा गमनादिक में शिष्टजनों से निन्दित है उन निन्दित चार दिनों के साथ सोलह रात प्रतिमास में स्त्रियों के स्वाभाविक ऋतु काल होता है ॥४६॥ उन सोलह रातों में आदि के चार रात और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात स्त्री के सहवास करने में निन्दित हैं और शेष दश रात स्त्री से रति करने के लिये प्रशस्त हैं ॥४७॥ पूर्वोक्त प्रशस्त दश रात में भी छठवीं तथा आठवीं आदि युग्म रात में स्त्री सहवास के द्वारा गर्भाधान होने पर पुत्र उत्पन्न होता है और पांचवीं तथा सातवीं आदि अयुग्म रात में गर्भाधान होने पर पुत्री उत्पन्न होती है इससे पुत्र चाहने वाला मनुष्य ऋतु के युग्मरात में स्त्री को एकान्त सेवन करे ॥४८॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।

यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

(सुश्रुत० अ० १० श्लो० ४७)

जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।

तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥४८॥

सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में पचीस वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षि में प्राप्त हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है ॥४७॥ जो उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे और जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो इस कारण से अति बाल्यावस्था में गर्भ स्थापन न करे ॥४८॥

ऋतावभिगमः शस्तः स्वपत्न्यामवनीपते ।

पुन्नामर्क्षे शुभे काले श्रेष्ठे युग्मासु रात्रिषु ॥

नास्नातां तां स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम् ।
नाप्रशस्तां न कुपितां नानिष्टां न च गुर्विणीम् ॥
नादक्षिणां नान्यकामां नाकामां नान्ययोषितम् ।
क्षुत्क्षामां नातिभुक्तां वा स्वयं चैभिर्गुणैर्युतः ॥
स्नातः स्रग्गन्धधृक् प्रीतो नाध्मातः क्षुधितोऽपि वा ।
सकामः सानुरागश्च व्यवायं पुरुषो व्रजेत् ॥ (विष्णुपुराण)

हे राजन् ऋतुकाल के युग्म रात्रि में पुरुष संज्ञक नक्षत्र और श्रेष्ठ शुभ काल में अपनी स्त्री में रति करना प्रशस्त है। बिना स्नान की हुई स्त्री से सहवास न करे और आतुर तथा रजस्वला और अप्रशस्त तथा खिसलायी हुई और इष्ट नहीं चाहने वाली तथा गर्भवाली स्त्री से एकान्त सेवन रति न करे। जो रति में कुशल न हो और अन्य कामना वाली हो तथा मैथुन की इच्छा से रहित हो और दूसरे की स्त्री हो तो उस स्त्री से सहवास न करे क्षुधा से पीडित और अत्यन्त भोजन की हुई स्त्री से सहवास न करे। और स्वयं भी क्षुधा से पीडित हो और अत्यन्त भोजन किया हो तो मैथुन न करे। स्नान किया हुआ सुन्दर गन्ध वाला पुष्प की माला पेन्हा हुआ तथा गन्ध इतर आदिक लगाकर वातव्याधि से रहित प्रसन्न चित्त वाला विषय की इच्छा वाला अनुराग से युक्त पुरुष ऋतु काल में अपनी स्त्री से मैथुन करे। पौत्र की उत्पत्ति के निमित्त विवाह करना और वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन भी अवश्य करना चाहिये। सब कार्य को करते हुए भी वेदों का अध्ययन और अध्यापन यत्न के साथ करना चाहिये। इसी निमित्त हर एक के साथ अध्ययन और अध्यापन कहा गया है। अध्ययन बिना किये अर्थ का ज्ञान नहीं होता है और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना ही परम श्रेय है। अर्थ ज्ञान का स्मरण रखने के लिये और धर्म की वृद्धि के लिये अध्यापन की भी आवश्यकता है। इस लिये अध्ययन और अध्यापन का अत्यन्त आदर करना चाहिये। रथीतर ऋषि का पुत्र सत्य भाषण करने वाला सत्यवचा ऋषि केवल सत्य भाषण करना चाहिये ऐसा कहते हैं। सत्य के विषय में लिखा है—

सत्यं यथा दृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्यम् ।

(रामानुजभाष्यगीता अ० १६ श्लो० २)

देख सुन कर समझी हुई बात को ठीक वैसे ही बतलाने के लिये कहे जाने वाले प्राणियों के हितकर वचन का नाम सत्य है ॥२॥ पुरुशिष्ट ऋषि का पुत्र तपोनिष्ठ तपोनित्य ऋषि केवल तप करना चाहिये ऐसा कहते हैं। तप के विषय में लिखा है—

तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेः भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम् । (रामानुजभाष्यगीता अ० १६ श्लो० १)

भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करने वाले कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादशी उपवासादि व्रतों के करने का नाम तप है ॥१॥ मुद्गल ऋषि का पुत्र नाक ऋषि केवल वेदों का अध्ययन और अध्यापन ही करना चाहिये ऐसा कहते हैं। क्योंकि वेदाध्ययन ही तप है। क्योंकि वेदाध्यापन ही तप है। यहां शीक्षावल्ली का नवम अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ दशमोऽनुवाकः ॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥१॥

॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं (वृक्षस्य) संसार वृक्ष के (रेरिवा) प्रेरकहूं (कीर्तिः) मेरी कीर्ति (गिरेः) पर्वत के (पृष्ठम्) शिखर के (इव) समान उन्नत है (वाजिनि) अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में (स्वमृतम्) सुन्दर उत्तम अमृत के (इव) समान (ऊर्ध्वपवित्रः) अतिशय पवित्र अमृत स्वरूप (अस्मि) मैं हूं तथा (सवर्चसम्) प्रकाश के सहित (द्रविणम्) धन का भण्डार मैं हूं और (सुमेधाः) सुन्दर बुद्धि वाला (अमृतः) अमर (अक्षितः) क्षय नहीं होने वाला मैं हूं अथवा (अमृतोक्षितः) परमानन्द रूप अमृत से

अभिषिञ्चित मैं हूं (इति) इस प्रकार (त्रिशङ्कोः) त्रिशङ्कु ऋषि का (वेदानुवचनम्) ज्ञान रूप वेद को पाने के निमित्त वचन है ॥१॥

विशेषार्थ—इस अनुवाक में त्रिशङ्कु ऋषि का वैदिक अनुभव प्रतिपादन किया गया है कि—मैं प्रवाह रूप में अनादि काल से चले आते हुए इस जन्म मरण रूप संसार वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। संसार वृक्ष के विषय में लिखा है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

(कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १)

ऊपर की ओर मूल वाला अर्थात् सातों लोकों के ऊपर रहने वाला चतुर्मुख ब्रह्मा इसका आदि है इस लिये जो ऊपर मूल वाला है नीचे की ओर शाखा वाला अर्थात् पृथिवी लोक में बसने वाले सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग और स्थावर तक फैला होने के कारण जो नीचे शाखा वाला है यह अनादि काल से चला आने वाला संसार रूप पीपल का वृक्ष है ॥१॥

ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद संप्रति। (आरण्य० १।११।५)

ऊपर मूल और नीचे शाखा वाले वृक्ष को जो इस समय भलीभांति जानता है ॥५॥

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

(गी० अ० १५ श्लो० १)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

सातों लोकों के ऊपर रहने वाला चतुर्मुख ब्रह्मा इसका आदि है इस लिये जो ऊपर मूल वाला है। पृथिवी लोक में बसने वाले सब मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग और स्थावर तक फैला होने के कारण जो

नीचे शाखा वाला है। अनासक्ति के हेतुभूत सम्यक् ज्ञान के उदय होने तक प्रवाह रूप से अच्छेद्य होने के कारण जो अव्यय है। जिस अश्वत्थ वृक्ष के वेद पत्ते बतलाये गये हैं। ऐसे उस पीपल के वृक्ष को जो जानता है वह वेदवेत्ता है क्योंकि वेद ही इस संसार वृक्ष को काटने का उपाय बतलाया है और काटने योग्य इस संसार वृक्ष के स्वरूप का ज्ञान भी काटने के उपायों को समझने में उपयोगी है इस लिये उसके ज्ञाता को वेद-वेत्ता कहा जाता है ॥१॥ उस मनुष्य आदि शाखा वाले संसार वृक्ष की और भी उन उन जीवों के कर्मों से बनी हुई नीचे की शाखाएँ बार बार मनुष्य और पशु आदि शरीरों के रूप में फैलती जाती हैं तथा ऊपर की ओर गन्धर्व यक्ष और देव आदि के रूप में फैल जाती हैं। वे शाखाएँ सत्त्व आदि गुणों के द्वारा बढ़ायी हुई और शब्दादि विषयरूप कोंपलों वाली होती हैं। इस प्रकार कैसे होती हैं इस पर कहते हैं—नीचे मनुष्य लोक में भी कर्मरूप बन्धन वाली इसकी जड़ें फैली हुई हैं अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मूल है और मनुष्य जिसके शाखाग्र हैं ऐसे इस वृक्ष की कर्मरूप अनुबन्ध वाली जड़ें नीचे मनुष्य लोक में भी व्याप्त हो रही हैं। अभिप्राय यह है कि जीव को बार बार बाँधने वाली कर्म रूप जड़ें मनुष्य लोक में ही होती हैं। क्योंकि मनुष्यत्व की अवस्था में किये हुए कर्मों के द्वारा ही जीव नीचे मनुष्य पशु आदि और ऊपर देव आदि बनता है ॥२॥ मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की भांति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्ति से युक्त सूर्य में जैसे उत्तम अमृत का निवास है उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध—रोग दोष से सर्वथा मुक्त हूं अमृत स्वरूप हूं। इसके सिवा मैं प्रकाश युक्त धन का भण्डार हूं परमानन्द अमृत में निमग्न और श्रेष्ठ धारणा युक्त बुद्धि से संपन्न हूं। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषि का वेदानुवचन है। इस मंत्राम्नाय का जप विद्या की उत्पत्ति के लिये माना जाता है। यहां दशवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथैकादशोऽनुवाकः ॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय

प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(आचार्यः) आचार्य (वेदम्) वेद को (अनूच्य) भली-भांति पढ़ाकर (अन्तेवासिनम्) अपने आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी विद्यार्थी को (अनुशास्ति) उपदेश देता है (सत्यम्) सत्य को (वद) तुम बोलो (धर्मम्) धर्म को (चर) तुम करो (स्वाध्यायात्) वेदाध्ययन से (मा प्रमदः) तुम उदासीन मत होओ (आचार्याय) आचार्य के लिये (प्रियम्) प्रिय (धनम्) धन को (आहृत्य) लाकर दो फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके (प्रजातन्तुम्) सन्तान परम्परा को (मा व्यवच्छेत्सीः) तुम मत तोड़ना (सत्यात्) सत्य से (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) असावधान होना चाहिये (धर्मात्) धर्म से (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) असावधान होना चाहिये (कुशलात्) शुभ कर्मों से (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) असावधान होना चाहिये (भूत्यै) संपत्ति के लिये (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) असावधान होना चाहिये (स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्) वेदों के पढ़ने पढ़ाने के निमित्त (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) आलस्य करना चाहिये (देवपितृकार्याभ्याम्) देवता और पितरों के कर्म के निमित्त (न) नहीं (प्रमदितव्यम्) प्रमाद करना चाहिये ॥१॥

विशेषार्थ—आचार्य शिष्य को वेद पढ़ाने के अनन्तर उपदेश देता है। आचार्य का लक्षण लिखा है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु० अ० २ श्लो० १४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत करके कल्प और रहस्य सहित वेद को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं ॥१४०॥

सत्यवाक् धृतिमान्दक्षः सर्वभूतदयापरः ।

आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते ॥ (यम०)

सत्यवक्ता धैर्य युक्त दक्ष सब जीवों की दया में तत्पर आस्तिक वेद में निरत पवित्र आचार्य कहा गया है ।

यस्तु मंत्रद्वयं सम्यगध्यापयति वैष्णवः ।

स आचार्यस्तु विज्ञेयो भवबन्धविनाशकः ॥

(पद्मपु० उत्तर खं० ६ अध्या० २२६ श्लो० ४)

जो विष्णु भक्त ब्राह्मण द्वयमंत्र को भलीभांति पढ़ाता है संसार के बन्धन को नाश करने वाला उसको ही आचार्य जानना चाहिये ॥४॥ वेद के विषय में लिखा है—

मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । (कात्यायनसूत्र)

मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ।

तच्चोदकेषु मंत्राख्या । (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२)

शेषे ब्राह्मणशब्दः । (पूर्व मी० २।१।३३)

प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ॥३२॥ मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥३३॥

चत्वारो वेदाः । (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्निक० १)

ऋग्, यजुः, साम, अथर्व ये चार वेद हैं ॥१॥

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः ।

नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १२)

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप ।

अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥१३॥

हे महावीर ऋग्वेद की इक्कीस शाखा हैं और यजुर्वेद की एक सौ नव शाखा हैं ॥१२॥ हे परन्तप सामवेद की हजार शाखा हैं और अथर्व वेद की पचास शाखा है ॥१३॥ यहां पर बहुत लोग कहते हैं कि स्त्री शूद्रादिकों का भी वेद में अधिकार है क्योंकि यजुर्वेद में लिखा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥
(यजु० अ० २६ मं० २)

जैसे मैं सब मनुष्यों के लिये इस कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख को देने वाली ऋग्वेदादि चारो वेदों की वाणी को उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो परमेश्वर कहता है कि मैंने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र और अपने भृत्य अथवा स्त्री आदि और अति शूद्रादिकों को भी वेदों का प्रकाश किया है ॥२॥ इस प्रमाण से स्त्री शूद्रादिकों का वेद में अधिकार है यह साबित होता है। इसका उत्तर अब यहां पर यह समझना चाहिये कि—

यथेमां वाचम् । (यजु० अ० २६ मं० २) इस मंत्र में—

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षञ्च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सन्नमतामदः सप्त संसदो अष्टमी भूतसाधनी सकामां अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना । (यजु० अ० २६ मं० १)

अग्नि और पृथिवी भी परस्पर अनुकूलता से संगत हैं वे दोनों मेरे इस कामना कोइसी प्रकार वशवर्ती करें और वायु तथा अन्तरिक्ष आपस में संगत हैं वे दोनों मेरे इस कामना को इसी प्रकार वशवर्ती करें और सूर्य तथा द्युलोक परस्पर संगत हैं वे दोनों मेरे इस कामना को इसी प्रकार वशवर्ती करें और जल तथा वरुण परस्पर अनुकूलता से संगत हैं वे दोनों मेरे इस कामना को इसी प्रकार वशवर्ती करें हे देव जिस आपके सात अधिष्ठान अग्नि १, वायु २, अन्तरिक्ष ३, आदित्य ४, द्युलोक ५, जल ६, वरुण ७ हैं आठवीं भूतसाधनी प्राणियों का आधार स्वरूप अथवा उत्पादक भूमि है इन सब के अधिष्ठानरूप तुम हमारे मार्गों को सफल करो मेरी इस इष्ट सेवा की सब से संगति हो ॥१॥ इस मंत्र में स्थित भूतसाधनी का अध्याहार होता है तब—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च । प्रियो देवानां दक्षिणायै

दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुपमादो नमतु ॥

(यजु० अ० २६ मं० २)

इस मंत्र का यह अर्थ होता है कि—दान देने को जनों के अर्थ जैसे इस भूतसाधनी शोभना भोजन दो ऐसी वाणी को सब जनों के लिये मैं सब प्रकार से कहता हूँ वैसे तुम भी करो और कहो कि जनों के लिये ब्राह्मण क्षत्रियों के निमित्त और शूद्र के निमित्त वैश्य के निमित्त अपने नौकर के निमित्त और अतिशूद्रादिक के निमित्त। आशय यह है कि भोजन देने में किसी जाति का विचार नहीं है सबको देना चाहिये। ऐसा करने से देवताओं का सबको देने वाले परमेश्वर का प्यारा होऊँगा मेरा धन पुत्र लाभरूप यह कार्य समृद्धि को प्राप्त हो और परलोक सुखादिक प्राप्त हो ॥२॥ "दक्षिणायै" और "दातुः" पद आने से स्पष्ट ही अन्न दान की महिमा विदित होती है। और प्रसंग देखने से लेश मात्र भी स्त्री शूद्रादिकों के वेदाध्ययन के विषय में ॥ यथेमाम् ॥ य० अ० २६ मं० २ ॥ इत्यादि मंत्र प्रमाण नहीं है। इससे वेद में स्त्री शूद्रादिकों का अधिकार नहीं है। इस प्रकार वेद में स्त्री शूद्रादिकों के अधिकार नहीं होने पर भी बहुत से लोग कहते हैं कि वेद में कन्याओं का वेद पढ़ना लिखा है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

(अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सूक्त० ७ मं० १८)

कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होकर पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवे ॥१८॥ अब यहां पर सज्जनों को यह विचार करना चाहिये कि—

ब्रह्मचर्येण कन्या। (अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सू० ७ मं० १८)

इस मंत्र में कौन सा पद है जिसका वेदादि पढ़कर यह अर्थ होता है। यदि कहो कि "ब्रह्मचर्येण" इस पद का अर्थ वेद पढ़ कर है तो इस मंत्र का उत्तरार्द्ध—

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ।

(अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सू० ७ मं० १८)

जो यह है इसमें भी "ब्रह्मचर्येण" पद आया है तो तुल्य न्याय से

यह अर्थ होता है कि—बैल और घोड़ा ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ कर घास खाने की इच्छा करते हैं तो यह अर्थ प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण कोई भी नहीं मानेगा। इससे पूर्वार्द्ध में भी "ब्रह्मचर्येण" इस पद से वेदादि पढ़ना यह अर्थ योग्य नहीं है। इससे—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

(अथर्व० कां० ११ प्र० २४ अ० ३ सू० ७ मं० १८)

इस मंत्र का यथार्थ अर्थ यह है कि—ब्रह्मचर्य से जवान हुए पति को कन्या प्राप्त होवे ॥१८॥ इससे वेद में स्त्री शूद्रादिकों का अधिकार नहीं है। इस विषय में अधो लिखित प्रमाणों को देखिये।

संस्कार परामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।

(शा० मीमां० अ० १ पा० ३ सू० ३६)

प्रत्येक स्थल में वेद पढ़ने के लिये उपनयन संस्कार का प्रसंग आता है इससे और शूद्र को उपनयन संस्कार का अभाव कथन होने से वेदाध्ययन में शूद्र का अधिकार नहीं है ॥३६॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥

(मनु० अ० १० श्लो० ४)

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥ (मनु० १०।१२६)

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।

मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥१२७॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों वर्ण उपनयन संस्कार होने से द्विजाति हैं और उपनयन संस्कार नहीं होने से शूद्र चौथा वर्ण एक जाति है और पांचवां वर्ण नहीं है ॥४॥ शूद्र को कोई पातक नहीं है और न वह कोई संस्कार योग्य है और न कोई वैदिक धर्म में इसका अधिकार है और कहे हुए धर्म करने का निषेध नहीं है ॥१२६॥ धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मंत्र से रहित होकर भी सत्पुरुषों के आचरण करते हुए दोषों को नहीं प्राप्त होते किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥१२७॥

चतुर्थो वर्ण एक जातिर्न च संस्कारमर्हति। (गौतम० अ० १० सू० ६)

चौथा वर्ण शूद्र एक जाति है और वह कोई वैदिक संस्कार योग्य नहीं है ॥६॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् । शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३८)

शूद्र को तो वेद का श्रवण और अध्ययन तथा वेद के अर्थ का अनुष्ठान ये सब वर्जित हैं ॥३८॥

पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् ।

(श्रीभाष्य० अपशूद्राधिक० १।३।३८)

चलने वाला श्मशान शूद्र है इससे शूद्र के समीप में वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥३८॥

स्मृतेश्च । (शा० मी० १।३।३६)

स्मृतियों में भी वेद श्रवणादिक शूद्र के लिये निषेध है ॥३६॥

अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः । (गौतम० ध० २।१२।३)

वेद को सुनने पर शूद्र का कान पिघला हुआ सीसा और लाह से अच्छी प्रकार से भर दे और वेद के उच्चारण करने पर शूद्र की जीभ काट ले तथा वेद को धारण करने पर शरीर भेदन करे ॥३॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥

(मनु० अ० ४ श्लो० ८०)

शूद्र के लिये वेदार्थ ज्ञान को न दे तथा जूठा न दे और हविष्य का शेष न दे और वैदिक धर्म का उपदेश न करे तथा शूद्र के लिये वैदिक व्रत का उपदेश न करे ॥८०॥

स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् । (कात्यायनसूत्र)

स्त्री और शूद्र वेद को न पढ़ें । इन प्रमाणों से स्पष्ट साबित होता है कि वेद में शूद्रों का अधिकार नहीं है । स्त्रियों का भी वेद में अधिकार नहीं है इस विषय में कुछ प्रमाण मैं लिख चुका हूं और फिर से भी कुछ लिखता हूँ ।

अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ६६)

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥

यह सब स्त्रियों का जातकर्मादि क्रिया कलाप कहे हुए काल के क्रम से शरीर संस्कार के लिये बिना मंत्रों के करना चाहिये ॥६६॥ विवाह में वेद मंत्रों से संस्कार होता है यही स्त्रियों का यज्ञोपवीत है पति सेवा करनी यही गुरुकुल का वास है और गृह का काम करना यही अग्नि की सेवा है ॥६७॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमंत्रं बलिं हरेत् ।

(मनु० अ० ३ श्लो० १२१)

सायं काल सिद्ध किये हुए अन्न से पत्नी बिना मंत्र के बलि निकाले ॥१२१॥ बिना मंत्र के बलि निकालने की मनु ने आज्ञा दी है इससे साबित होता है कि स्त्रियों का वैदिक मंत्रों में अधिकार नहीं है। ग्रन्थ विस्तार के भय से अधिक प्रमाण मैं नहीं लिखता हूँ। शिष्य का लक्षण लिखा है—

शान्तोऽनसूयुः श्रद्धावान् गुर्वर्थार्थात्मवृत्तिकः ।
शुचिः प्रियहितो दान्तः शिष्यश्चोक्तो मनीषिभिः ॥

(भारद्वाजसंहिता अध्या० १ श्लो० ४६)

अचलित शान्तचित्त अनिन्दक श्रद्धावान् आस्तिक धन आत्म-वृत्ति और अपना व्यापार अपने गुरु के चरण कमलों में अर्पण करने वाला शुद्ध आचार्य के संबन्ध में सदा प्रिय हितचिन्तक अर्थात् एकान्त में आचार्य के हित की बातें निवेदन करने वाला निषिद्ध विषयों की ओर से विरक्त और विहित विषयों की ओर से भी उदासीन रूप से रहने वाला और प्रपत्ति की वृत्तियों के अतिरिक्त लौकिक व्यापार से विरक्त होकर शुद्ध ऐसे को विद्वान् लोग शिष्यत्व के योग्य कहे हैं ॥४६॥ हे शिष्य तुम सदा सत्य भाषण करना। सत्य के विषय में लिखा है—

सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन।
सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥

(तै० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६२)

सत्य सबसे श्रेष्ठ है सत्य सबसे पर है सत्य से स्वर्गलोक से कभी नहीं गिरता है सज्जनों के लिए सत्य ही प्रतिष्ठा है इससे सब लोग सत्य में रमण करते हैं ॥६२॥ तुम सदा अपने वर्ण आश्रम के अनुकूल शास्त्र संमत धर्म का अनुष्ठान करना। धर्म के विषम में लिखा है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥

(तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

धर्म समस्त संसार की प्रतिष्ठा है सब जन धर्मिष्ठ के समीप में जाते हैं धर्म से सब लोग पाप को दूर करते हैं धर्म में सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग धर्म को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः । (पूर्वमीमां० अ० १ पा० १ सू० २)

प्रेरणा लक्षण अर्थ धर्म है ॥२॥

यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयससिद्धिस्सः धर्मः ।

(वैशेषिक० अ० १ आह्निक १ सू० २)

जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि हो वह धर्म है ॥२॥ उस धर्म का स्वरूप दश प्रकार का लिखा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(नारदपरिव्राजकोप० उपदेश० ३ श्रु० २४) (मनु० अध्या०६ श्लो० ६२)

धीरता १, क्षमा २, मन रोकना ३, अन्याय से दूसरे का धन न लेना ४, पवित्रता ५, इन्द्रियों को रोकना ६, बुद्धि ७, आत्मज्ञान ८, सच्चा बोलना ९, और क्रोध नहीं करना १० ये दश धर्म के लक्षण हैं ॥२४॥६२॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । (गी० अ० १८ श्लो० ४५)

अपने अपने कर्म यानी धर्म में लगा हुआ मनुष्य परमपद को

प्राप्ति रूप संसिद्धि को पाता है ॥४५॥ वेदाध्ययन से उदासीन तुम नहीं रहना। क्योंकि लिखा है—

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।

(मनु० अ० २ श्लो० १६५)

रहस्य ग्रन्थों के साथ समस्त वेद द्विजातियों के जानने योग्य है ॥१६५॥ आचार्य के लिये दक्षिणा के रूप में उनकी रुचि के अनुरूप धन लाकर तुम प्रेम पूर्वक देना। यह लिखा है—

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

(शाट्या० उप० श्रु० ३५)

जो विप्र अध्ययन करके पढ़ाने वाले गुरु का मन वाणी और कर्म से आदर नहीं करते हैं और जैसे गुरु नहीं भोजनीय है ऐसा समझते हैं वैसे ही उनका सुना हुआ वह श्रौत वचन और खाद्य अन्न नहीं उस शिष्य को पालन करता है ॥३५॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

(मनु० अ० २ श्लो० २४६)

खेत, सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, धान्य, शाक और वस्त्रों को गुरु के लिये दक्षिणा में देकर आचार्य को प्रसन्न करे ॥२४६॥

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत् ॥

(लघुहारीतस्मृ०)

जो गुरु शिष्य को एक अक्षर भी पढ़ाता है तो पृथिवी में वह द्रव्य नहीं है कि जिसको देकर शिष्य अनृणी हो जाय।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति ।
तस्य श्रुतं तथा ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ (शाट्या० उ० श्रु० ३६)

जो शिष्य एक अक्षर प्रदाता गुरु का आदर नहीं करता है उसका

सुना हुआ ज्ञान कच्चे मिट्टी के घट में रक्खे हुए जल के समान बह जाता है ॥३६॥ इससे आचार्य की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वधर्म का पालन करते हुए सन्तान परम्परा को सुरक्षित रखना—उसका लोप नहीं करना। क्योंकि यह लिखा है कि—

साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितृणामनृणो भवति ।

(तै० आर० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

सुन्दर वंश परंपरा को बढ़ाता हुआ मनुष्य पितरों के ऋण से रहित हो जाता है ॥६३॥ तुमको सत्य भाषण से कभी नहीं चलायमान होना चाहिये। तुमको अपने वर्णाश्रमोचित धर्म के अनुष्ठान से कभी नहीं डिगना चाहिये। धर्म के विषय में लिखा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

(मनु० अ० ८ श्लो० १५)

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१७॥

नष्ट किया हुआ धर्म ही नाश कर देता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है इससे धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये नाश किया हुआ धर्म हम सबों का वध न करे ॥१५॥ धर्म ही एक मित्र है जो मरने पर भी अभीष्ट फल देने के लिये साथ में जाता है और अन्य स्त्री पुत्र आदिक सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त कर लेते हैं ॥१७॥ तुमको शुभ कर्मों से कभी नहीं डिगना चाहिये। अथवा देह की रक्षा के कार्य में तुमको कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। धन संपत्ति को बढ़ाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। वेदों के पढ़ने और पढ़ाने में कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। वेदाभ्यास के विषय में लिखा है—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥

(मनु० अ० २ श्लो० १६६)

तप करता हुआ ब्राह्मण सर्वदा वेद का ही अभ्यास करे क्योंकि

वेदाभ्यास ही इस लोक में ब्राह्मण के लिये सबसे श्रेष्ठ तप है ऐसा मुनियों ने कहा है ॥१६६॥ इसी प्रकार अग्निहोत्र और भगवदाराधन रूप देव कार्य तथा श्राद्ध तर्पण आदि पितृ कार्य के संपादन में भी आलस्य या अवहेलना पूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये। मूर्तिपूजा और श्राद्ध के विषय में जिसको जानना हो वह मेरे बनाये हुए "वैदिक मूर्तिपूजादर्श" और "वैदिक श्राद्धदर्पण" ग्रन्थ को अवलोकन करें ॥१॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि ॥२॥

अन्वयार्थ—(मातृदेवः) तुम माता में देवबुद्धि करने वाले (भव) बनो (पितृदेवः) तुम पिता को देवरूप समझने वाले (भव) होओ (आचार्यदेवः) तुम आचार्य को देवता मानने वाले (भव) बनो (अतिथिदेवः) तुम अतिथि को देव तुल्य समझने वाले (भव) होओ (यानि) जो (अनवद्यानि) अनिन्दित निर्दोष (कर्माणि) कर्म हैं (तानि) उन्हीं का (सेवितव्यानि) तुम्हें सेवन करना चाहिये (इतराणि) दूसरे दोषयुक्त कर्मों को (नो) कभी आचरण नहीं करना चाहिये (अस्माकम्) हमारे आचरणों में से भी (यानि) जो (सुचरितानि) सुन्दर आचरण हैं (तानि) उन्हीं का (त्वया) तुम्हें (उपास्यानि) सेवन करना चाहिये (इतराणि) दूसरे दोषयुक्त कर्मों को (नो) कभी आचरण नहीं करना चाहिये ॥२॥

विशेषार्थ—हे प्रिय शिष्य तुम माता में देवबुद्धि रखना। माता के विषय में लिखा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

(मनु० अ० २ श्लो० १४५)

दश ठो वृत्यर्थ पढ़ाने वाले उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य श्रेष्ठ है और सौ ठो उपनयन पूर्वक सावित्री मात्र पढ़ाने वाले आचार्य की अपेक्षा

पिता श्रेष्ठ है तथा हजार गुना पिता से गौरव करके अतिरिक्त श्रेष्ठ माता होती है ॥१४५॥ तुम पिता को देवता के समान मानना। क्योंकि यह लिखा है कि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्। न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ (मनु० अ० २ श्लो० २२७)

अपत्य उत्पन्न होने में जो क्लेश माता और पिता सहते हैं उसकी निष्कृति सौ वर्ष में भी अपत्य करने के लिये समर्थ नहीं है ॥२२७॥ तुम आचार्य में देवबुद्धि रखना। माता तथा पिता और आचार्य के विषय में लिखा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ (मनु० अ० २ श्लो० २२६)

आचार्य परब्रह्म नारायण की मूर्ति हैं और पिता ब्रह्मा की मूर्ति हैं तथा माता पृथिवी की मूर्ति हैं और सहोदर भ्राता जीवात्मा की मूर्ति हैं ॥२२६॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ (मनु० अ० २ श्लो० २२८)
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२३२॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषयात्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥

माता पिता और आचार्य की परिचर्या सबसे श्रेष्ठ तप कहा जाता है बिना माता पिता तथा आचार्य की अनुमति से दूसरा कोई धर्म भी न

करै ॥२२९॥ वे माता पिता और आचार्य निश्चय करके तीन लोक, तीन आश्रम, तीन वेद और तीन अग्नि कहे गये हैं ॥२३०॥ पिता ही गार्हपत्य अग्नि है तथा माता ही दक्षिणाग्नि है और आचार्य ही आह्वनीय अग्नि है यह तीन माता, पिता, आचार्य, सब अग्नियों से श्रेष्ठ हैं ॥२३१॥ इन तीन माता, पिता, आचार्य, के विषय में प्रमाद नहीं करता हुआ गृहस्थ तीन लोकों को जीत लेता है और अन्त में अपने शरीर से प्रकाशमान सूर्यादिदेव के समान द्युलोक में हर्ष पाता है ॥२३२॥ माता की भक्ति से इस भूलोक को तथा पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक को और आचार्य की भक्ति से ब्रह्मलोक को मनुष्य पा लेता है ॥२३३॥ और भी गुरु के विषय में लिखा है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥ (अद्वयतारकोप०)

गु कहते हैं अन्धकार को और रु कहते हैं प्रकाश को तो सदुपदेश द्वारा जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करे उसको गुरु कहते हैं। गुरु ही परब्रह्म हैं तथा गुरु ही परा गति हैं गुरु ही परा विद्या हैं और गुरु ही श्रेष्ठ स्थान हैं। तथा गुरु ही परा काष्ठा हैं और गुरु ही श्रेष्ठ धन हैं क्योंकि तत्त्वज्ञान को उपदेश देने वाले वे हैं इससे सबसे श्रेष्ठ गुरु ही हैं।

आचार्यवान् पुरुषो वेद । (छान्दो० उ० अ० ६ खं० १४ श्रु० २)

आचार्य वाला पुरुष परब्रह्म नारायण को जानता है ॥२॥

यथा देवे तथा गुरौ । (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३)

जैसी भक्ति परब्रह्म नारायण में हो वैसी ही श्रीगुरु देव में भी होनी चाहिये ॥२३॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाच्युतः ।

न गुरोरधिकः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

(योगशिखोप० अ० ५ श्रु० ५६)

दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम् ।
पूजयेत्परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥५७॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः ।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥५८॥

गुरु ब्रह्मा हैं गुरु विष्णु हैं गुरु देव सदा अच्युत हैं तीनों लोक में गुरु से अधिक कोई नहीं है ॥५६॥ दिव्य ज्ञान के उपदेश देने वाले परमेश्वर रूप आचार्य की जो पराभक्ति से पूजा करता है उसको ज्ञान का फल प्राप्त होता है ॥५७॥ जैसा गुरु वैसा ही परमात्मा और जैसा परमात्मा वैसा ही गुरु अर्थात् गुरु और परमात्मा इन दोनों में भेद नहीं है इससे बड़ी भक्ति से श्रीगुरु देव जी की पूजा करनी चाहिये ॥५८॥

कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्दृढम् ।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥

(योगशिखो० अ० ६ श्रु० ७६)

कर्णधार गुरु को पाकर और गुरु के वाक्य को दृढ़ जहाज करके अभ्यास के वासना की शक्ति से संसार सागर को मुमुक्षु लोग पार कर जाते हैं ॥७६॥

तस्मात्सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति । सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति । श्रेयो विघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति । सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति । यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते । तस्मात्सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥

(त्रिपाद्विभूतिमहानारा० उ० अ० ५)

तिस कारण से सद्गुरु की कृपा कटाक्ष के लेश विशेष से सब सिद्धियां प्राप्त होती हैं और समस्त बन्धन नष्ट हो जाते हैं। कल्याण के विघ्न सब नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण कल्याण अपने ही प्राप्त हो जाते हैं।

जैसे जन्मान्ध का रूप ज्ञान नहीं होता है वैसे ही गुरु के उपदेश के बिना करोड़ कल्प में भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है। तिससे सद्गुरु की कृपा के कटाक्ष के लेश विशेष से शीघ्र ही तत्त्व का ज्ञान हो जाता है ॥५॥

तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह ।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥ (ब्रह्मविद्योप० श्रु० २७)
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ॥२८॥
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥३०॥
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३१॥

गुरु की सेवकता परा प्रज्ञा के साथ सर्वदा करे पृथिवी में गुरु जो शुभ या अशुभ कुछ भी कहैं ॥२७॥ संतोष से संयुक्त शिष्य उसको बिना विचारे करै ॥२८॥ मनुष्य अधिक कल्याण के लिये गुरु की भक्ति सर्वदा करै ॥३०॥ गुरु ही साक्षात् परब्रह्म नारायण हैं अन्य नहीं हैं ऐसी श्रुति कही है ॥३१॥

गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः ।
(त्रिपाद्विभूतिमहानारा० उ० अ० ८)

गुरु साक्षात् आदि नारायण पुरुष हैं ॥८॥

दण्डवत्प्रणमेद्भूमावुपेत्य गुरुमन्वहम् ।
दिशे वापि नमस्कुर्याद्यत्रासौ वसति स्वयम् ॥
(भारद्वा० सं० अ० ३ श्लो० ८२)

आचार्यायाहरेदर्थानात्मानं च निवेदयेत् ।
तदधीनश्च वर्तेत साक्षान्नारायणो हि सः ॥८३॥
प्रक्षाल्य चरणौ पात्रे प्रणिपत्योपयुज्य च ।
नित्यं विधिवदर्घ्याद्यै राद्दतोऽभ्यर्चयेद्गुरुम् ॥८६॥

नित्य ही अपने गुरु को पृथिवी में स्वयं दण्डवत साष्टाङ्ग प्रणाम किया करे यदि आचार्य किसी अन्य स्थान में हों तो उस स्थान की दिशा को दण्डवत साष्टाङ्ग प्रणाम नित्य प्रति स्वयं करना चाहिये ॥८२॥ आचार्य के लिये धन लावे और आत्मसमर्पण करे तथा उन्हीं के अधीन होकर रहे

क्योंकि आचार्य साक्षात् नारायण हैं ॥८३॥ नित्य प्रति श्री गुरु के चरणारविन्दों को पात्र में धोकर श्रीपादतीर्थ पान करे और श्रीचरणों को साष्टाङ्ग प्रणिपात करके आदर के सहित अर्घ्य पाद्य आदि उपचारों के द्वारा पूजन करे ॥८६॥

योऽसौ मंत्रवरं प्रादात्संसारोच्छेदसाधनम् ।
प्रतीच्छेद्गुरुवर्यस्य तस्योच्छिष्टं सुपावनम् ॥

(भारद्वा० सं० अ० ३ श्लो० ६३)

जिन आचार्यों ने संसार के बन्धन को छुड़ा देने वाले श्रेष्ठ मंत्र रत्न का उपदेश दिया है उन श्रेष्ठ आचार्यों के अत्यन्त पवित्र उच्छिष्ट भोजन की प्रतीच्छा करे दूसरे का उच्छिष्ट भोजन कभी न करे ॥६३॥

गुरूणामन्तिमतिथौ जन्मर्क्षे श्रवणेऽपि वा ।
हरिमभ्यर्चयेद्भक्त्या तद्भक्तांश्च विशेषतः ॥

(भारद्वा० सं० अ० ४ श्लो० ८६)

आचार्य के मरण तिथि के दिन और आचार्य के जन्म नक्षत्र के दिन भक्ति से लक्ष्मीनारायण भगवान् का और भागवतों का पूजन विशेष रूप से भलीभांति करना चाहिये ॥८६॥

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥

(श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० १७ श्लो० २७)

आचार्य को परब्रह्म नारायण समझे कभी भी आचार्य का अपमान न करे और मनुष्य बुद्धि से असूया न करे क्योंकि सर्व देवमय गुरु हैं ॥२७॥ तुम अतिथि का देवता के समान सत्कार करना । अतिथि के विषय में लिखा है—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥

(कठो० अ० १ व० १ श्रु० ७)

हे सूर्यपुत्र यमराज साक्षात् अग्नि देवता ही ब्राह्मण रूप अतिथि होकर घरों में पधारते हैं उस अतिथि की साधु पुरुष ऐसी अर्घ्य पाद्य आदि

के द्वारा शान्ति को किया करते हैं अतः आप नचिकेता के पाद प्रक्षालनादि के लिये जल को ले जाइये ॥७॥ जगत् में जो अनिन्दित और निर्दोष कर्म हैं उन्हीं का तुम्हें सेवन करना चाहिये। कर्म के विषय में लिखा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशो० श्रु० २)

इस लोक में नित्य नैमित्तिकादिक निष्काम कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्म नहीं संलग्न होता है इससे प्रकारान्तर नहीं है ॥२॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। (गी० अ० ३ श्लो० २०)

ज्ञानियों में अग्रगण्य जनकादि राजर्षिगण भी कर्म के आचरण से ही मुक्ति को प्राप्त हुए ॥२०॥

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः। (गी० अ० ८ श्लो०३)

भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाले विसर्ग का नाम कर्म है ॥३॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ (गी० अ० १८ श्लो० २३)

जो कर्म अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्र विहित हो कर्तापन आदि के संबन्ध से रहित हो बिना रागद्वेष के किया गया हो और फलाभिसन्धि से रहित पुरुष के द्वारा कर्तव्य समझ कर किया गया हो वह सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ (गी० अ० १८ श्लो० २४)

परन्तु जो कर्म फलाकाङ्क्षी और अहंकार युक्त कर्तापन के अभिमान के साथ पुरुष के द्वारा बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ (गी० अ० १८ श्लो० २५)

कर्म करने पर इसके परिणाम होने वाले दुःख का नाश अनुबन्ध है

उस अनुबन्ध, नाश, हिंसा और अपने पौरुष को न देख कर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । (गी० अ० १८ श्लो० ४५)
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

अपने अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमपद की प्राप्ति रूप संसिद्धि को पाता है ॥४५॥ अपने कर्म से उस परमात्मा को पूजकर मनुष्य मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को पाता है ॥४६॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ (मनु० अ० १२ श्लो० ५)

पराये धन को अन्याय से ले लें इस भांति सोचना और मन से ब्रह्म वध आदिक निषिद्ध का चिन्तन करना और परलोक नहीं है देह ही आत्मा है इस प्रकार का अशुभ फल देने वाला मानस कर्म तीन प्रकार का होता है और इससे विपरीत शुभ फल देने वाला भी तीन प्रकार का होता है ॥५॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ (मनु०अ०१२ श्लो० ६)

अप्रिय कहना, झूठ बोलना, पीछे पराये दूषणों का कहना, और असम्बद्ध भाषण करना ये चार प्रकार के अशुभ फल देने वाले वाचिक कर्म होते हैं तथा इससे विपरीत शुभ फल देने वाले भी चार प्रकार के होते हैं ॥६॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैव विधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ (मनु० अ० १२ श्लो० ७)

नहीं दिये हुए को हरण कर लेना और वेदादिक निषिद्ध हिंसा को करना तथा पराये स्त्री के साथ सम्भोग करना ये तीन प्रकार के अशुभ फल देने वाले शारीर कर्म होते हैं और इससे विपरीत शुभ फल देने वाले भी तीन प्रकार के होते हैं ॥७॥

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् । (मनु० अ० १२ श्लो० ८८)

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥८९॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥९०॥

प्रवृत्त और निवृत्त भेद से दो प्रकार का वैदिक कम जानना चाहिये ॥८८॥ इस लोक में या परलोक में जो कामना से कम किया जाता है उसको प्रवृत कर्म कहते हैं और जो फल की कामना रहित ज्ञान पूर्वक कर्म किया जाता है उसको निवृत्त कर्म कहते हैं ॥८९॥ प्रवृत्त कर्म को सेवन करके देवताओं की समता को प्राप्त करता है और निवृत्त कर्म को सेवन करके मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है ॥९०

फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् ।
काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् ।
क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥
अनुत्पत्तिं तथा चान्ये प्रत्यवायस्य मन्वते ।
नित्यां क्रियां तथा चान्य आनुषङ्गिकफलं विदुः ॥ (भविष्यपु०)

विना फल के नित्य कर्मों का अनुष्ठान निश्चय करके इच्छित है। और अपने फल के लिये तथा दोष घात के लिये काम्य कर्मों का अनुष्ठान होता है। और नैमित्तिक कर्म करने पर तीन प्रकार के फल होते हैं। कोई कोई प्राप्त पाप का नाश कहते हैं। और अन्य लोग प्रत्यवाय की उत्पत्ति को नहीं मानते हैं। तथा अन्य सब नित्य क्रिया को और आनुषङ्गिक फल को जानते हैं। पूर्वोक्त सुन्दर कर्मों का आचरण करना। दूसरे दोषयुक्त निषिद्ध कर्मों का कभी भूलकर भी आचरण तुम नहीं करना। हमारे यानी अपने आचार्य के आचार व्यवहार में भी जो उत्तम शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित आचरण है उन्हीं का तुम अनुकरण करना। जो जरा सा भी शास्त्र से निषिद्ध हो उसका अनुकरण कभी भूल कर भी तुम नहीं करना। क्योंकि यह नियम है

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(गी० अ० १६ श्लो० २३)

जो वेद के अनुशासन को त्यागकर अपनी इच्छानुसार मार्ग पर चलता है वह किसी भी पारलौकिक सिद्धि को नहीं पा सकता है तथा इस लोक के किञ्चित् भोग सुख को भी नहीं पा सकता है और परम गति को भी नहीं पा सकता है ॥२३॥ जगद्गुरु भगवद्रामानुजाचार्य—

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।

(शारी० मी० अ० ३ पा० १ सू० ६)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की पहली शीक्षावल्ली के ग्यारहवां अनुवाक की दूसरी श्रुति के—

"यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि"

इन खण्डों को उद्धृत किये हैं ॥२॥

ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (के) कोई (च) भी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (अस्मत्) हमसे (श्रेयांसः) श्रेष्ठ आवें (तेषाम्) उनका (त्वया) तुझ करके (आसनेन) आसन दान आदि के द्वारा (प्रश्वसितव्यम्) विश्राम देना चाहिये (श्रद्धया) श्रद्धा करके (देयम्) दान करना चाहिये (अश्रद्धया) बिना श्रद्धा के (अदेयम्) दान नहीं देना चाहिये (श्रिया) अपने धन के अनुसार (देयम्) दान करना चाहिये (ह्रिया) लज्जा से (देयम्) दान करना चाहिये (भिया) भय करके (देयम्) दान करना चाहिये (संविदा) मित्रादि के कार्य करके या विवेक पूर्वक (देयम्) दान करना चाहिये ॥३॥

विशेषार्थ—हे प्रिय शिष्य जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ—वय, विद्या, तप, आचरण, आदि में बड़े ब्राह्मण भागवत आदि पूज्य पुरुष घर पर पधारें तो उनको अर्घ्य पाद्य आसन आदि प्रदान करके सब प्रकार से उनका यथा योग्य सत्कार करके आराम देना चाहिये। ब्राह्मण के विषय में लिखा है कि—

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥ (मनु० अ० १ श्लो० ९५)
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥९६॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥९८॥

जिस ब्राह्मण के मुख से सर्वदा देवता लोग हव्य को और पितर लोग कव्य को भोजन करते हैं तिस ब्राह्मण से श्रेष्ठ कौन जीव हो सकता है॥९५॥ स्थावर जङ्गम भूतों के मध्य में प्राण वाले कीटादिक श्रेष्ठ हैं और कीटादि प्राणियों में बुद्धि से जीव धारण करने वाले पशु आदिक श्रेष्ठ हैं तथा बुद्धि वाले पशुओं के मध्य में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और सब मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गये हैं॥९६॥ ब्राह्मण की उत्पत्ति निश्चय करके अविनाशी धर्म की मूर्ति है वह ब्राह्मण धर्म के लिये ही उत्पन्न हुआ है और अन्त में वही मोक्ष के लिये समर्थ होता है॥९८॥ जो कुछ दान दिया जाय वह श्रद्धा पूर्वक देना चाहिये। श्रद्धा के विषय में लिखा है—

श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजु० अ० १९ मं० ३०)

श्रद्धा से सत्यनारायण प्राप्त होता है॥३०॥

श्रद्धा हि "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा॥ (रामानुजभाष्यगीता अ० १७ श्लो० २)

अमुक साधन अपने अभिमत कार्य को सिद्ध कर सकेगा इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसी का नाम श्रद्धा है॥२॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ (गी०अ०१७श्लो०२)

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

प्राणियों की यह स्वभाव जन्य श्रद्धा सात्त्विकी राजसी और तामसी ऐसी तीन प्रकार की होती है उसको तुम सुनो ॥२॥ हे भारत अन्तःकरण के अनुरूप सबकी श्रद्धा हुआ करती है यह पुरुष श्रद्धामय है जो जिस श्रद्धा वाला है वह वही होता है ॥३॥ सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं राजस पुरुष यक्ष तथा राक्षसों को और तामस लोग प्रेतों और भूतों के समुदायों को पूजते हैं ॥४॥ विना श्रद्धा के दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि यह लिखा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २८)

हे अर्जुन विना श्रद्धा से किया हुआ हवन दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा जो कुछ भी किया हुआ होता है वह असत् ऐसा कहलाता है वह कर्म न तो इस लोक में और न तो मरने पर ही फल देता है ॥२८॥ वित्त के अनुसार दान देना चाहिये। दान के विषय में लिखा है—

दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारं सर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरपानुदन्त। दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं परमं वदन्ति ॥

(तैत्ति० आर० प्रपाठ० १० अनुवा० ६३)

दान यज्ञों की वरूथ दक्षिणा है सब प्राणी लोक में दान देने वाले के समीप में जीते हैं दान से शत्रुओं को दूर करते हैं और दान से द्वेष करने वाले मित्र हो जाते हैं दान में सब प्रतिष्ठित है इससे सब लोग दान को सबसे श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने ।
अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया ॥

(जाबालदर्शनो० खं० २ श्रु० ७)

क्लेश में पड़े हुए वेदज्ञ पुरुषों को जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती हैं उसी को मैं दान कहता हूँ ॥७॥ विनय पूर्वक लज्जा से दान देना चाहिये लज्जा के विषय में लिखा है—

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥

(जा० द० उ० खं० २ श्रु० १०)

वैदिक तथा लौकिक मार्गों में जो निन्दित कर्म माना गया है उसके करने में जो स्वाभाविक संकोच होता है उसे ही लज्जा कहा गया है ॥१०॥ जो कुछ दिया जाय वह विवेक पूर्वक उसके परिणाम को समझ कर निष्काम भाव से कर्तव्य समझ कर मित्र भाव से दान देना चाहिये। और धर्म के भय से दान देना चाहिये। भय के विषय में लिखा है—

इष्टानिष्टवियोगसंयोगरूपस्य दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखं भयम् ।

(रामानुजभाष्यगी० अ० १६ श्लो० १)

इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगरूप दुःख के कारण को देखकर होने वाले दुःख का नाम भय है ॥१॥ दान के विषय में भगवान् कहे हैं—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २०)

जो दान फलाभिसन्धि से रहित होता है और देना कर्तव्य है इस बुद्धि से श्रेष्ठ देश काल और पात्रादि में तथा जिसने कभी उपकार न किया हो ऐसे मनुष्य को दिया जाता है वह दान सात्त्विक बतलाया गया है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २१)

जो दान उपकार का बदला चुकाने के अभिप्राय से तथा फल की कामना पूर्वक दिया जाता है तथा जो परिक्लिष्ट— अशुभ द्रव्य से युक्त होता है वह राजस बतलाया गया है ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २२)

जो दान अयोग्य देश काल में अपात्र को दिया जाता है तथा पादप्रक्षालनादि सम्मान के विना और अपमान पूर्वक विना उपचार के दिया जाता है वह तामस बतलाया गया है ॥२२॥ इससे अक्षय्य फल को देने वाला सात्त्विक ही दान सर्वदा देना चाहिये ॥३॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (यदि) जो (ते) तेरा (कर्मविचिकित्सा) श्रौत स्मार्त कर्म में किसी प्रकार का सन्देह हो (वा) या (वृत्तविचिकित्सा) सदाचार के विषय में किसी प्रकार का सन्देह (वा) कदाचित् (स्यात्) हो जाय तो (तत्र) वहां (ये) जो (संमर्शिनः) सम्यक् प्रकार उत्तम विचार करने वाले (युक्ताः) परामर्श देने में कुशल (आयुक्ताः) शास्त्रोक्त कर्म और सदाचार में पूर्णतया लगे हुए (अलूक्षाः) स्निग्ध स्वभाव वाले (धर्मकामाः) तथा धर्म की लालसा वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (स्युः) हों (ते) वे ब्राह्मण (यथा) जिस प्रकार (तत्र) उन कर्मों में और आचरणों में (वर्तेरन्) वर्ताव करते हों (तत्र) उन कर्मों और आचरणों में (तथा) तैसा ही

(वर्तेथाः) तुमको भी वर्ताव करना चाहिये (अथ) और यदि (अभ्याख्यातेषु) जिन पर कोई संशय युक्त दोष आरोपित किया गया हो उनके साथ वर्ताव करने में संदेह उत्पन्न हो जाय तो भी (तत्र) वहां (ये) जो (सम्मर्शिनः) सम्यक् प्रकार उत्तम विचार करने वाले (युक्ताः) परामर्श देने में कुशल (आयुक्ताः) सब प्रकार से यथा योग्य सत्कर्म और सदाचार में भलीभांति लगे हुए (अलूक्षाः) स्निग्ध स्वभाव वाले (धर्मकामाः) धर्म के अभिलाषी (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण (स्युः) हों (ते) वे ब्राह्मण (यथा) जिस प्रकार (तेषु) उनके विषय में (वर्तेरन्) वर्ताव करें (तेषु) उनके विषय में (तथा) वैसा ही (वर्तेथाः) तुमको भी वर्ताव करना चाहिये (एषः) यह (आदेशः) शास्त्र की आज्ञा है (एषः) यही (उपदेशः) आचार्य का उपदेश है (एषा) यह शीक्षावल्ली (वेदोपनिषद्) वेदोपनिषद् है अथवा यह वेद की उपासना है या वेदों का रहस्य है (च) और (एतत्) यही (अनुशासनम्) परम्परागत शिक्षा है (एवम्) इस प्रकार (उपासितव्यम्) तुमको उपासना करनी चाहिये (एवम्) इसी प्रकार (उ) निश्चय करके (एतत्) यह (उपास्यम्) उपासना करने योग्य है ॥४॥

विशेषार्थ—हे प्रिय शिष्य यदि तुमको किसी अवसर पर श्रौत स्मार्त कर्म में या किसी आचरण में सन्देह हो तो वहां जो उत्तम विचार रखने वाले उचित परामर्श देने में कुशल युक्त सत्कर्म और सदाचार में तत्परता पूर्वक लगे हुए सबके साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करने वाले सरल मति तथा एकमात्र धर्म पालन की ही इच्छा करने वाले विद्वान् ब्राह्मण हों—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों पर आचरण करते हों उसी प्रकार का आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। क्योंकि सज्जनों का आचरण धर्म में प्रमाण है यह लिखा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ (मनु० अ० २ श्लो० १२)

वेद १, वेदानुसार धर्मशास्त्र २, शिष्टाचार ३, और आत्मतुष्टि ४, ये चार प्रकार के धर्म में प्रमाण ऋषि लोग कहते हैं ॥१२॥ और युक्त के विषय में लिखा है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः । युक्त इत्युच्यते योगी

समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (गी० अ० ६ श्लो० ८)

जिसका मन ज्ञान तथा विज्ञान से तृप्त है जो कूटस्थ है तथा विजितेन्द्रिय है और मिट्टी पत्थर तथा सोना को समान समझने वाला है वह योगी युक्त कहा जाता है ॥८॥ और ब्राह्मण के विषय में लिखा है—

ब्राह्मणानां शरीरेषु तिष्ठन्ति सर्वदेवताः ।
पादेषु सर्वतीर्थानि पुण्यानि पदधूलिषु ॥ (ब्रह्मवैवर्तपुरा०)

ब्राह्मणों के शरीर में सब देवता रहते हैं चरणों में सब तीर्थ रहते हैं और ब्राह्मणों के चरण की धूलि में समस्त पुण्य रहते हैं ।

अहं प्राणो हि विप्राणां मम प्राणास्तु वै द्विजाः ।
तानेव द्वेष्टि यो मूढः मम नूनं तु हिंसकः ॥ (स्कन्दपु०)

निश्चय करके मैं ब्राह्मणो का प्राण हूं और ब्राह्मण भी मेरे प्राण हैं जो मूढ़ उन ब्राह्मणों से द्वेष करता है वह निश्चय करके मेरा हिंसक है ।

दैवाधीनं जगत्सर्वं मंत्राधीनं च दैवतम् ।
तन्मंत्रं ब्राह्मणाधीनं तस्माद्ब्राह्मणदेवता ॥ (पद्मपुरा०)

संपूर्ण जगत् देवता के अधीन है और देवता मंत्र के अधीन हैं तथा वह मंत्र वेदज्ञ ब्राह्मणों के अधीन है तिससे ब्राह्मण देवता है ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः । (गी० अ० ६ श्लो० ३३)

फिर पुण्य योनि वाले ब्राह्मणों को कहना ही क्या है ॥३३॥ और जो मनुष्य कुछ दोष के कारण लाञ्छित हो गया हो उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये इस विषय में भी यदि सन्देह हो जाय तो वहां भी जो विचारशील परामर्श देने में कुशल युक्त सत्कर्म और सदाचार में पूर्णतया संलग्न धर्म का अभिलाषी सांसारिक कामना से रहित निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें वैसा ही तुमको भी करना चाहिये । क्योंकि लिखा है कि—

महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ (महाभारत)

महान् पुरुष जिस मार्ग से चलते हैं वही मार्ग है । शिष्टाचार धर्म में प्रमाण है । यह शास्त्र की आज्ञा है । यही आचार्य का उपदेश है । यह

वेद की उपासना है अथवा यह संपूर्ण वेदों का रहस्य है या इस शीक्षावल्ली का नाम "वेदोपनिषद्" है। इस श्रुति में "वेदोपनिषद्" पद है इससे यहां पर प्रश्न होता है कि—वेद कितने प्रकार के हैं और उनकी शाखाएँ कितनी हैं तथा उनमें उपनिषद् कौन कौन से हैं। इसका उत्तर यह लिखा है—

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखाह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा ॥

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० ११)

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशति संख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥१२॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥१३॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता ।
तासामेकामृचं यश्च पठते भक्तितो मयि ॥१४॥
स मत्सायुज्यपदवीं प्राप्नोति मुनिदुर्लभाम् ॥१५॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद, इस भेद से वेद चार कहे गये हैं उन चारों की अनेकों शाखाएँ हैं और उन शाखाओं के उपनिषद् भी अनेकों है ॥११॥ ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं हे पवनतनय यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं ॥१२॥ और हे शत्रुतापन सामवेद से हजार शाखाएँ निकली हैं तथा हे कपीश्वर अथर्ववेद की शाखाओं के पचास भेद हैं ॥१३॥ एक एक शाखा की एक एक उपनिषद् मानी गयी है जो व्यक्ति उन उपनिषदों के एक भी मंत्र का भक्ति पूर्वक पाठ करता है ॥१४॥ वह व्यक्ति मुनियों के लिये भी दुर्लभ मेरी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करता है ॥१५॥

माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये। (मुक्तिको अ० १ श्रु० २६)
तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ।
ज्ञानं लब्ध्वाचिरादेव मामकं धाम यास्यसि ॥२७॥
ईश केनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥३०॥

अकेली माण्डूक्योपनिषद् मुमुक्षुजनों को मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है ॥२६॥ यदि उससे भी ज्ञान में परिपक्वता न आवे तो दश उपनिषदों का पाठ करो उससे ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही मेरे धाम को प्राप्त करोगे ॥२७॥ ईशोपनिषद् १, केनोपनिषद् २, कठोपनिषद् ३, प्रश्नोपनिषद् ४, मुण्डकोपनिषद् ५, माण्डूक्योपनिषद् ६, तैत्तिरीयोपनिषद् ७, ऐतरेयोपनिषद् ८, छान्दोग्योपनिषद् ९, और बृहदारण्यकोपनिषद् १०, ये मुमुक्षुओं के पाठ करने योग्य दश उपनिषद् हैं ॥३०॥ इन उपनिषदों से अतिरिक्त मुद्रित अधोलिखित उपनिषदें प्राप्त होती हैं। ब्रह्मोपनिषद् ११, कैवल्योपनिषद् १२, जाबालोपनिषद् १३, श्वेताश्वतरोपनिषद् १४, हंसोपनिषद् १५, आरुणिकोपनिषद् १६, गर्भोपनिषद् १७, नारायणोपनिषद् १८, परमहंसोपनिषद् १९, अमृतबिन्दूपनिषद् २०, अमृतनादोपनिषद् २१, अथर्वशिर उपनिषद् २२, अथर्वशिखोपनिषद् २३, मैत्रायण्युपनिषद् २४, कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् २५, बृहज्जाबालोपनिषद् २६, नृसिंहतापिन्युपनिषद् २७, कालाग्निरुद्रोपनिषद् २८, मैत्रेय्युपनिषद् २९, सुबालोपनिषद् ३०, क्षुरिकोपनिषद् ३१, मंत्रिकोपनिषद् ३२, सर्वसारोपनिषद् ३३, निरालम्बोपनिषद् ३४, शुकरहस्योपनिषद् ३५, वज्रसूचिकोपनिषद् ३६, तेजोबिन्दूपनिषद् ३७, नादबिन्दूपनिषद् ३८, ध्यानबिन्दूपनिषद् ३९, ब्रह्मविद्योपनिषद् ४०, योगतत्त्वोपनिषद् ४१, आत्मप्रबोधोपनिषद् ४२, नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४३, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् ४४, सीतोपनिषद् ४५, योगचूडामण्युपनिषद् ४६, निर्वाणोपनिषद् ४७, मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ४८, दक्षिणामूर्त्युपनिषद् ४९, शरभोपनिषद् ५०, स्कन्दोपनिषद् ५१, त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ५२, अद्वयतारकोपनिषद् ५३, रामरहस्योपनिषद् ५४, रामतापिन्युपनिषद् ५५, वासुदेवोपनिषद् ५६, मुद्गलोपनिषद् ५७, शाण्डिल्योपनिषद् ५८, पैङ्गलोपनिषद् ५९, भिक्षुकोपनिषद् ६०, महोपनिषद् ६१, शारीरकोपनिषद् ६२, योगशिखोपनिषद् ६३, तुरीयातीतोपनिषद् ६४, संन्यासोपनिषद् ६५, परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् ६६, अक्षमालोपनिषद् ६७, अव्यक्तोपनिषद् ६८, एकाक्षरोपनिषद् ६९, अन्नपूर्णोपनिषद् ७०, सूर्योपनिषद् ७१, अक्ष्युपनिषद् ७२, अध्यात्मोपनिषद् ७३, कुण्डिकोपनिषद् ७४, सावित्र्युपनिषद् ७५, आत्मोपनिषद् ७६, पाशुपतोपनिषद् ७७, परब्रह्मोपनिषद् ७८, अवधूतोपनिषद् ७९, त्रिपुरतापिन्युपनिषद् ८०, देव्युपनिषद् ८१, त्रिपुरोप-

निषद् ८२, कठरुद्रोपनिषद् ८३, भावनोपनिषद् ८४, रुद्रहृदयोपनिषद् ८५, योगकुण्डल्युपनिषद् ८६, भस्मजाबालोपनिषद् ८७, रुद्राक्षजाबालोपनिषद् ८८, गणपत्युपनिषद् ८९, जाबालदर्शनोपनिषद् ९०, तारसारोपनिषद् ९१, महावाक्योपनिषद् ९२, पञ्चब्रह्मोपनिषद् ९३, प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ९४, गोपालतापिन्युपनिषद् ९५, कृष्णोपनिषद् ९६, याज्ञवल्क्योपनिषद् ९७, वराहोपनिषद् ९८, शाट्यायनीयोपनिषद् ९९, हयग्रीवोपनिषद् १००, दत्तात्रेयोपनिषद् १०१, गरुडोपनिषद् १०२, कलिसंतरणोपनिषद् १०३, जाबाल्युपनिषद् १०४, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १०५, सरस्वतीरहस्योपनिषद् १०६, बह्वृचोपनिषद् १०७, मुक्तिकोपनिषद् १०८, अद्वैतोपनिषद् १०९, अद्वैतभावनोपनिषद् ११०, अनुभवसारोपनिषद् १११, अमनस्कोपनिषद् ११२, अरुणोपनिषद् ११३, अल्लोपनिषद् ११४, आचमनोपनिषद् ११५, आत्मपूजोपनिषद् ११६, आथर्वणद्वितीयोपनिषद् ११७, आयुर्वेदोपनिषद् ११८, आरुणेय्युपनिषद् ११९, आर्षेयोपनिषद् १२०, आश्रमोपनिषद् १२१, इतिहासोपनिषद् १२२, ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् १२३, कण्ठोपनिषद् १२४, कठश्रुत्युपनिषद् १२५, कात्यायनोपनिषद् १२६, कामराजकीलितोद्धारोपनिषद् १२७, कालिकोपनिषद् १२८, कालीमेधादीक्षितोपनिषद् १२९. कौलोपनिषद् १३०, गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद् १३१, गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् १३२, गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् १३३, गान्धर्वोपनिषद् १३४, गायत्र्युपनिषद् १३५, गायत्रीरहस्योपनिषद् १३६, गुह्यकाल्युपनिषद् १३७, गुह्यषोढान्यासोपनिषद् १३८, गोपीचन्दनोपनिषद् १३९, चतुर्वेदोपनिषद् १४०, चाक्षुषोपनिषद् १४१, चित्युपनिषद् १४२, छागलेयोपनिषद् १४३, जाबाल्युपनिषद् १४४, तारोपनिषद् १४५, तुरीयोपनिषद् १४६, तुलस्युपनिषद् १४७, त्रिपुरामहोपनिषद् १४८, त्रिसुपर्णोपनिषद् १४९, दत्तोपनिषद् १५०, दुर्वासोपनिषद् १५१, द्वयोपनिषद् १५२, नारदोपनिषद् १५३, नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद् १५४, नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद् १५५, निरुक्तोपनिषद् १५६, नीलरुद्रोपनिषद् १५७, नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् १५८, नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् १५९, परमात्मिकोपनिषद् १६०, पारायणोपनिषद् १६१, पिण्डोपनिषद् १६२, पीताम्बरोपनिषद् १६३, पुरुषसूक्तोपनिषद् १६४, प्रणवोपनिषद् १६५, बटुकोपनिषद् १६६, बाष्कलमंत्रोपनिषद् १६७, बिल्वोपनिषद् १६८, भगवद्गीतोप-

निषद् १६६, भवसंतरणोपनिषद् १७०, मठाम्नायोपनिषद् १७१, मल्लाग्न्युपनिषद् १७२, मृत्युलाङ्गूलोपनिषद् १७३, यज्ञोपवीतोपनिषद् १७४, योगराजोपनिषद् १७५, योगोपनिषद् १७६, राजश्यामलारहस्योपनिषद् १७७, राधिकोपनिषद् १७८, राधोपनिषद् १७९, रुद्रोपनिषद् १८०, लक्ष्म्युपनिषद् १८१, लाङ्गूलोपनिषद् १८२, लिङ्गोपनिषद् १८३, वज्रपञ्जरोपनिषद् १८४, वनदुर्गोपनिषद् १८५, विश्रामोपनिषद् १८६, विष्णुहृदयोपनिषद् १८७, शिवसङ्कल्पोपनिषद् १८८, शिवोपनिषद् १८९, शौनकोपनिषद् १९०, श्यामोपनिषद् १९१, श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद् १९२, श्रीचक्रोपनिषद् १९३, श्रीविद्यातारकोपनिषद् १९४, षोढोपनिषद् १९५, सङ्कर्षणोपनिषद् १९६, सदानन्दोपनिषद् १९७, सन्ध्योपनिषद् १९८, संहितोपनिषद् १९९, सामरहस्योपनिषद् २००, सिद्धान्तविट्ठलोपनिषद् २०१, सिद्धान्तशिखोपनिषद् २०२, सिद्धान्तसारोपनिषद् २०३, सुदर्शनोपनिषद् २०४, सुमुख्युपनिषद् २०५, सूर्यतापिन्युपनिषद् २०६, स्वसंवेद्योपनिषद् २०७, हंसषोढोपनिषद् २०८, हेरम्बोपनिषद् २०९, भाल्लवीयब्राह्मणोपनिषद् २१०, सब मिलकर एक हजार एक सौ अस्सी उपनिषद् हैं परन्तु कराल कलिकाल के भूपाल के प्रभाव से सब उपलब्ध नहीं होती हैं। शीक्षावल्ली के ग्यारहवें अनुवाक में कही हुई नारायण की आज्ञा और परम्परा गत उपदेश है। इस प्रकार तुमको उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार निश्चय करके तुमको उपासना करनी चाहिये। इस श्रुति में पुनरुक्ति उपासना के आदर सूचना के लिये है। यहां शीक्षावल्ली का ग्यारहवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ द्वादशोऽनुवाकः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम् ॥१॥

॥ इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि प्रथमा शीक्षावल्ली समाप्ता ॥

अन्वयार्थ—(मित्रः) दिन और प्राण के अधिष्ठाता मित्र देवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों तथा (वरुणः) रात्रि और अपान के अधिष्ठाता वरुण देवता हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (अर्यमा) चक्षु और सूर्य के अधिष्ठाता अर्यमा देवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी (भवतु) हों (इन्द्रः) बल और भुजा के अधिष्ठाता इन्द्र देवता (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (बृहस्पतिः) वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति देवता हमारे लिये कल्याणकारी हों (उरुक्रमः) त्रिविक्रम रूप से बड़े बड़े चरण रखने वाले (विष्णुः) चरण के अधिष्ठाता श्रीविष्णु भगवान् (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों (ब्रह्मणे) परब्रह्म नारायण के लिये (नमः) नमस्कार है (वायो) हे वायुदेव (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार है (त्वम्) तुम (एव) निश्चय करके (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष प्राण रूप से प्रतीत होने वाले (ब्रह्म) ब्रह्म (असि) हो (त्वाम्) तुमको (एव) ही (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (ब्रह्म) ब्रह्म (अवादिषम्) कहा है (ऋतम्) शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में सम्यक् निश्चय किया हुआ ऋत को (अवादिषम्) कहा है (सत्यम्) सत्य को (अवादिषम्) कहा है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (माम्) मुझको (आवीत्) रक्षा किया है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (वक्तारम्) वक्ता आचार्य को (आवीत्) रक्षा किया है (माम्) मुझको (आवीत्) वह नारायण रक्षा किया है (वक्तारम्) वक्ता आचार्य को (आवीत्) वह परब्रह्म नारायण रक्षा किया है ॥१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षुओं के प्रति माता पिता से भी हजार गुना अधिक कल्याण चाहने वाली श्रुति भिन्न भिन्न नामों से परब्रह्म नारायण की स्तुति करते हुए प्रार्थना पूर्वक कृतज्ञता प्रकट करने को आदेश देती है। दिन और प्राण के अभिमानी मित्र देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। तथा रात्रि और अपान के अभिमानी वरुण देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। और चक्षु तथा सूर्य के अभिमानी अर्यमा देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों। मित्र, वरुण, और अर्यमा देवता के विषय में लिखा है—

महित्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्य्यम्णः। दुराधर्षं वरुणस्य।

(यजु० अ० ३ मं० ३१)

दिन और प्राण के अधिष्ठात्री देवता मित्र तथा चक्षु और सूर्य

के अधिष्ठात्री देवता अर्यमा तथा अपान और जल के अधिष्ठात्री देवता वरुण इन तीनों देवताओं से सम्बन्ध रखने वाली बड़ी कान्तिमान् सुवर्णादि द्रव्यों से युक्त तिरस्कार पाने को अशक्य पालना वा रक्षा हमको प्राप्त हो ॥३१॥ इसके अगले मंत्र में लिखा है—

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ।

(यजु० अ० ३ मं० ३३)

वे मित्र वरुण और अर्यमा देवता अदिति देवी के पुत्र हैं और वे तीनों यजमान के लिये अखण्ड तेज तथा दीर्घायु को देते हैं ॥३३॥ बल और भुजा के अभिमानी इन्द्र देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों । इन्द्र के विषय में लिखा है—

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥

(सामवे० उत्तरार्चिक अ० १६ खं० १ मं० २)

इन्द्रदेव अपने बल की महिमा से द्युलोक और पृथिवी को पूर्ण करता हुआ इन्द्रदेव राहु से ढके सूर्य को प्रकाशित करता हुआ इन्द्रदेव में निश्चय सब भुवन ठहरे हुए हैं अभिषूयमाण सोम इन्द्रदेव में ही नियमित होते हैं ॥२॥ वाणी और बुद्धि के अभिमानी बृहस्पति देवता हमारे लिये कल्याणप्रद हों । देवताओं के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेव देव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव, हैं ॥२०॥

त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः ।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मा ॥

(यजु० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादिक तीन देव ग्यारह रुद्रदेव और तैंतीस देव तथा पुरोहित बृहस्पति देव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥ बलिराजा से तीन डेग की याचना से सर्व राज्य के ग्रहण के अर्थ विश्वरूप धारक विस्तीर्ण पाद के क्रम वाले श्रीविष्णु भगवान् हमारे लिये कल्याणप्रद हों। श्रीत्रिविक्रमावतार के विषय में लिखा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥

(यजु० अ० ५ मं० १५)

त्रिविक्रमावतार धारी विष्णु ने इस ब्रह्माण्ड को नापा और तीन प्रकार से चरण रखा इसके धूलियुक्त पद में समस्त संसार सम्यक् अन्तर्भूत हुआ है ॥१५॥ यह मंत्र थोड़े पाठ भेद से ऋग्यजुः साम इन तीनों वेदों में है। और जो मैं इसका अर्थ करता हूं यही निरुक्तकार यास्काचार्य का भी अर्थ है।

वामनो ह विष्णुरास। (शतप० कां० १ अ० २ ब्रा० २ कं० ५)

वामन साक्षात् विष्णु ही थे ॥५॥

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

(कठोप० अ० २ व० २ श्रु० ३)

मध्य में आसीन वामन भगवान् की सब देवता उपासना करते हैं ॥३॥ परब्रह्म नारायण के लिये नमस्कार है। हे वायुदेव तेरे लिये नमस्कार है तुम निश्चय करके प्रत्यक्ष प्राणरूप से प्रतीत होने वाले ब्रह्म हो तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है। वायु के विषय में लिखा है—

तस्माद्वा एते अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते।
ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

(केनोप० खं० ४ श्रु० २)

जिस कारण से अग्निदेव, तथा वायुदेव, और इन्द्रदेव, वे सब ही इस परब्रह्म नारायण के समीप में दर्शन द्वारा स्पर्श किये वे अग्नि, वायु, इन्द्र, निश्चय करके इस यक्षरूपधारी परब्रह्म को सब देवताओं से पहले परब्रह्म नारायण हैं ऐसा जानते हुए तिस कारण से निश्चय करके ये तीन

अग्नि, वायु और इन्द्र देवता दूसरे वरुण, अर्यमा आदि देवताओं की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ के समान हैं ॥२॥ अथवा इस अनुवाक में मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, वायु, आदिक जितने शब्द हैं वे परब्रह्म नारायण के वाचक हैं क्योंकि लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्वे० मण्डल० १ सूक्त० १६ मं० ४६)

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गारुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, सत्, इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण कहते हैं ॥४६॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
(यजु० अ० ३२ मं० १)

वही नारायण निश्चय करके अग्नि है वही सूर्य है वही वायु है और वही निश्चय करके चन्द्रमा है ॥१॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥
(कैवल्यो० श्रु० ८)

वही नारायण ब्रह्मा है वही शिव है वही इन्द्र है वही अक्षर परमात्मा है वही निश्चय करके विष्णु है वही प्राण है वही काल है वही अग्नि है और वही चन्द्रमा है ॥८॥ और भगवद्गीता में लिखा है—

आदित्यानामहं विष्णुः । गी० अ० १० श्लो० २१)
देवानामस्मि वासवः ॥२२॥ वसूनां पावकश्चास्मि ॥२३॥ पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥२४॥ वरुणो यादसामहम् । पितॄणामर्यमाचास्मि ॥२९॥ पवनःपवतामस्मि ॥३१॥

आदित्यों में मैं विष्णु हूं ॥२१॥ देवताओं में मैं इन्द्र हूं ॥२२॥ वसुओं में मैं अग्नि हूं ॥२३॥ हे अर्जुन पुरोहितों में श्रेष्ठ बृहस्पति मुझको तुम जानो ॥२४॥ जलचरों में मैं वरुण हूं और पितरों में मैं अर्यमा हूं ॥२९॥ गमन करने वालों में मैं वायु हूं ॥३१॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च। (गी०११।३९)
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

आप, वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं ॥३९॥ आप सबको व्याप्त कर रहे हैं अतः आप ही सब शब्द के वाच्य हैं ॥४०॥ इससे यह अर्थ हुआ कि—मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, आदिक देवताओं के अन्तर्यामी परब्रह्म नारायण हमारे लिये कल्याणप्रद हों परब्रह्म नारायण के लिये नमस्कार करता हूँ। हे वायु शब्द वाच्य पर ब्रह्म नारायण तेरे लिये नमस्कार है। तुम्ही समस्त प्राणियों के प्राण स्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो अतः मैंने तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है। शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में सम्यक् रूप से निश्चय किया हुआ ऋत को मैंने कहा है। सत्य को मैंने कहा है। सत्य के विषय में लिखा है—

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥
(जाबा० दर्श० उ० खं० १ श्रु० ९)

हे प्रिय! नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया और सुना गया तथा सूंघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥९॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते ॥ (विष्णुस्मृ० ८)

हजार अश्वमेध यज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेध यज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥ वह परब्रह्म नारायण गर्भ में मेरी रक्षा की है। परब्रह्म के व्यापक होने से "तत्" नाम है। क्योंकि लिखा है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते। (ऋग्वे० अष्टक० ७ अध्या० ३ वर्ग० ८ मण्डल० ९ अनुवा० ४ सूक्त ८४ मं० १)

तप्तचक्र से अदग्ध बाहुमूल अपरिपक्वजन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है ॥१॥ यह श्रुति "सामवे० पूर्वाचि० प्रपाठ० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२" में और "कृष्णयजु० तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १ अनुवा० ११ मं० २" में भी है।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् । (केनोप० खं० ४ श्रु० ६)

वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से "तत्" और भजनीय होने से "वन" नाम वाला है इस कारण से उस परब्रह्म नारायण का तत् और वन इस नाम से उपासना करने योग्य है ॥६॥

ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

(गी० अ० १७ श्लो० २३)

ओम, तत, सत, यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा है ॥२३॥

किं यत्तत्पदमनुत्तमम् ।

(महाभार० अनुशासनप० विष्णुसहस्रना० श्लो० ६१)

किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६१॥ वही परब्रह्म नारायण वक्तृत्व की शक्ति प्रदान करके ब्रह्म का निरूपण करने वाले आचार्य का भी रक्षा की है। वह परब्रह्म नारायण मेरी रक्षा की है और मेरे वक्ता आचार्य की भी रक्षा की है। इस श्रुति में "मामावीत् वक्तारमावीत्" इन पदों का दो बार उच्चारण शीक्षावल्ली की समाप्ति सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यतिसार्वभौम भगवद्रामानुजाचार्य—

वेधाद्यर्थभेदात् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० २५)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की शीक्षावल्ली के बारहवां अनुवाक के—

"शं नो मित्रः शं वरुणः" "ऋतमवादिषम्" "सत्यमवादिषम्"

इन खण्डों को उद्धृत किये हैं। इस बारहवां अनुवाक के अन्त में किसी किसी ग्रन्थ में। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः। ऐसा पाठ है। इसका भाव यह है कि—आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीनों प्रकार के विघ्नों का सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्ति स्वरूप हैं। यहां तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली का बारहवां अनुवाक समाप्त हो गया और पहली शीक्षावल्ली भी समाप्त हो गई। यह शीक्षावल्ली "सांहिती उपनिषद्" के नाम से भी कही जाती है ॥१॥

॥ इति सांहिती उपनिषद् व्याख्या समाप्ता ॥

॥ अथ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥

॥ अथ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ब्रह्मविदाप्नोति परम् तदेषाभ्युक्ता ।

अन्वयार्थ—(ब्रह्मवित्) निरतिशय बृहत्त्व गुण के आश्रय वस्तु के उपासक प्रपन्न (परम्) सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (तत्) उस ब्रह्म को अभिमुख करके उसी भाव को व्यक्त करने वाली (एषा) यह श्रुति (अभ्युक्ता) वेदाध्ययन करने वालों से भली-भांति कही गयी है।

विशेषार्थ—तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रथमवल्ली में परब्रह्म नारायण की उपासना प्रतिपादन करके द्वितीयवल्ली प्रारम्भ की जाती है। इस वल्ली को ब्रह्मानन्दवल्ली या आनन्दवल्ली या ब्रह्मवल्ली कहते हैं अपने पूर्वाचार्य प्रायः इसको ब्रह्मवल्ली ही कहते हैं। क्योंकि स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मवल्ली भृगुवल्ली पुरुषसूक्तार्चिरादीन् सहस्रगीत्युपान्त्य-दशकादीन् सूरिषु अनुसंधानेषु—ब्रह्मरन्ध्रेण यामुनाचार्य्यः परमपदमगात् । (वार्तामाला वा० ४१६)

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली को तथा भृगुवल्ली को और पुरुषसूक्त को तथा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषदादि के अर्चिरादि मार्ग को तथा सहस्र-गीति के अन्तिम दशक के पास का "व्याप्ताकाशे" इत्यादि दशकों को सूरियों के अनुसंधान करने पर ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से यामुनाचार्य स्वामी जी परमपद को प्राप्त कर लिये ॥४१६॥ परमतत्त्व हित और पुरुषार्थ को प्रति-पादन करने वाली ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक की श्रुति कहती है कि—निरतिशय बृहत्त्व गुण के आश्रय वस्तु के उपासक जन सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मशब्द भ्वादिपठित "बृहि वृद्धौ" इस धातु से। बृंहेर्नोऽच्च ॥ उणादि० पाद० ४ ॥ इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय तथा नकार के अकार और यणादेश होकर निष्पन्न होता है। जो स्वरूप और गुणों से सबसे बड़ा होने के कारण ब्रह्म कहलाता है ब्रह्म के विषय में लिखा है—

ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशया-संख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते ।

(श्रीभाष्य० जिज्ञासाधिकरण १)

ब्रह्म शब्द से स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और सीमा रहित अतिशय असंख्य कल्याण गुण गण संपन्न पुरुषोत्तम नारायण कहे जाते हैं ॥१॥ ब्रह्म का लक्षण भी लिखा है ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ॥

(तैत्ति० उ० व० ३ अनुवा० १)

जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए सब भूत जिस करके जीवित रहते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं और अन्त में जिस करके मुक्त हो जाते हैं उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥१॥

जन्माद्यस्य यतः । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २)

इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् के जिससे उत्पत्ति, पालन, प्रलय, आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ "ब्रह्मवित्" यहां पर वेदन का उपासना अर्थ है क्योंकि लिखा है—

मनो ब्रह्मेत्युपासीत । (छान्दोग्यो० अ० ३ खं० १८ श्रु० १)

मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे ॥१॥ यहां उपासना से प्रारम्भ करके ।

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।

(छा० उ० अ० ३ खं० १८ श्रु० ३)

जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति तथा यश और ब्रह्म तेज से देदीप्यमान होता है और तपता है ॥३॥ इस श्रुति में पठित वेदन में उपसंहार किया गया है और—

यस्तद्वेद यत्सवेद स मयैतदुक्तः । (छा० उ० अ० ४ खं० १ श्रु० ४)

जो वह उसके जानता है उसको जो कोई भी जानता है उसको

विषय में भी मुझसे यह कह दिया गया ॥४॥ यहां वेदन से प्रारंभ करके।

अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से।

(छा० उ० अ० ४ खं० २ श्रु० २)

हे भगवन् आप मुझे उस देवता का उपदेश दीजिये जिसकी आप उपासना करते हैं ॥२॥ इस श्रुति में पठित उपासना में उपसंहार किया गया है।

वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्। (बोधायनवृत्ति)

वेदन उपासना ही है क्योंकि उपासना के विषय में वेदन छान्दोग्य की श्रुति में सुना जाता है।

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। (तै० उ० व० २ अनुवा० १)

इस श्रुति में ब्रह्म १, ब्रह्मोपासना २, प्राप्ति ३, और प्राप्य परब्रह्म ४, यह चार वस्तु प्रतिपादन किया गया है। परब्रह्म के विषय में लिखा है—

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणं च बृहद्बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म।

(अथर्वशिर उपनि० खं० ३ श्रु० ४)

परब्रह्म कैसे कहा जाता है—जिससे पर यानी ब्रह्मादिक देवता और अपर यानी मनुष्यादिक तथा स्थावर ब्रह्मादिलोक सब बड़ी वृद्धि को प्राप्त करता है और गुण तथा स्वरूप से सबसे बड़ा होने से परब्रह्म कहा जाता है ॥४॥ पूर्वोक्त ब्रह्मवल्ली के खण्ड का संकलनार्थ यह हुआ कि—संपूर्णहेयगुणगणों से रहित तथा स्वाभाविक असीम अतिशय ज्ञान बल ऐश्वर्य वीर्य शक्ति और तेज प्रभृति असंख्य कल्याणमय गुणसमूहों के महासागर परब्रह्म नारायण की उपासना करने वाला भक्तजन अचिन्त्य दिव्य अद्भुत नित्य निर्मल निरतिशय औज्ज्वल्य सौगन्ध्य सौन्दर्य सौकुमार्य लावण्य आदि गुण गण संपन्न सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है। उस ब्रह्म को अभिमुख करके उसी भाव को व्यक्त करने वाली आगे आने वाली यह श्रुति ऋचा के स्वाध्याय करने वालों से भलीभांति कही गयी है। श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १)

तत्तु समन्वयात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४)

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

मांत्रवर्णिकमेव च गीयते । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १६)

नेतरोऽनुपपत्तेः । (शा० मी० अ० १ पा० १ शू० १७)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १४)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५७)

पुरुपार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः । (शा०मी०अ० ३ पा० ४ सू० १)

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।

(शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० २)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । (शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १)

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

(शा० मी० अ० ४ पा० १ सू० १३)

उपर्युक्त ग्यारह सूत्रों के—श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । इस खण्ड को उद्धृत किये हैं । उभय वेदान्त प्रवर्तकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य ।

मान्त्रवर्णिकमेवच गीयते । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १६)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के । "तदेषाभ्युक्ता" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

अन्वयार्थ—(सत्यम्) सत्य यानी निरुपाधिकसत्तायोगि (ज्ञानम्) ज्ञान यानी नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार (अनन्तम्) अनन्तयानी देश काल

और वस्तु के परिच्छेद से रहित (ब्रह्म) परब्रह्म नारायण है (यः) जो उपासक (गुहायाम्) हृदयरूप गुफा में (निहितम्) स्थित परब्रह्म को (वेद) जानता है (सः) वह उपासक ज्ञानी (विपश्चिता) उपाधिरहित अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषयक ज्ञानवाला सर्वज्ञ (ब्रह्मणा) परब्रह्म नारायण के (सह) साथ (परमे) सबसे उत्कृष्ट (व्योमन्) अप्राकृत आकाश परमपद में (सर्वान्) समस्त (कामान्) कल्याणगुणों को (अश्नुते) अनुभव करता है (इति) इस प्रकार यह मंत्र समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—इस मंत्र के द्वारा—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० व० २अनुवा० १) निरतिशय बृहत्वगुण के आश्रयवस्तु के उपासक पुरुष सबसे उत्कृष्ट प्राप्य परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है ॥१॥ इस ब्राह्मण से कहा हुआ अर्थ का ही विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। पूर्वोक्त ब्राह्मण की श्रुति में ब्रह्म १, ब्रह्मवेदन २, प्राप्ति ३, और प्राप्य ४, यह चार वस्तु प्रतिपादन किया गया है। इन चारों के क्रम से वह ब्रह्म कैसा है और ब्रह्मवेदन कैसा है तथा प्राप्ति कैसी है और प्राप्य कैसा है इस आकांक्षा में यह मंत्र विशद रूप से वर्णन करता है। और—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति॥

(तै० उ० व० ३ अनुवा० १)

जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए सब भूत जिस करके जीवित रहते हैं और जिसमें प्रलय होते हैं तथा अन्त में जिस करके मुक्त हो जाते हैं उसको विशेष रूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥१॥

जन्माद्यस्य यतः। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २)

इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् का जिससे उत्पत्ति पालन प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ इन श्रुति सूत्रों से जगज्जन्मादिकारण प्रतिपन्न परब्रह्म नारायण के सकलेतर व्यावृत्त स्वरूप को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मंत्र से विशद प्रतिपादन किया जाता है। यहां "सत्यम्" आदि तीन पद विशेषण हैं और "ब्रह्म" पद विशेष्य है। वह

परब्रह्म नारायण सत्य स्वरूप है। यहां सत्यपद—उपाधि रहित सत्तायोगी परब्रह्म को कहता है। इससे विकारास्पद अचेतन और संसृष्ट चेतन ये दोनों व्यावृत्त हो गये। तथा वह परब्रह्म नारायण ज्ञान स्वरूप है। यहां ज्ञानपद—नित्य असंकुचित ज्ञानैकाकार परब्रह्म नारायण को कहता है। इससे कदाचित् संकुचितज्ञानवाले मुक्त जीव व्यावृत्त हो गये। वह परब्रह्म नारायण अनन्त स्वरूप है। यहां अनन्तपद—देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म के स्वरूप को कहता है। स्वरूप के सगुण होने से स्वरूप से और गुणों से अन्त रहित परब्रह्म नारायण है। इससे पूर्व में कहा हुआ सत्यपद और ज्ञानपद से व्यावृत्त और दोनों कोटि से विलक्षण सातिशयस्वरूप स्वगुण नित्य व्यावृत्त हो गये। अनन्त के विषय में लिखा है—

अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधःस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः।

(अथर्वशिर उप० श्रु० ४)

अनन्त कैसे कहा जाता है—जिससे उच्चारण करने पर इसके ऊपर नीचे अगल बगल आदिक कहीं पर भी अन्त नहीं प्राप्त होता है इससे अनन्त कहा जाता है ॥४॥

शाश्वतत्त्वादनन्तश्च। (महाभारत उद्योगप० अध्या० ७० श्लो० १४)

शाश्वत गुण तथा स्वरूप करके अन्त रहित होने से अनन्त कहा जाता है ॥१४॥

नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमुच्यते। (स्मृ०)

गुणों का अन्त कोई नहीं पा सकते हैं इससे परब्रह्म अनन्त कहा जाता है। इस "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" मंत्र से "ब्रह्म" शब्द का अर्थ विवरण किया गया है। और जगत् के जन्मादि कारण ब्रह्म कैसा है इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १)

जन्माद्यस्य यतः। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २)

तत्तु समन्वयात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४)

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

मांत्रवर्णिकमेव च गीयते । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १६)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । (शा० मी० अ० १ पा० सू० २१)

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ३२)

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् । (शा० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३७)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।
(शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १४)

परिणामात् । (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २७)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । (शा०मी०अ० २ पा० १ सू० १५)

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।
(शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २६)

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १५)

आह च तन्मात्रम् । (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १६)

बुद्ध्यर्थः पादवत् । (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ३२)

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।
(शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १२)

इतरे त्वर्थसामान्यात् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १३)

अनियमः सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम् ।
(शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३२)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३५)

उपर्युक्त ओनईसों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस खण्ड को

उद्धृत किये हैं। जो भगवदुपासक हृदयरूप गुफा में स्थित उस परब्रह्म नारायण को जान लेता है। परब्रह्म हृदय में रहता है क्योंकि लिखा है—

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ।

(तै० आर० प्रपा० ३ अनुवा० ११)

प्राणियों का शासक सबका आत्मा अन्तर में प्रविष्ट है ॥११॥

निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।

(तै० आ० प्र० १० अ० १० श्रु० २०)

दहं विपापं वरवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्य संस्थम् ।
तत्रापि दहं गगनं विशोकं तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम् ।

(तै० १०।१०।२२)

हृदय रूप गुफा में स्थित जो परब्रह्म विराजमान है जिसमें यत्नशील यतिलोग प्रवेश करते हैं ॥२०॥ शरीर के मध्य हृदय में स्थित जो कमल है वही पापरहित दहराकाश परब्रह्म नारायण का श्रेष्ठ घर है उस शुद्ध दहराकाश के भीतर जो शोक रहित तत्त्व है वही उपासना करने योग्य है ॥२२॥

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये । (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १)

परमोत्तम परब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट निवास स्थान मनुष्य के हृदय रूप गुफा में जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों प्रवेश किये हुए हैं ॥१॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।

(कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १७)

सबका अन्तर्यामी अंगूठे के समान परिमाण वाला परम पुरुष परमात्मा सदैव सभी मनुष्यों के हृदय में संनिविष्ट है ॥१७॥

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः । (मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ५)

सब दोषों से रहित यत्नशील जितेन्द्रिय पुरुष जिस परमात्मा को साक्षात्कार करते हैं निश्चय करके प्रकाश स्वरूप ज्ञानमय परम विशुद्ध वह परमात्मा शरीर के भीतर हृदय में विराजमान है ॥५॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
(श्वे० उ० अ० ३ श्रु० १३)

सबके अन्तर्यामी अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष मनुष्यों के हृदय में सर्वदा भलीभांति प्रवेश किया है ॥१३॥

सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टः। (गी० अ० १५ श्लो० १५)

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूं ॥१५॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी० अ० १८ श्लो० ६१)

हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ॥६१॥ "यो वेद निहितं गुहायाम्" इन पदों से "ब्रह्मवेदन" शब्द का अर्थ विवरण किया गया है। और ब्रह्मवेदन कैसा है इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है। यहां वेदन का अर्थ उपासना है क्योंकि लिखा है—

वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्। (बोधायनवृत्ति)

वेदन उपासना ही है क्योंकि उपासना के विषय में वेदन छान्दोग्योपनिषद् में सुना जाता है। श्रीमन्नारायण की उपासना करने वाला ज्ञानी निरुपाधिक-अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषयक ज्ञानविशिष्ट और अनन्तकल्याण गुणों से युक्त परब्रह्म नारायण को सबसे उत्कृष्ट अप्राकृत आकाश यानी परमपद स्थान में अनुभव करता है। अथवा भगवदुपासक उपाधि रहित अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषयक ज्ञानवाला सर्वज्ञ परब्रह्म नारायण के साथ सबसे उत्कृष्ट अप्राकृत आकाश परमपद में समस्त कल्याण गुणों को अनुभव करता है "सह ब्रह्मणा" (तै० उ० व० २ अ० १) इस श्रुति में "सह" शब्द होनें से मुक्तावस्था में भी जीव का भेद ही सिद्ध होता है। और अन्यत्र भी लिखा है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। (गी० अ० १४ श्लो० २)

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरी समता को प्राप्त कर लेते हैं ॥२॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च। (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० २१)

जगत् के व्यापार को बराकर ऐसा लिङ्ग होने से भोगमात्र में मुक्त जीव परब्रह्म की समता को प्राप्त करता है ॥२१॥

विविधं पश्यन्ती चिद्यस्य। इस प्रकार के बहुव्रीहि समास करने पर।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्। (पा० व्या० अ० ६ पा० ३ सू० १०६)

इस सूत्र से "विपश्चित्" शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ—निरुपाधिक अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषय ज्ञानवाला होता है। "कामान्" पद का कल्याण गुण अर्थ है क्योंकि लिखा है—

अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। (छां० उ० अ० ८ खं० १ श्रु० ६)

जो इस लोक में आत्मा को और सत्य ज्ञान आदिक कल्याण गुणों को जानकर परलोक में जाते हैं उनकी समस्त लोकों में यथेच्छ गति होती है ॥६॥ इस श्रुति में काम शब्द कल्याण गुण में प्रयुक्त हुआ है। इससे और सब विषयों से विरक्त मुक्त जीव को भगवान् के गुणों से अतिरिक्त की चाहना कभी नहीं हो सकती है अतः पूर्वोक्त पद का कल्याण गुण ही अर्थ है। "परमे व्योमन् सोऽश्नुते" इन पदों से "प्राप्ति" शब्द का अर्थ विवरण किया गया है। और प्राप्ति कैसी है इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है।

"सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता"

इन पदों से "प्राप्य" शब्द का अर्थ विवरण किया गया है। और प्राप्य कैसा है इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है। सत्सम्प्रदायाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १)

तत्तु समन्वयात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः।

(शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १४)

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।

(शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २६)

अविभागेन दृष्टत्वात्। (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ४)

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च। (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० २१)

इन छवों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी आनन्दवल्ली के पहले अनुवाक के ।

"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"

इस खण्ड को उद्धृत किये हैं । मूल में "इति" शब्द प्रकृत मंत्र की समाप्ति सूचित करने के लिये है ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तस्मात्) उस ब्राह्मणोक्त (एतस्मात्) इस मंत्रोक्त (आत्मनः) परमात्मा से (आकाशः) आकाशतत्त्व (संभूतः) उत्पन्न हुआ (आकाशात्) और आकाश शरीर वाला परमात्मा से (वायुः) वायु तत्त्व उत्पन्न हुआ तथा (वायोः) वायु शरीरक परमात्मा से (अग्निः) अग्नितत्त्व उत्पन्न हुआ और (अग्नेः) अग्नि शरीरक परमात्मा से (आपः) जल तत्त्व उत्पन्न हुआ तथा (अद्भ्यः) जल शरीरक परमात्मा से (पृथिवी) पृथिवी तत्त्व उत्पन्न हुआ और (पृथिव्याः) पृथिवी शरीरक परमात्मा से (ओषधयः) समस्त ओषधियां उत्पन्न हुईं तथा (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (अन्नम्) खाद्य अन्न उत्पन्न हुआ और (अन्नात्) खाद्य अन्न से (पुरुषः) मनुष्य का शरीर उत्पन्न हुआ (सः) वह (एषः) यह (पुरुषः) मनुष्य का शरीर (वै) निश्चय ही (अन्नरसमयः) अन्न के रस का परिणाम है (तस्य) उस देहरूप पुरुष के (इदम्) यह प्रत्यक्ष दीखने वाला सिर (एव) ही (शिरः) पक्षी की कल्पना में सिर है (अयम्) यह (दक्षिणः)

दाहिना हाथ (पक्षः) दाहिना पंख है (अयम्) यह (उत्तरः) बायां हाथ (पक्षः) बायां पंख है (अयम्) यह शरीर का मध्य भाग (आत्मा) पक्षी के अङ्गों के प्रधानभूत आत्मा यानी मध्य भाग है (इदम्) यह दोनों पैर (पुच्छम) पुच्छ के समान आधार होने से (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा यानी आधार है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्र रूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—ब्रह्मविदाप्नोति परम् । (तै० उ० व० २ अनु० १)
निरतिशय वृहत्वगुण के आश्रय परब्रह्म की उपासना करने वाला प्रपन्न सबसे उत्कृष्ट परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है ॥१॥ इस ब्राह्मण वाक्य द्वारा संपूर्ण ब्रह्मवल्ली का अर्थ सूत्ररूप से कहा गया है। और सूत्रभूत अर्थ को ही।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तै० उ० व० २ अनु० १)

निरुपाधिकसत्ता से योग वाला तथा नित्य असंकुचित ज्ञान गुण वाला और देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित परब्रह्म नारायण है ॥१॥ इस मंत्र द्वारा विवरण करके संक्षेप से व्याख्या कर दी गयी है। अब फिर उसी का अर्थ विस्तार से प्रतिपादन करने के लिये और सर्वोपादानता तथा सर्वान्तरत्व परब्रह्म में सिद्ध करने के लिये।

तस्माद्वा एतस्मात् । (तै० उ० व० २ अ० १)

इत्यादि ब्राह्मण वाक्य प्रारम्भ किया जाता है। निश्चय करके जिस परब्रह्म परमात्मा का पहले ब्राह्मण वाक्य द्वारा उल्लेख किया गया है और उसके बाद मंत्र के द्वारा जिस परब्रह्म का विशद वर्णन किया गया है उस इस आत्मा पदवाच्य परब्रह्म नारायण से शब्दगुण वाला और सब भूतों को अवकाश देने वाला आकाश उत्पन्न हुआ। इस श्रुति में आत्मा का अर्थ नारायण है क्योंकि लिखा है—

आत्मा नारायणः परः। (तै० आर० प्रपा० १० अनुवा०११ श्रु० ४)

आत्मा परब्रह्म नारायण हैं ॥४॥

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । (ऐत०उ० अ० १ खं० १ श्रु० १)

प्रसिद्ध यह जगत् पहले एक आत्मा ही था ॥१॥

तत्सत्यं स आत्मा । (छा० उ० अ० ६ खं० ८ श्रु० ७)

वह निरुपाधिक सत्तायोगी सत्य आत्मा है ॥७॥

एको ह वै नारायण आसीत् । (महोप० अ० १ श्रु० १)

पहले प्रसिद्ध एक नारायण ही थे ॥१॥

दिव्यो देव एको नारायणः । (सुबालोप० खं० ६)

दिव्य देव एक नारायण ही थे ॥६॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी । (मुण्डको० मु० २ खं० १ श्रु० ३)

इस परब्रह्म नारायण से प्राण उत्पन्न होता है तथा मन उत्पन्न होता है और समस्त इन्द्रियां आकाश, वायु, अग्नि, जल उत्पन्न होते हैं और समस्त संसार के धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥३॥

नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (नारायणो० श्रु० १)

परब्रह्म नारायण से प्राण मन और सब इन्द्रियगण आकाश, वायु, अग्नि, जल, उत्पन्न हुए और विश्व के धारण करनें वाली पृथिवी भी उत्पन्न हुई ॥१॥ आकाश के विषय में लिखा है—

त आकाशे न विद्यन्ते । (वैशेषिक० अ० २ आह्नि० १ सू० ५)

निष्क्रमणं प्रवेशनमिति ॥२०॥ परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥२७॥

वे रूप रस गन्ध स्पर्श आकाश में नहीं हैं ॥५॥ निकलना और प्रवेश करना यह आकाश का लिङ्ग है ॥२०॥ परिशेष शब्द गुणक आकाश का लक्षण है ॥२७॥

शब्दश्चाकाश एव च । (महाभारत वनप० उत्तरखं० अ०२११ श्लो० ७)

आकाश में एक शब्द गुण ही कहा गया है ॥७॥ अखिल भूमण्डलालङ्कार भगवद्रामानुजाचार्य्य—

तत्तु समन्वयात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ४)

गतिसामान्यात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ११)

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १२)

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १६)

भेदव्यपदेशाच्च। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १८)

आकाशस्तल्लिङ्गात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २३)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

(शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० १४)

न वियदश्रुतेः। (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १)

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च। (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३)

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्। (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४)

बुद्ध्यर्थः पादवत्। (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० ३२)

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्। (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १७) उपर्युक्त बारहों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मानन्द वल्ली के पहले अनुवाक के—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः"

इन पदों को उद्धृत किये हैं। आकाश शरीर वाला परब्रह्म नारायण से शब्द और स्पर्श दो गुणों से युक्त वायु उत्पन्न हुआ। परब्रह्म नारायण का आकाश शरीर है क्योंकि लिखा है—

यस्याकाशः शरीरम्। (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० १२)

जिस परमात्मा का आकाश शरीर है ॥१२॥

यस्याकाशः शरीरम्। (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण का आकाश शरीर है ॥७॥

जगत्सर्वं शरीरं ते। (वा० रामा० युद्धकां० ६ सर्ग० १२१)

हे प्रभो समस्त जगत् आपका शरीर है ॥१२१॥ वायु के विषय में लिखा है —

स्पर्शवान्। (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ४)

रूप न हो और स्पर्श वाला हो वही वायु है ॥४॥

शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु। (महाभार० वनप० अ० २११ श्लो० ७)

शब्द और स्पर्श ये दो गुण वायु में कहे गये हैं ॥७॥ विद्वद्वर-सेवित श्रीपूज्यपाद भगवद्रामानुजाचार्य—

गति सामान्यात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ११)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की आनन्दवल्ली के पहले अनुवाक के "आकाशाद्वायुः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। वायु शरीर वाला परब्रह्म नारायण से शब्द स्पर्श और रूप इन तीन गुण वाला अग्नि उत्पन्न हुआ। परब्रह्म नारायण का वायु शरीर है। क्योंकि लिखा है—

यस्य वायुः शरीरम् । (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ७)

जिस परमात्मा का वायु शरीर है ॥७॥

यस्य वायुः शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण का वायु शरीर है ॥७॥ अग्नि के विषय में लिखा है—

रूपस्पर्शवत् (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० ३)

अरुणरूपवाला और उष्ण स्पर्शवाला जो हो वही अग्नि है ॥३॥

शब्दः स्पर्शश्चरूपश्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।

(महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ७)

शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गुण अग्नि के हैं ॥७॥ अनवरताद्य-विद्याविनोद रसिकेन्द्र भगवद्रामानुजाचार्य—

गतिसामान्यात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ११)

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४)

तेजोऽतस्तथाह्याह । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १०)

इन सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की आनन्दवल्ली के पहले अनुवाक के "वायोरग्निः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। अग्नि शरीरवाला परब्रह्म नारायण से शब्द, स्पर्श, रूप, और रस इन चार गुण वाला जल उत्पन्न हुआ। परब्रह्म नारायण का अग्नि शरीर है। क्योंकि लिखा है—

यस्याग्निः शरीरम् । (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ५)

जिस परमात्मा का अग्नि शरीर है ॥५॥

यस्य तेजः शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण का अग्नि शरीर है ॥७॥ केवल अग्नि से जल उत्पन्न हुआ यह यथार्थ अर्थ नहीं है। क्योंकि लिखा है—

तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ।

(छान्दो० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ३)

वह तेज के अन्तर्यामी परब्रह्म ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकार के उत्पन्न होऊँ इस प्रकार ईक्षण कर उसने जल की रचना किया ॥३॥ अचेतन अग्नि में ईक्षण नहीं हो सकता है। इससे पूर्वोक्त मेरा ही अर्थ ठीक है। जल के विषय में लिखा है—

रूपरसस्पर्शवत्यः द्रवाः स्निग्धाः । (वैशे० अ० २ आ० १ सू० २)

शुक्लरूप तथा रस और शीतस्पर्शवाला द्रव तथा स्निग्ध जो हो वहीं जल है ॥२॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपश्च रसश्चापि द्विजोत्तम । अपामेतें गुणा ब्रह्मन् कीर्त्तितास्तव सुव्रत ।

(महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ६)

हे सुव्रत ब्राह्मण! शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, और रस ४, ये चार जल के गुण तेरे से मैंने कहा ॥६॥ सकलभुवनचक्रप्रतिष्ठापकाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

गतिसामान्यात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ११)

आपः । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ११)

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १३)

उपर्युक्त तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी आनन्दवल्ली के पहले अनुवाक के "अग्नेरापः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। जल शरीर वाला परब्रह्म नारायण से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, इन पांच गुण वाली पृथिवी उत्पन्न हुई। परब्रह्म नारायण का जल शरीर है क्योंकि लिखा है—

यस्यापः शरीरम् । (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ४)

जिस परमात्मा का जल शरीर है ॥४॥

यस्यापः शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण का जल शरीर है ॥७॥ केवल जल से पृथिवी उत्पन्न हुई है यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि लिखा है—

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त ।

(छा० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ४)

वह जल के अन्तर्यामी परब्रह्म ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकार के उत्पन्न होऊँ इस प्रकार ईक्षण कर उसने अन्न यानी पृथिवी को बनाया ॥४॥ अचेतन जल में ईक्षण नहीं हो सकता है। इससे पूर्वोक्त मेरा ही अर्थ ठीक है। पृथिवी के विषय में लिखा है—

रूपरसगन्धस्पर्शवती । (वैशेषि० अ० २ आह्नि० १ सू० १)

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली जो हो वही पृथिवी है ॥१॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः । एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तराः ।

(महाभार० वनप० उत्तरखं० अ० २११ श्लो० ५)

शब्द १, स्पर्श २, रूप ३, रस ४, और गन्ध ५, ये सबसे श्रेष्ठ पांच गुण पृथिवी के हैं ॥५॥ श्रीसम्प्रदायप्रतिष्ठाविख्यातयशोऽलङ्कृताचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

गतिसामान्यात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ११)

पृथिवी । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १२)

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १३)

इन सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के "अद्भ्यः पृथिवी" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। पृथिवी शरीर वाला परब्रह्म नारायण से नाना प्रकार की औषधियां यानी अनाज के पौधे उत्पन्न हुए। नारायण की पृथिवी शरीर है क्योंकि लिखा है—

यस्य पृथिवी शरीरम् । (बृ० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० ३)

जिस परमात्मा की पृथिवी शरीर है ॥३॥

यस्य पृथिवी शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण की पृथिवी शरीर है ॥७॥ ओषधि के विषय में लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । (मनु० अ० १ श्लो० ४६)

जो बहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान यव आदिक ओषधि हैं ॥४६॥ ओषधियों से मनुष्यों का आहार अन्न उत्पन्न हुआ। और वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से मनुष्य का शरीर उत्पन्न हुआ। वह यह प्रत्यक्ष दीखने वाला मनुष्य का शरीर निश्चय करके अन्न के रस का परिणाम है। क्योंकि लिखा है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० १)

भोजन किया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मल हो जाता है तथा जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह मन हो जाता है ॥१॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० २)

पीया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मूत्र हो जाता है तथा जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह प्राण हो जाता है ॥२॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० ३)

भोजन किया हुआ घृतादि तेज तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह हड्डी हो जाती है तथा जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह वाणी हो जाती है

॥३॥ शरीर के विषय में लिखा है—

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् । तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरं भवति । पञ्चात्मकमिति कस्मात् पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे तत्र का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः यत्सञ्चरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते। तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजः प्रकाशने वायुर्व्यूहने आकाशमवकाशप्रदाने । पृथक्श्रोत्रे शब्दोपलब्धौ त्वक् स्पर्शे चक्षुषी रूपे जिह्वा रसने नासिका घ्राणे उपस्थ आनन्दे अपान उत्सर्गे बुद्ध्या बुध्यति मनसा सङ्कल्पयति वाचा वदति । षडाश्रयमिति कस्मात् । मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान्विन्दतीति । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेतीष्टानिष्टशब्दसंज्ञाः प्रणिधानाद्दशविधा भवन्ति । (गर्भोप० श्रु० १)

शरीर पञ्चात्मक पांचों में वर्तमान छः आश्रयों वाला छः गुणों के योग से युक्त सात धातुओं से निर्मित तीन मलों से दूषित दो योनियों से युक्त तथा चार प्रकार के आहार से पोषित होता है। पञ्चात्मक कैसे है ! पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इनसे रचा हुआ होने के कारण शरीर पञ्चात्मक है। इस शरीर में पृथिवी क्या है जल क्या है तेज क्या है वायु क्या है और आकाश क्या है। इस शरीर में जो कठिन अंश है वह पृथिवी है जो द्रव है वह जल है जो उष्ण है वह तेज है जो सञ्चार करता है वह वायु है और जो छिद्र है वह आकाश कहलाता है। इनमें पृथिवी धारण करती है जल पिण्डीभाव एकत्रित करता है तेज प्रकाशित करता है वायु अवयवों को यथा स्थान रखता है और आकाश अवकाश प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त श्रोत्र शब्द को ग्रहण करने में त्वचा स्पर्श करने में नेत्र रूप ग्रहण करने में जिह्वा रस का आस्वादन करने में नासिका सूंघने में उपस्थ आनन्द लेने में और वायु मलोत्सर्ग के

यस्य पृथिवी शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस नारायण की पृथिवी शरीर है ॥७॥ ओषधि के विषय में लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता वहुपुष्पफलोपगाः । (मनु० अ० १ श्लो० ४६)

जो वहुत फूल फल से युक्त हों और फल पक जाने पर नष्ट हो जाते हों वे ही धान यव आदिक ओषधि हैं ॥४६॥ ओषधियों से मनुष्यों का आहार अन्न उत्पन्न हुआ। और वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से मनुष्य का शरीर उत्पन्न हुआ। वह यह प्रत्यक्ष दीखने वाला मनुष्य का शरीर निश्चय करके अन्न के रस का परिणाम है। क्योंकि लिखा है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० १)

भोजन किया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मल हो जाता है तथा जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह मन हो जाता है ॥१॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० २)

पीया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह मूत्र हो जाता है तथा जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह प्राण हो जाता है ॥२॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ।

(छा० उ० अ० ६ खं० ५ श्रु० ३)

भोजन किया हुआ घृतादि तेज तीन प्रकार का हो जाता है उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग है वह हड्डी हो जाती है तथा जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है वह वाणी हो जाती है

॥३॥ शरीर के विषय में लिखा है—

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् । तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरं भवति । पञ्चात्मकमिति कस्मात् पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे तत्र का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमित्यस्मिन्पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः यत्सञ्चरति स वायुः यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते। तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजः प्रकाशने वायुर्व्यूहने आकाशमवकाशप्रदाने । पृथक्श्रोत्रे शब्दोपलब्धौ त्वक् स्पर्शे चक्षुषी रूपे जिह्वा रसने नासिका घ्राणे उपस्थ आनन्दे अपान उत्सर्गे बुद्ध्या बुध्यति मनसा सङ्कल्पयति वाचा वदति । षडाश्रयमिति कस्मात् । मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान्विन्दतीति । षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेतीष्टानिष्टशब्दसंज्ञाः प्रणिधानाद्दशविधा भवन्ति । (गर्भोप० श्रु० १)

शरीर पञ्चात्मक पांचों में वर्तमान छः आश्रयों वाला छः गुणों के योग से युक्त सात धातुओं से निर्मित तीन मलों से दूषित दो योनियों से युक्त तथा चार प्रकार के आहार से पोषित होता है। पञ्चात्मक कैसे है ! पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इनसे रचा हुआ होने के कारण शरीर पञ्चात्मक है। इस शरीर में पृथिवी क्या है जल क्या है तेज क्या है वायु क्या है और आकाश क्या है। इस शरीर में जो कठिन अंश है वह पृथिवी है जो द्रव है वह जल है जो उष्ण है वह तेज है जो सञ्चार करता है वह वायु है और जो छिद्र है वह आकाश कहलाता है। इनमें पृथिवी धारण करती है जल पिण्डीभाव एकत्रित करता है तेज प्रकाशित करता है वायु अवयवों को यथा स्थान रखता है और आकाश अवकाश प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त श्रोत्र शब्द को ग्रहण करने में त्वचा स्पर्श करने में नेत्र रूप ग्रहण करने में जिह्वा रस का आस्वादन करने में नासिका सूंघने में उपस्थ आनन्द लेने में और पायु मलोत्सर्ग के

कार्य में लगा रहता है। जीव बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करता है मन के द्वारा संकल्प करता है और वाक् इन्द्रिय से बोलता है। शरीर छ आश्रयों वाला कैसे है ? वह मधुर, आम्ल, लवण, तिक्त, कटु, और कषाय इन छः रसों का आस्वादन करता है इसलिये शरीर छः आश्रयों वाला है। षड्ज १, ऋषभ २, गान्धार ३, मध्यम ४, पञ्चम ५, धैवत ६, और निषाद ७ ये सात स्वर तथा इष्ट ८, और अनिष्ट ९, तथा प्रणिधान १०, ये दश प्रकार के शब्द की संज्ञा होती है ॥१॥

शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डर इति। सप्तधातुकमिति कस्मात् यदा देवदत्तस्य द्रव्यादिविषया जायन्ते। परस्परं सौम्यगुणत्वात् षड्विधो रसो रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायुभ्योऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽन्तराग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुतो हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात्। (गर्भोप० श्रु० २)

शुक्ल १, रक्त २, कृष्ण ३, धूम्र ४, पीत ५, कपिल ६, और पाण्डुर ७ ये सात रूप यानी रंग हैं। सात धातुओं से निर्मित कैसे है—जब देवदत्त नामक व्यक्ति को द्रव्य आदि भोग्य विषय जुड़ते हैं तब उनके परस्पर अनुकूल होने के कारण षट्रस पदार्थ प्राप्त होते हैं—जिनसे रस बनता है। रस से रुधिर रुधिर से मांस मांस से मेद मेद से स्नायु स्नायु से अस्थि अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र ये सात धातुएँ उत्पन्न होती हैं। पुरुष के शुक्र और स्त्री के रक्त के संयोग से गर्भ का निर्माण होता है। ये सब धातुएँ हृदय में रहती हैं हृदय में अन्तराग्नि उत्पन्न होती है अग्निस्थान में पित्त तथा पित्त के स्थान में वायु और वायु से हृदय का निर्माण प्राजापत्य के क्रम से होता है ॥२॥

ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डोभवति। मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते। मासत्रयेण पादप्रदेशो-

भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फजठरकटिप्रदेशा भवन्ति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। पितूरेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातूरेतोऽतिरेकात्स्त्री उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति। अन्योन्यवायुपरिपीडितशुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते। पञ्चात्मकः समर्थः पञ्चात्मिका चेतसा बुद्धिर्गन्धरसादि ज्ञानाक्षराक्षरमोङ्कारं चिन्तयतीति तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वाष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे तस्यैव देहिनः। अथ मात्राशितपीतनाडीसूत्रगतेन प्राण आप्यायते। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति। (गर्भोप० श्रु० ३)

ऋतुकाल में सम्यक् प्रकार से गर्भाधान होने पर एक रात्रि में शुक्र शोणित के संयोग से कलल बनता है। सात रात में बुद्बुद बनता है। एक पक्ष में उसका पिण्ड स्थूल आकार बनता है। वह एक मास में कठिन होता है। दो महीनों में वह सिर से युक्त होता है। तीन महीनों में पैर बनते हैं। पश्चात् चौथे महीने में गुल्फ यानी पैर की घुट्टियां तथा पेट और कटि प्रदेश तैयार हो जाते हैं। पांचवें महीने में पीठ की रीढ़ तैयार होती है। छठवें महीने में मुख नासिका नेत्र और श्रोत्र बन जाते हैं। सातवें महीने में जीव से संयुक्त हो जाता है। आठवें महीने में सब लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। पिता के शुक्र की अधिकता से पुत्र और माता के रुधिर की अधिकता से पुत्री तथा शुक्र और शोणित दोनों के तुल्य होने से नपुंसक संतान उत्पन्न होती है। व्याकुल चित्त हो कर समागम करने से अंधी कुबड़ी खोड़ी तथा बौनी संतान उत्पन्न होती है। परस्पर वायु के संघर्ष से शुक्र दो भागों में बँट कर सूक्ष्म हो जाता है उससे युग्म संतान उत्पन्न होती है। पञ्चभूतात्मक शरीर के समर्थ स्वस्थ होने पर चेतना में पञ्चज्ञानेन्द्रियात्मक बुद्धि होती है। उससे गन्ध रस आदि के ज्ञान होते हैं।

वह अविनाशी जीवात्मा प्रणव का चिन्तन करता है तब इस एकाक्षर को जान कर उसी चेतन के शरीर में प्रकृति महत्तत्व अहंकार और पांच तन्मात्राएं ये आठ प्रकृतियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां पांच महाभूत तथा मन ये सोलह विकार होते हैं। पश्चात् माता का भोजन किया हुआ अन्न एवं पिया हुआ जल नाड़ियों के सूत्रों द्वारा पहुँचाया जाकर गर्भस्थ शिशु के प्राणों को तृप्त करता है। तदनन्तर नवें महीने में वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्व जन्म को स्मरण करता है। तब उसके शुभ अशुभ कर्म सामने आ जाते हैं ॥३॥

अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यंत्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति। (गर्भोप० श्रु० ४)

इसके बाद वह योनिद्वार को प्राप्त हो कर योनिरूप यंत्र में दबाया जाकर बड़े कष्ट से जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णव वायु के स्पर्श से वह अपने पिछले जन्म और मृत्युओं को भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामने से हट जाते हैं ॥४॥

शरीरमिति कस्मात्। अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नीः रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवन्ति मुखे आहवनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः......सप्तोत्तरं मर्मशतं 'साशीतिकं सन्धिशतं सनवकं स्नायुशतं सप्त शिराशतानि पञ्च मज्जाशतानि अस्थीनि च ह वै त्रीणि शतानि षष्टीः सार्धचतस्रो रोमाणि कोटयो हृदयं पलान्यष्टौ द्वादशपला जिह्वा पित्तप्रस्थं कफस्याढकं शुक्रकुडवं मेदः प्रस्थौ द्वावनियतं मूत्रपुरीषमाहारपरिमाणात्। (गर्भोपनि० श्रु०५)

देह-पिण्डका शरीर नाम कैसे होता है—ज्ञानाग्नि तथा दर्शनाग्नि और जाठराग्नि के रूप में अग्नि इस में आश्रय लेता है इस लिये इसका शरीर नाम होता है। इन में जठराग्नि वह है जो खाये, पिये, चाटे और चूसे

हुए पदार्थों को पचाता है। दर्शनाग्नि वह है जो रूपों को दिखलाता है। और ज्ञानाग्नि वह है जो शुभाशुभ कर्मों को सामने लाता है। अग्नि के शरीर में तीन स्थान होते हैं। आहवनीय अग्नि मुख में रहता है तथा गार्हपत्य अग्नि उदर में रहता है और दक्षिणाग्नि हृदय में रहता है। देह में एक सौ सात मर्म स्थान हैं एक सौ अस्सी संधियां हैं एक सौ नौ स्नायु हैं सात सौ शिराएँ हैं पांच सौ मज्जाएँ हैं तीन सौ साठ अस्थियां हैं साढ़े चार करोड़ रोम हैं आठ पल यानी तोला हृदय है बारह तोला जिह्वा है एक सेर पित्त है ढ़ाई सेर कफ है पाव भर शुक्र है दो सेर मेदा है इसके अतिरिक्त शरीर में आहार के परिमाण से मल मूत्र का परिमाण अनियमित होता है ॥५॥ पाषण्डमतखण्डनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के—"सवा एष **"सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"** इन पदों को उद्धृत किये हैं। अत्र जैसे—**द्वा सुपर्णा।** (ऋग्वे० मण्डल १ सूक्त १६४ मं० २०) (मुण्डको० मुण्डक ३ खं० १ श्रु० १) (श्वेताश्वतरोप० अ० ४ श्रु० ६) दो सुन्दर पंख वाले पक्षी के समान जीवात्मा और परमात्मा हैं ॥२०॥१॥६॥ **द्विखगः।** (श्रीमद्भाग० स्कं० १० पूर्वार्ध अध्या० २ श्लो० २७)

जीवात्मा और परमात्मा ये दो पक्षी हैं ॥२७॥ इन सूक्तियों में जीव और परब्रह्म को पक्षी कह कर समझाया गया है वैसे ही सौकर्य के लिये मनुष्य के शरीर को पक्षी के रूप में कल्पना करके श्रुति प्रतिपादन करती है कि इस मनुष्य का जो प्रत्यक्ष दीखने वाला सिर है वही तो मानो पक्षी का सिर है। मनुष्य की दाहिनी भुजा ही मानो पक्षी का दाहिना पंख है। और मनुष्य की बायीं भुजा ही मानो पक्षी का बायां पंख है। और मनुष्य के शरीर का मध्य भाग ही मानो उस पक्षी के शरीर का मध्य भाग है। क्योंकि लिखा है—

मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा। (श्रुति)

मध्य भाग ही इन अङ्गों का आत्मा है। और मनुष्य के नाभि से नीचे का जो अङ्ग है वही मानो उस पक्षी के पूंछ के समान पूंछ एवं प्रतिष्ठा है। इसके द्वारा वह स्थित होता है इसलिये यह उसकी प्रतिष्ठा है। और पैर नीचे की ओर पूंछ के समान लटकता है इस कारण से पूंछ है। इस ब्राह्मणोक्त विषय में ही अन्नमय के स्वरूप का प्रकाशक यह आगे कहे जाने वाला मंत्र रूप श्लोक है। पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण भगवद्रामानुजाचार्य--

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १४)

इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी आनन्दवल्ली के पहले अनुवाक के "तस्येदमेव शिरः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्णात भगवद्रामानुजाचार्य–

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी ब्रह्मवल्ली के पहले अनुवाक के "इदं पुच्छं प्रतिष्ठा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां ब्रह्मवल्ली का पहला अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति अथैतदपियन्त्यन्ततः ॥ अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥

अन्वयार्थ—(पृथिवीम्) पृथिवी लोक को (श्रिताः) आश्रय लेकर रहने वाले (याः) यो (काः) कोई (च) भी (प्रजाः) प्राणी हैं वे सब (अन्नात्) अन्न से (वै) निश्चय करके (प्रजायन्ते) उत्पन्न होते हैं (अथो) उत्पन्न होने के अनन्तर (अन्नेन) अन्न से (एव) ही (जीवन्ति) जीते हैं (अथ) अनन्तर फिर (अन्ततः) अन्त समय में (एतत्) इस अन्नमें (अपि) ही (यन्ति) विलीन हो जाते हैं (हि) क्योंकि (अन्नम्) अन्न (भूतानाम्) सब भूतों में (ज्येष्ठम्) प्रथम उत्पन्न हुआ है या सब भूतों का उपकारक होने से श्रेष्ठ है (तस्मात्) उससे) (सर्वौपिधम्) सब का औपध (उच्यते) कहलाता है (ये) जो उपासक (अन्नम्) अन्न में (ब्रह्म) ब्रह्मदृष्टि करते हुए (उपासते) उसकी उपासना करते हैं (ते) वे (वै) अवश्यही (सर्वम्) समस्त अपेक्षित (अन्नम्) अन्न को (आप्नुवन्ति)प्राप्त कर लेते हैं(हि)क्योंकि (अन्नम्)अन्न (भूतानाम्) सब भूतों में (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठ है (तस्मात्) उससे (सर्वौषधम्) सबका औपध (उच्यते) कहा जाता है (भूतानि) सब प्राणी (अन्नात्) अन्न से (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (अन्नेन) अन्नसे (वर्धन्ते) बढ़ते हैं (तत्) वह (अद्यते) जीवन दशा में प्राणियों करके भक्षण किया जाता है (च) और (भूतानि) सब प्राणियों को (अत्ति) स्वयं भी नाशदशा में खाता है (तस्मात्) उससे (अन्नम्) अन्न (इति) इस नाम से (उच्यते) कहा जाता है ॥

विशेषार्थ—ब्रह्मवल्ली के द्वितीय अनुवाक में पहले अन्न की महिमा का वर्णन किया गया है कि इस पृथिवी लोक में निवास करने वाले जितने भी प्राणी हैं वे सब अन्न से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् अन्नके परिणामरूप रज और वीर्य से ही सब के शरीर बनते हैं। उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही सब प्राणियों का पालन पोषण होता है अतः अन्न से ही सब प्राणी जीते हैं। फिर अन्तकाल में सब प्राणी अन्न में ही विलीन हो हो जाते हैं। अर्थात् शरीर अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। अन्नसे ही जीते हैं। और अन्न यानी पृथिवी में ही विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियों की उत्पत्ति आदि का कारण है इसी पर सब कुछ निर्भर करता है इस लिये यही सब से श्रेष्ठ है और इसी लिये यह सर्वौ-पध कहलाता है—क्योंकि अन्न से ही प्राणियों का क्षुधाजन्य संताप दूर

होता है। जो साधक अन्न में ब्रह्मदृष्टि करते हुए उसकी उपासना करते हैं अर्थात् अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है सब से बड़ा है यह समझ कर उसकी उपासना करते हैं वे अपने अपेक्षित समस्त अन्न को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें अन्न का कभी अभाव नहीं होता है। यह सर्वथा सत्य है कि जैसे परब्रह्मनारायण सब भूतों में श्रेष्ठ और भवरोग निवर्तक सर्वौषध कहे जाते हैं वैसे ही यह अन्न ही सब भूतों में श्रेष्ठ तथा क्षुधा रोग निवर्तक सर्वौषध कहलाता है। और जैसे सब प्राणी परब्रह्मनारायण से उत्पन्न होते हैं। तथा नारायण से ही बढ़ते हैं वैसे ही सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के बाद अन्न से ही बढ़ते हैं। ये सब अन्न परब्रह्म-नारायण के समान है। इस लिये अन्न में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये। इस श्रुति में ॥ अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते ॥

(तै० उ० व० २ अनु० २)

इस खण्ड को पूर्वोक्त उपासना के आदर द्योतन करते हुए उपसंहार सूचना करने के लिये दो बार कहा गया है। अब अन्न शब्द का निर्वचन कहा जाता है—जो जीवन दशा में प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो विनाशदशा में स्वयंभी प्राणियों को खाता है इस लिये वह अन्न कहा जाता है। क्योंकि लिखा है—

अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाहुः (श्रुतिः) अन्न को ही मृत्यु और जीलाने वाला वेद पुरुष कहे हैं॥ पाषण्डमार्गमत्तकुञ्जरमर्दनमृगेन्द्र भगवद्रामानुजाचार्य—आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के द्वितीय अनुवाक के। अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। इस खण्ड को उद्धृत किये हैं।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः

पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तस्मात्) उस (एतस्मात्) इस पहले कहे हुए (अन्नरसमयात्) अन्न के रसमय मनुष्य के शरीर से (अन्यः) भिन्न (अन्तरः) देह के भीतर रहने वाला (प्राणमयः) प्राणमय (आत्मा) पुरुष है (तेन) उस प्राणमय आत्मा से (एषः) यह अन्नरस मय आत्मा (पूर्णः) व्याप्त है (सः) वह (एषः) यह प्राणमय आत्मा (वै) निश्चय ही (पुरुषविधः) पुरुष के आकार के (एव) निश्चय करके है (तस्य) उस अन्नमय आत्मा की (पुरुषविधताम्) पुरुष के तुल्य आकृति में (अनु) अनुकरण करके या अनुगत होने से (अयम्) यह प्राणमय आत्मा (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का है (तस्य) उस प्राणमय आत्मा का (प्राणः) प्राण (एव) निश्चय करके (शिरः) पक्षी की कल्पना में सिर है (व्यानः) व्यान (दक्षिणः) दाहिना (पक्षः) पंख है (अपानः) अपान (उत्तरः) बायाँ (पक्षः) पंख है (आकाशः) आकाश (आत्मा) शरीर का मध्य भाग है (पृथिवी) पृथिवी (पुच्छम्) पूँछ एवं (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा यानी आधार है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्र रूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—स्थूलारुन्धती न्याय से जिस परब्रह्म नारायण का—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तै० उ० व० २ अनु० १)

इस श्रुति में आत्मा शब्द से प्रतिपादन किया गया है। उस बुद्धि से अवधारित परमात्मा के अन्नमय के अनन्तर प्राणमय में पहले परमात्म-बुद्धि प्रतिपादन की जाती है। पूर्वोक्त अन्न के रस से बने हुए स्थूल शरीर से भिन्न देहान्तर्वर्ती प्राणमय आत्मा है। उस प्राणमय आत्मा से यह अन्नमय शरीर पूर्ण व्याप्त है। अनाद्यविच्छिन्न गुरुपरम्पराप्राप्तषड्दर्शन-स्थापनाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की आनन्दवल्ली के द्वितीय अनुवाक के "प्राणमयः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और प्रातःस्मरणीय भगवद्रामानुजाचार्य—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्। (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १६)

के श्रीभाष्य में "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। वह यह प्राणमय आत्मा निश्चय करके पुरुष के आकार का ही है। अन्नमय शरीर की पुरुषाकारता प्रसिद्ध है उसमें अनुगत होने से यह प्राणमय परमात्मा भी पुरुषाकार कहा जाता है। सौकर्य के लिये प्राणमय आत्मा को पक्षी के रूप में कल्पना करके श्रुति प्रतिपादन करती है। उस प्राणमय आत्मा का प्राण ही मानो पक्षी का सिर है। प्राण के विषय में लिखा है—

हृदि प्राणः स्थितो नित्यम्। (योगचूडामण्युप० श्रु० २४)

हृदय में सर्वदा प्राण वायु रहता है ॥२४॥

मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते। (प्रश्नोप० प्र० ३ श्रु० ५)

अपने आप प्राण मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है ॥५॥ और व्यान मानो पक्षी का दाहिना पंख है। व्यान के विषय में लिखा है—व्यानः सर्वशरीरे तु। (योगचू० उ० श्रु० २४) व्यान वायु सब शरीर में रहता है ॥२४॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। तासु व्यानश्चरति। (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ६)

निश्चय करके यह जीवात्मा शरीर के हृदय देश में रहता है। और इस हृदय में एक सौ मूलभूत प्रधान नाड़िया हैं। उनमें से प्रत्येक नाड़ी की एक एक सौ शाखा नाड़ियां हैं। प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियां हैं। इन बहत्तर करोड़ नाड़ियों में व्यान वायु विचरता ॥६॥ अपान मानो पक्षी का बायां पंख है। अपान के विषय में लिखा है—

अपानो गुदमण्डले । (योगचू० उ० श्रु० २४) गुदामार्ग में अपान वायु रहता है ॥२४॥ **पायूपस्थेऽपानम् ।** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५)

मल द्वार और मूत्रद्वार में अपान वायु को रखता है ॥५॥ और आकाश यानी समान वायु मानो पक्षी के शरीर का मध्य भाग है। क्योंकि लिखा है—**यदाकाशः स समानः ।** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ८) जो आकाश है वही समान वायु है ॥८॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । (गी० अ० ९ श्लो० ६)

जैसे सर्वत्र गति वाला महान् वायु आकाश में नित्य स्थित है ॥६॥ समान वायु के विषय में लिखा है—**समानो नाभिदेशे तु ।** (योगचू० उ० श्रु० २४) समान वायु नाभिदेश में रहता है ॥२४॥

मध्ये समानः । एषः ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति ।

(प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५)

शरीर के मध्य भाग में समान वायु रहता है। यह समान वायु इस भोजन किये हुए अन्न को सब शरीर में समान रूप से पहुँचाता है ॥५॥ और इस प्रकरण में आत्मा का विषय में लिखा है—**मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा ।** (श्रुति) इन अङ्गों का मध्य भाग ही आत्मा है। इस श्रुति से मध्यवर्ती अंग का आत्मत्व प्रसिद्ध ही है। और पृथिवी मानो पक्षी के पूंछ एवं प्रतिष्ठा यानी आधार है। क्योंकि लिखा है—

पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमुपष्टभ्य । (प्रश्नोप० प्र० ३ श्रु० ८)

पृथिवी में जो प्राणकला रूपा देवता है वही यह देवता मनुष्य के अपान वायु को अनुग्रह करके स्थिर किये रहता है ॥८॥ अतः पृथिवी देवता ही प्राणमय की पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उस प्राणमय आत्मा के विषय में ही यह आगे कहे जाने वाला मंत्र रूप श्लोक प्रसिद्ध है। सनातनधर्म-वर्द्धनबद्धकक्षभगवद्रामानुजाचार्य—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । (शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १४) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की दूसरी आनन्दवल्ली के द्वितीय अनुवाक के "तस्य प्राण एव शिरः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) के श्रीभाष्य में "पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां ब्रह्मवल्ली का द्वितीय अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य ॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (देवाः) देवता (मनुष्याः) मनुष्य (च) और (पशवः) पशु आदि प्राणी हैं वे (प्राणम्) प्राण का (अनु) अनुसरण करके ही (प्राणन्ति) प्राणाधीन जीवन धारण करते हैं (हि) क्योंकि (प्राणः) प्राण ही (भूतानाम्) सब प्राणियों का (आयुः) आयु है (तस्मात्) इस लिये यह प्राण (सर्वायुषम्) सबका आयु (उच्यते) कहा जाता है (ये) जो उपासक (प्राणम्) प्राण में (ब्रह्म) ब्रह्मदृष्टि करते हुए (उपासते) उसकी उपासना करते हैं (ते) वे (एव) निश्चय करके (सर्वम्) समस्त (आयुः) आयु को (यन्ति) प्राप्त कर लेते हैं (यः) जो (पूर्वस्य) अन्नमय के आत्मा है (एषः) यही (एव) निश्चय करके (तस्य) उस प्राणमय का (शारीरः) शरीर संबन्धी (आत्मा) आत्मा है।

विशेषार्थ—तृतीय अनुवाक के इस पहले अंश में प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए इस प्राणमय परब्रह्म नारायण को लक्ष्य कराया गया है। जितने भी देवता मनुष्य पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं वे सब प्राण के सहारे ही जी रहे हैं। देवता के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव,

बारह आदित्यदेव, ओंष्मास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव ॥२०॥

त्रया देवाऽएकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा। (यजु० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादिक तीन देव ग्यारह रुद्रदेव तैंतीस देव पुरोहित बृहस्पति देव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नवचासपर्यन्। औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।

(यजु० अ० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृकर्म में नियुक्त किया ॥७॥ अथवा "त्रीणि शतानि" ३०० तीन सौ "त्रीणि सहस्राणि" ३००० तीन सहस्र गुणित अर्थात् ९०००० "त्रिंशत नव च" और उन्तालीस ९००३९ अग्नि की परिचर्या करते हैं। अथवा—

नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः।
ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः॥

इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की शक्ति रूप से ३३३३३३३३३ तैंतिस करोड़ तैंतिस लाख तैंतिस हजार तीन सौ तैंतिस इतने देवता होते हैं ॥७॥ अधिक देवता के विषय में जानना हो तो मेरी बनाई हुई "पुरुषसूक्त" की "मर्मबोधिनी" टीका को सज्जन देख लें। पशु के विपय में लिखा है—

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः। (श्रुति)

सात ठो ग्राम में होने वाले और सात ठो वन में होने वाले पशु प्रसिद्ध हैं।

गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः।
एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे॥

(विष्णुपु० अंश० १ अध्या० ५ श्लो० ५१)

श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥५२॥

गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, अश्वतर ६, गदहा ७ इन सात को ग्राम्यपशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो ॥५१॥ कुक्कुर १, दो खुर वाले २, हाथी ३, बानर ४, पक्षी ५, औदक जीव ६, और सरीसृप ७ ये सात वन में होने वाले पशु हैं ॥५२॥ प्राण के बिना किसी का भी शरीर नहीं रह सकता क्योंकि प्राण ही सब प्राणियों का आयु—जीवन है। क्योंकि लिखा है—

यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः ।

(कौषीतकीब्राह्मणोप० अध्या० ३ श्रु० २)

जब तक इस शरीर में प्राण है तभी तक आयु है ॥२॥ इसलिये यह प्राण सबका आयु कहलाता है। जो उपासक प्राण में ब्रह्मदृष्टि करते हुए उसकी उपासना करते हैं वे इस लोक में पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि लिखा है—सर्वमायुरेति । (छा० उ० अध्या० २ खं० ११ श्रु० २) समस्त आयु को प्राप्त कर लेता है ॥२॥ अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है। क्योंकि श्रुति ही कहती है—(शतायुर्वै पुरुषः) श्रुति सौ वर्ष की आयु वाला ही पुरुष है। और भी लिखा है—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत मदीनाः स्याम शरदः शतम् ।

(यजु० अ० ३६ मं० २४)

हम सौ वर्ष तक भगवान् को देखें तथा सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहें और सौ वर्ष तक भगवच्चरित्रों को सुनें तथा सौ वर्ष तक भगवच्चरित्रों को कथन करें और सौ वर्ष पर्यन्त हम अदीन रहें ॥२४॥ जो परब्रह्म नारायण अन्न के रस से बने हुए स्थूल शरीरधारी पुरुष का अन्तरात्मा है वही उस प्राणमय पुरुष का भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुष

विध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय करके (तस्मात्) उस (एतस्मात्) पहले कहे हुए इस (प्राणमयात्) प्राणमय आत्मा से (अन्यः) भिन्न (अन्तरः) उसके भीतर रहने वाला (मनोमयः) मनोमय (आत्मा) आत्मा है (तेन) तिस मनोमय आत्मा से (एषः) यह प्राणमय आत्मा (पूर्णः) व्याप्त है (सः) वह (एषः) यह मनोमय आत्मा (वै) निश्चय ही (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का (एव) निश्चय करके है (तस्य) उसकी (पुरुषविधताम्) पुरुष के तुल्य आकृति में (अनु) अनुकरण करके या अनुगत होने से (अयम्) यह मनोमय आत्मा (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का है (तस्य) उस मनोमय अन्तःकरण का (यजुः) यजुर्वेद विषयक ज्ञानजनक मनोव्यापार (एव) ही (शिरः) पक्षी की कल्पना में सिर है (ऋक्) ऋग्वेद विषयक ज्ञानजनक मनो व्यापार (दक्षिणः) दाहिना (पक्षः) पंख है (साम) सामवेद विषयक ज्ञानजनक मनोव्यापार (उत्तरः) बायां (पक्षः) पंख है (आदेशः) विधि निषेधरूप रहस्य के उपदेश देने वाला वेद का ब्राह्मण भाग (आत्मा) शरीर का मध्य भाग है (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि द्वारा देखे गये अथर्ववेद विषयक ज्ञानजनक मनोव्यापार (पुच्छम्) पूँछ एवं (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा यानी आधार है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्ररूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस तृतीय अनुवाक के दूसरे अंश में मनोमय आत्मा का वर्णन किया गया है कि—पहले बताये हुए प्राणमय आत्मा से भिन्न उससे भी सूक्ष्म होने के कारण उसके भीतर रहने वाला मनोमय आत्मा है। इस मनोमय आत्मा से यह प्राणमय आत्मा पूर्ण व्याप्त है। निखिल

सिद्धिजन्यफलामोदित भगवद्रामानुजाचार्य— आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के तृतीय अनुवाक के "मनोमयः" इस खण्डको उद्धृत किये हैं। वह यह मनोमय आत्मा भी पुरुष के ही आकार का है। प्राणमय आत्मा के अनुकरण करने से ही यह मनोमय आत्मा पुरुष के समान आकार वाला है। उसकी पक्षी के रूप में इस प्रकार कल्पना की गयी है—उस मनोमय अन्तःकरण का यजुर्वेद विषयक ज्ञान जनक मनोव्यापार ही मानो सिर है। यजुर्वेद के विषय में लिखा है—शेषे यजुः शब्दः। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३७) शेष में यजुर्वेद कहा जाता है ॥३७॥

शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम्। (सीतोप०)

एक सौ नव शाखा वाला यजुर्वेद प्रादुर्भाव हुआ है।

नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज। (मुक्तिको० अ० १ श्रु०१२)

हे पवनसुत महावीर यजुर्वेद के एक सौ नव शाखा हैं ॥१२॥

महर्षि पतञ्जलि के समय में—

एक शतमध्वर्युशाखाः। (महाभाष्य० अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक सौ एक शाखा यजुर्वेद के प्राप्त होते थे ॥१॥

शुक्लं कृष्णमिति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम्।
शुक्लं वाजसनेयं तु कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम् ॥ (प्रतिज्ञासूत्रभाष्य०)

यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का कहा गया उनमें वाजसनेय शुक्लयजुर्वेद है और तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेद है।

यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम्।
शाखास्तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः ॥ (बृहन्नारदीय)

यजुर्वेद महाकल्पतरु के एक सौ एक शाखा हैं उनमें शुक्लयजुर्वेद के पन्द्रह शाखा हैं शिखाकार वे निम्न लिखित हैं "जाबाल १, बौधेय २, काण्व ३, माध्यन्दिन ४, शापेय ५, स्थापायनीय ६, कपोल ७, पाण्डरवत्स ८, आवटिक ९, परमावटिक १०, पाराशर ११, वैणेय १२, वैधेय १३, वैनतेय १४, वैजवस् १५" ये शाखा हैं ऋग्वेदविषयकज्ञानजनकमनोव्यापार

ही मानो दाहिना पंख है। ऋग्वेद के विषय में लिखा है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३५)

जिसमें अर्थ वश से पाद की व्यवस्था होती है उसी को ऋग्वेद कहते हैं ॥३५॥

एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः। (सीतोप०)

इक्कीसशाखा ऋग्वेद के कहे गये हैं।

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।

(मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १२)

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।

(कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

एकविंशतिधा बह्वृच्यः। (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि १)

इक्कीस शाखा ऋग्वेद के हैं ॥१॥ और सामवेदविषयकज्ञानजनक-मनोव्यापार ही मानो बायां पंख है। सामवेद के विषय में लिखा है—

गीतिषु सामाख्या। (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेद नाम होता है ॥३६॥ साम्नः सहस्रशाखाः स्युः। (सीतोप०)

सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।

(मुक्तिको० अ० १ श्रु० १३)

हे परन्तप महावीर सामवेद के हजार शाखा हैं ॥१३॥

सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः। (कूर्मपु० अ० ४६ श्लो० ५१)

सहस्रवर्त्मा सामवेदः। (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

एक हजार शाखा सामवेद के हैं ॥१॥ विधी निषेधरूपरहस्य के उपदेश देने वाला ब्राह्मण भाग विषयज्ञानजनकमनोव्यापार ही मानो शरीर का मध्य भाग है। क्योंकि लिखा है—

मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा। (श्रुति) इन अंगों का मध्यभाग ही आत्मा है। इस श्रुति में मध्यवर्ती अंग का आत्मत्व प्रसिद्ध ही है। और ब्राह्मण के विषय में लिखा है—मंत्र ब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्।

(आपस्तम्ब० श्रौतसू० २४।१।३१)

मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है ॥३१॥

मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः । (बौधायनगृह्यसू० २।६।२) मंत्र और ब्राह्मण इन दोनों को वेद कहते हैं ॥२॥

आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च । (कौशिक० सू० १।३)

मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं ॥३॥ **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३२) **शेषे ब्राह्मणशब्दः ।** (२।१।३३)

प्रेरणा लक्षण श्रुति का ही नाम मंत्र है ॥३२॥ मंत्र से जो शेष वेद है वह ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है ॥३३॥ तथा अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियों द्वारा देखा हुआ अथर्ववेद विषयक ज्ञान जनक मनोव्यापार ही मानो पूंछ एवं प्रतिष्ठा यानी आधार है। अथर्ववेद के विषय में लिखा है—

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् । (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३८)

विशेषधर्म होने से निगद ही चतुर्थ अथर्ववेद है ।३८।

अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ।

(मुक्ति कोप० अ० १ श्रु० १३)

हे महावीर अथर्ववेद के पच्चास शाखा हैं ॥१३॥ पतञ्जलिमहर्षि के समय में **नवधा अथर्वणः ।** (महाभाष्य अ० १ पा० १ आह्नि० १)

अथर्ववेद के नव शाखा प्राप्त होते थे ॥१॥

आथर्वणमथो वेदं विभेद नवकेन तु । (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५२)

अथर्ववेद को नौ शाखा के भेद से विभेद किया गया ॥५२॥ उस ब्राह्मणोक्त मनोमय आत्मा की महिमा के विषय में भी यह आगे चतुर्थ अनुवाक में कहे जाने वाला मंत्ररूप श्लोक है। करामलकी कृतब्रह्मतत्त्व भगवद्रामानुजाचार्य—**आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।**

(शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १६)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के तृतीय अनुवाक के "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (शा०मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

के श्रीभाष्य में "अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" के द्वितीय ब्रह्मवल्ली का तृतीय अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति ॥

अन्वयार्थ— (यतः) जिस ब्रह्मानन्द से (मनसा) मन के (सह) सहित (वाचः) वाणी आदि इन्द्रियां इयत्तालक्षण पार को (अप्राप्य) न पाकर (निवर्तन्ते) लौट आती हैं (ब्रह्मणः) उस परब्रह्म नारायण के (आनन्दम्) अपूर्व आनन्द को (विद्वान्) सूक्ष्मा बुद्धि से जाननेवाला भगवदुपासक (कदाचन) कभी (न) नहीं (बिभेति) डरता है (इति) इस प्रकार यह मंत्ररूप श्लोक समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—जिस परब्रह्म नारायण से मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियां इयत्ता लक्षण पार को नहीं पाकर लौट आती हैं। क्योंकि लिखा है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः। (केनो० खं० १ श्रु० ३)

उस परब्रह्म नारायण के विषय में प्राकृत नेत्रादिक ज्ञानेन्द्रियां नहीं जा सकती हैं तथा वाणी आदिक समस्त कर्मेन्द्रियां नहीं पहुँच सकती हैं और मन अन्तः करण भी नहीं जा सकते हैं ॥३॥

यद्वाचानभ्युदितम् ॥४॥ यन्मनसा न मनुते ॥५॥ यच्चक्षुषा न पश्यति ॥६॥ यच्छ्रोत्रेण न शृणोति ॥७॥ यत्प्राणेन न प्राणिति ॥८॥ (के० उ० खं० १ श्रु० ४—८)

जो परब्रह्म नारायण वाणी द्वारा साकल्यरूप से नहीं बतलाया गया है ॥४॥ जिस परब्रह्म नारायण को मन आदिक अन्तः करण के द्वारा साकल्प रूप से नहीं समझ सकता है ॥५॥ जिस परब्रह्म नारायण को कोई भी प्राकृत नेत्र से नहीं देख सकता है ॥६॥ जिस परब्रह्म नारायण को कोई भी प्राकृत कान से नहीं सुन सकता है ॥७॥ जिस परब्रह्म नारायण को कोई भी

प्राण के द्वारा चेष्टा युक्त नहीं कर सकता है ॥८॥ उस परब्रह्म नारायण के अपूर्व आनन्द गुण को सूक्ष्मा बुद्धि से या विशुद्ध मन से जानने वाला भगवदुपासक कभी भयभीत नहीं होता है। क्योंकि लिखा है—

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा। (कठो० अ० १ व० २ श्रु० १२)

विषयों से हटाकर चित्त को आत्मा में समवधानकरनारूप अध्यात्म योग से प्राप्त जीवात्मज्ञान करके परब्रह्म नारायण देव को जान कर ॥१२॥

पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

(कठो० अ० १ व० २ श्रु० २०)

सबके धारक परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से अपने आत्मा के महत्व संपादक स्वसार्वज्ञादिगुणाविर्भाव हेतुभूत परमात्मा को जब देखता है तब शोक रहित हो जाता है ॥२०॥

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठो० अ० १ व० ३ श्रु० १२)

सूक्ष्म दर्शनशील विवेकी पुरुष एकाग्रतायुक्त बाह्याभ्यन्तर व्यापार रहित अतिसूक्ष्म अर्थ को विवेचन करने वाली बुद्धि से परब्रह्म नारायण को देख लेते हैं ॥१२॥

मनसैवेदमाप्तव्यम्। (कठो० अ० २ व० १ श्रु० ११)

विशुद्ध मन से ही परब्रह्म नारायण का स्वरूप प्राप्त करने योग्य है ॥११॥

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः। (कठो० अ० २ व० ३ श्रु० ९)

धृतियुक्त मन से समाहितात्मा पुरुष भक्ति से परब्रह्म नारायण के दिव्य स्वरूप को देखता है ॥९॥

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते।

(मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ८)

परब्रह्म नारायण की प्रसन्नता से भगवद्भक्त का अत्यन्त शुद्ध अन्तः करण होता है तदनन्तर उपासक पुरुष उस परब्रह्म नारायण को साक्षात्कार कर लेता है ॥८॥

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः। (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० १७)

धृतियुक्त मन से समाहितात्मा पुरुष भक्ति से परब्रह्म नारायण के दिव्य स्वरूप को देखता है ॥१७॥

मनसा य एनमेवं विदुः। (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० २०)

जो भक्त विशुद्ध मन से इस परब्रह्म नारायण को इस प्रकार जान लेते हैं ॥२०॥

भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह।

(महाभारत)

धृति से माहितात्मा पुरुष भक्ति द्वारा यहां ही ज्ञान स्वरूप परमात्मा को भलीभांति देख लेता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यः। (गी० अ० ११ श्लो० ५४) केवल अनन्या भक्ति के द्वारा ही मैं परमेश्वर जाना जा सकता हूँ ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति। (गी० अ० १८ श्लो० ५५) भक्ति के द्वारा भक्त पुरुष मुझ परब्रह्म नारायण को तत्त्व से जान लेता है ॥५५॥ पूर्वोक्त श्रुति में मंत्र रूपश्लोक के समाप्ति सूचक "इति" शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस श्रुति में ब्रह्मानन्द विशुद्ध मन के गोचर है यह स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। यह श्रुति "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मानन्दवल्ली के नौवां अनुवाक के प्रारम्भ में भी है। भुवनभवभयभञ्जनभृतदेह भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१)

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० १।१।१३)

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते। (शा० मी० १।१।१६)

नेतरोऽनुपपत्तेः। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १७)

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते। (शा० मी० अ० ३ पा० २ सू० १७)

अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।

(शा० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ८)

इन छवों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के चौथा अनुवाक की आदि की श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किये हैं। और

नेतरोऽनुपपत्तेः। (शा० मी० १।१।१७)

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० २०)

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।

(शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० २९)

दर्शयति चाथो अपिस्मर्यते। (शा० मी० ३।२।१७)

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्। (शा० मी० ३।४।८)

इन पाचों सूत्रों के श्रीभाष्य में उत्तरार्ध को उद्धृत किये हैं।

तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुष विधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (पूर्वस्य) पहले बताये हुए प्राणमय के आत्मा है (एषः) यही (एव) निश्चय करके (तस्य) तिस मनोमय के (शारीरः) शरीर संबन्धी (आत्मा) आत्मा है (वै) निश्चय ही (तस्मात्) तिस (एतस्मात्) इस पहले कहा हुआ (मनोमयात्) मनोमय आत्मा से (अन्यः) भिन्न (अन्तरः) उसके भीतर रहने वाला (विज्ञानमयः) विज्ञानमय यानी जीव (आत्मा) आत्मा है (तेन) तिस विज्ञानमय जीवात्मा से (एषः) यह मनोमय आत्मा (पूर्णः) व्याप्त है (सः) वह (एषः) यह विज्ञानमय जीवात्मा (वै) निश्चय ही (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का (एव) ही है (तस्य) उसकी (पुरुषविधताम्) पुरुष के तुल्य आकृति में (अनु) अनुकरण करके या अनुगत होने से (अयम्) यह विज्ञानमय जीवात्मा (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का बताया

जाता है (तस्य) उस विज्ञानमय जीवात्मा की (श्रद्धा) श्रद्धा (एव) ही (शिरः) पक्षी की कल्पना में सिर है (ऋतम्) शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में सम्यक् निश्चय किया हुआ ऋत (दक्षिणः) दाहिना (पक्षः) पंख है (सत्यम्) सत्य भाषण (उत्तरः) बांया (पक्षः) पंख है (योगः) इन्द्रिय मन और बुद्धि की स्थिर धारणारूप योग ही (आत्मा) शरीर का मध्य भाग है (महः) योग विरोधि निरसन सामर्थ्यलक्षण महः (पुच्छम्) पूँछ एवं (प्रतिष्ठा) प्रतिष्ठा यानी आधार है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्ररूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—चतुर्थ अनुवाक के इस दूसरे अंश में प्रायः विज्ञानमय जीवात्मा का वर्णन किया गया है कि—जो पहले बताये हुए अन्नमय और प्राणमय का आत्मा है वही निश्चय करके मनोमय का भी शरीर संबन्धी आत्मा है। अर्थात् अन्नमय १, प्राणमय २, मनोमय ३, इन तीनों का एक आत्मा है। निश्चय ही तिस इस पहले कहे हुए मनोमय से भिन्न उसके भीतर रहने वाला विज्ञानमय जीवात्मा है। बुधजनसेवित श्रीपूज्यपाद भगवद्रामानुजाचार्य—**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।** (शा० मी० १।१।१) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के चौथे अनुवाक के—

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः ॥

इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और। **आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥** (शा०मी० १।१।१३) के श्री भाष्य में ॥ विज्ञानमयः ॥ इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। विज्ञानमय जीवात्मा से मनोमय आत्मा पूर्णव्याप्त है। वह यह विज्ञानमय जीवात्मा निश्चय करके पुरुष के आकार का ही है। उसकी पुरुष के तुल्य आकृति में अनुकरण कर के या अनुगत होने से यह विज्ञानमय जीवात्मा पुरुष के आकार का कहा जाता है। उस विज्ञानमय जीवात्मा के अङ्गों की पक्षी के रूप में इस प्रकार कल्पना की गयी है। उस विज्ञानमय जीवात्मा की श्रद्धा ही मानो सिर है। श्रद्धा का लक्षण लिखा है—

श्रद्धा हि "स्वाभिमतं साधयति एतत्" इति विश्वासपूर्विका साधनेत्वरा। (रामानुजभाष्यगी० अ० १७ श्लोक० २)

क्योंकि 'अमुक साधन अपने अमित कार्य को सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वास के साथ जो साधन में शीघ्रता होती है उसीका नाम श्रद्धा है ॥२॥ शास्त्रानुसार करने योग्य बुद्धि में सम्यक् रूप से निश्चय किया हुआ ऋत ही मानो दाहिना पंख है। सत्य भाषण ही इसका बायां पंख है। सत्य का लक्षण लिखा है—

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्।

(जाबा० दर्श० उ० खं० १ श्रु० ६)

हे मुनीश्वर नेत्र आदिक इन्द्रियों से जो जैसा देखा गया और सुना गया तथा सूंघा गया उसको ठीक जैसे के तैसे जो कहना है उसी को सत्य कहते हैं ॥६॥ और भी सत्य के विषय में लिखा है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि।
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति॥

(तैत्ति० आरण्य० प्रपाठ० १० अनुवा० ६३)

सत्य से वायु चलता है सत्य से सूर्य द्युलोक में प्रकाशित होता है सत्य ही वाणी की प्रतिष्ठा है और सत्य में सब प्रतिष्ठित है इस कारण से ऋषिलोग सत्य को सब से श्रेष्ठ कहते हैं ॥६३॥

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते॥ (विष्णुस्मृ० ८)

हजार अश्वमेधयज्ञ और सत्य तराजू में रखे जाने पर हजार अश्वमेधयज्ञ की अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है ॥८॥ और प्रणव से आत्मसमर्पणरूप योग ही मानो शरीर का मध्य भाग है। क्योंकि लिखा है— ओमित्यात्मानं युञ्जीत।

(तै० आरण्य० प्रपा० १० अनुवा० ६३)

प्रणव से परब्रह्म नारायण में अपनी आत्मा का समर्पण करे ॥६३॥ शरीर का मध्य भाग अङ्गों का आत्मा है। क्योंकि लिखा है—

मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा। (श्रुति)

मध्य भाग ही इन अङ्गों का आत्मा है। अथवा इन्द्रिय मन और बुद्धि की स्थिर धारणारूप योग ही मानो शरीर का मध्य भाग है। क्योंकि लिखा है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
(कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १०)

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥११॥

जब मन के सहित पांचों श्रोत्र १, चक्षु २, घ्राण ३, रसना ४ और त्वक् ५ ये ज्ञानेन्द्रियां भलीभांति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी नहीं किसी प्रकार की चेष्टा करती है उसको परम गति वैदिक योगी लोग कहते हैं॥१०॥ उस स्थिर इन्द्रियों की धारणा को ही योग ऐसा अनुभवी योगी लोग मानते हैं ॥११॥ और अन्यत्र लिखा है—

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं न हि॥
(योगशिखो० अ० १ श्रु० ६७)

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥६८॥
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ॥६९॥

योग से परतर पुण्य और योग से परतर कल्याण तथा योग से परतर सूक्ष्म और योग से परतर साधन नहीं है ॥६७॥ प्राण वायु और अपान वायु की एकता तथा अपना रज और रेतस् तथा सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर तथा जीवात्मा और परमात्मा ॥६८॥ इन सबों के संयोग को योग कहते हैं ॥६९॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगद० अ० १ पा० १ सू० २)

चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है ॥२॥

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्।

एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥

(योगशिखो० अ० १ श्रु० १२६)

एक ही योग अन्तर्भूमिका के क्रम से मंत्र योग १, लय योग २, हठयोग ३, और राजयोग ४, के भेद से चार प्रकार का होता है ॥१२९॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥

(योगशिखो० अ० १ श्रु० १३०)

गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ॥१३१॥

हकार से शरीर का वायु बाहर जाता है और सकार से फिर वह वायु भीतर शरीर में प्रवेश करता है इस प्रकार से हंसः हंसः इस मंत्र को सर्वदा सब जीव जपते हैं ॥१३०॥ वह जप गुरु के वाक्य से सुषुम्ना नाड़ी में विपरीत "सोहं सोहं" इस प्रकार का होने लगता है तब उसी को मंत्र-योग योगी लोग कहते हैं ॥१३१॥

हकारेण तु सूर्यः स्याट्ठकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥

(योगशिखो० अ० १ श्रु० १३२)

हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम् ॥१३३॥

हकार से सूर्यस्वर कहा जाता है और ठकार से चन्द्रस्वर कहा जाता है सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर की एकता को ही योगी लोग हठयोग कहते हैं ॥१३२॥ सब दोष से उत्पन्न हुआ जाड्य हठयोग से नष्ट हो जाता है ॥१३३॥

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मंश्चित्तं याति विलीनताम् ।

(योगशिखो० १।१३४)

पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात्संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ॥१३५॥

जब जीवात्मा और परमात्मा की एकता हो जाती है तब हेब्रह्मन् संयोगरूप ऐक्य सिद्ध होने पर तो चित्त विलय को प्राप्त करता है चित्त को आत्मा में बिलीन होना ही योगी लोग लययोग कहते हैं ॥१३४॥ लययोग से स्वात्मानन्द परं पद सुख प्राप्त होता है ॥१३५॥ और लययोग के उदय होने पर देह में वायु स्थिर हो जाता है ॥१३५॥

योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम् ॥ (योगशिखो० १।१३६)
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ।
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ॥१३७॥

सबप्रणियों के महाक्षेत्र योनिस्थान के मध्य में ओड़हुल या दुपहरिया के फूल के समान लाल श्रीदेवी तत्त्व से समावृत रज रहता है ॥१३६॥ और रज तथा रेत के संयोग को राजयोग कहते हैं राजयोग से अणिमादिकपदको पाकर प्रकाशमान रहता है ॥१३७॥

साङ्कृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्ग दर्शनम् ।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ।
(जाबा० दर्श० उ० खं० १ श्रु० ४)
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन् प्रत्याहारस्ततः परम् ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥५॥

हे साङ्कृत सुनो मैं तुम्हें आठ अंगों सहित योग का उपदेश करता हूं हे ब्रह्मन् यम १, नियम २, और आसन ३. ॥४॥ तथा प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, और समाधि ८, ये योग के आठ अंगहैं॥५॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृति र्मिताहारः शौचं चेति यमा दश (जा० द०उ० खं०१ श्रु६)

अहिंसा १, सत्य, २, चोरी न करना ३, ब्रह्मचर्य ४, दया ५, सरलता ६, क्षमा ७, धृति ८, परिमित आहार ९ और बाहर भीतर की पवित्रता १०, ये दश यम हैं ॥६॥

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्

(जा० द० उ० खं० २ श्रु० १)

तप १; संतोष २; आस्तिकता ३, दान ४, ईश्वरपूजा ५; सिद्धान्तश्रवण ६, लज्जा ७, मति ८, जप ९, और व्रत १०, ये दश नियम कहे गये हैं ॥१॥

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा ।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च (जा० द० उ० खं० ३ श्रु० १)
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव ॥२॥

हे मुनिश्रेष्ठ आसन नौ प्रकार के हैं—स्वतिकासन १, गोमुखासन २; पद्मासन ३, वीरासन ४, सिंहासन ५, भद्रासन ६, मुक्तासन ७, मयूरासन ८, और सुखासन ९, ॥१॥२॥

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये साङ्कृते शृणु सादरम् ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥

(जाबा० द० उ० खं० ६ श्रु० १)

वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्तारेचपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥२॥
इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥३॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुः षष्ठ्या तु मात्रया ।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥४॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारये ज्जपतत्परः ।
पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं वुधः ॥५॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।

प्राणायामोभवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥६॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा ।
अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥७॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं सञ्जपन्वशी ।
उकारमूर्तिं सध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥८॥
मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयानिलम् ।
एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥९॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर ॥१०॥

हे साङ्कृते अब मैं प्राणायाम का क्रम बतलाता हूँ इसे आदर के सहित श्रद्धापूर्वक तुम सुनो। पूरक कुम्भक और रेचक इन तीनों से जो प्राण संयम किया जाता है उसे प्राणायाम कहा गया है ॥१॥ प्रणव के जो तीन वर्ण अकार, उकार और मकार हैं वे क्रमशः पूरक कुम्भक और रेचक से सम्बन्ध रखने वाले बताये गये हैं। इन तीनों वर्णों का समूह ही प्रणव कहा गया है। अतः प्राणायाम भी प्रणवमय ही है ॥२॥ इडा नाड़ी के द्वारा वायु को धीरे-धीरे भीतर खींच कर उसे उदर में भरे और वहां स्थित षोडश मात्राविशिष्ट अकार का चिन्तन करे ॥३॥ तत्पश्चात् उस उदर में भरी हुई वायु को कुछ काल तक धारण किये रहे और उस समय चौसठ मात्रा से विशिष्ट उकार के स्वरूप का चिन्तन करते हुए प्रणव का जप करता रहे ॥४॥ जब तक संभव हो जप में संलग्न रह कर वायु को धारण किये रहे। तदनन्तर विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओं से विशिष्ट मकार का चिन्तन करते हुए पिङ्गला नाड़ी के द्वारा धीरे-धीरे उस भरी हुई वायु को बाहर निकाले। यह एक प्राणायाम है। इसी प्रकार अभ्यास करता रहे ॥५॥६॥ फिर पिङ्गला नाड़ी के द्वारा वायु को धीरे-धीरे भीतर भरते हुए षोडश मात्रा से विशिष्ट अकारस्वरूप प्रणव का एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करे ॥७॥ जब वायु भर जाय तब विद्वान् पुरुष मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए चौसठ मात्राओं से विशिष्ट उकार के स्वरूप का कुछ काल तक चिन्तन करे और प्रणव का जप करते हुए

वायु को धारण किये रहे ॥८॥ इसके बाद बत्तीस मात्राओं से विशिष्ट मकार का चिन्तन करते हुए इडा नाड़ी के द्वारा धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार इड़ा नाड़ी के द्वारा वायु को भरते हुए पुनः अभ्यास करे ॥९॥ हे मुनीश्वर इस प्रकार प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ॥१०॥

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥
(जाबा० द० उ० खं० ६ श्रु० १२)
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।
बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥१३॥

जिसके द्वारा बाहर से वायु को पेट के भीतर भरा जाता है वह पूरक है ॥१२॥ जल से भरे हुए घड़े की भांति वायु को पेट में धारण किये रहना कुम्भक कहलाता है। और उस वायु को पेट से बाहर निकालना ही रेचक कवलाता है ॥१३॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥
(जाबा० द० उ० खं० ७ श्रु० १)
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।
यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः ॥२॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ।
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥३॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥४॥
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत् ॥५॥

हे महामुने अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करूंगा। विषयों में स्वभावतः विचरने वाली इन्द्रियों को ॥१॥ बलपूर्वक वहां से लौटा लाने का जो

प्रयत्न है उसीको प्रत्याहार कहते हैं। मनुष्य जो कुछ देखता है वह सब ब्रह्मात्मक है यों समझते हुए ब्रह्म में चित्त को एकाग्र कर लेना ॥२॥ यह ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा बतलाया हुआ प्रत्याहार है। मनुष्य मरण काल तक जो कुछ भी शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है ॥३॥ वह सब परब्रह्म नारायण के लिये करे तो यह भी प्रत्याहार कहलाता है अथवा नित्य कर्म परब्रह्म नारायण की अराधना से भाव करे ॥४॥ और काम्य कर्म भी भगवान् की अराधना के भाव से ही करे तो इसे भी प्रत्याहार कहते हैं। अथवा वायु को एक स्थान से खींच कर दूसरे स्थान पर स्थापित करे ॥५॥

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् ।
उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत् ॥

(जा० द० उ० खं० ७ श्रु० ६)

नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् ।
कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥७॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे ।
तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥८॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा ।
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥९॥
सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥१०॥
पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ।
पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥११॥
नाभिकन्देचहृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके ।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥१२॥
देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥१३॥

प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।

एवमभ्यासतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥१४॥

दाँत के मूलभाग से वायु का आकर्षण करे उसे कण्ठ में स्थापित करे, कण्ठ से हृदय में ले जाय हृदय से खींचकर उसे नाभि प्रदेश में स्थापित करे ॥ ६ ॥ नाभि प्रदेश से कुण्डलिनी में ले जाकर रोके कुण्डलिनी के स्थान से हटा कर विद्वान पुरुष उसे मूलाधार में स्थापित करे ॥ ७ ॥ तदनन्तर अपानवायु के स्थान से उस वायु को हटा कर कटि के दोनों भागों में ले जाय और वहां से जाँघों के मध्यभाग में ले जाय जाँघों से दोनों घुटनों में घुटनों से पिडलियों में और पिडलियों से पैर के अंगूठे में ले जा कर उस वायु को रोके ॥८॥ प्रत्याहार परायण महात्माओं ने प्राचीन काल से इसी को प्रत्याहार कहा है इस प्रकार के प्रत्याहार के अभ्यास में लगे हुए महात्मा पुरुष के ॥९॥ सब पाप तथा जन्म मरण रूप व्याधि नष्ट हो जाती है। हे सुव्रत स्वस्तिकासन से विद्वन् पुरुष स्थिर होकर बैठे और नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भीतर खींच कर ॥१०॥ उसे पैर से लेकर मस्तक तक के स्थानों में पूर्ण करदे । इसके बाद दोनों पैरों में और मूलाधार में ॥११॥ तथा नाभिकन्द में और हृदय के मध्य भाग में तथा कण्ठ के मूलभाग में और तालु में तथा भौंहों के मध्य भाग में और ललाट में तथा मस्तक में वायु को धारण करे ॥१२॥ विद्वान् पुरुष एकाग्र-चित्त हो देह से आत्माबुद्धि को हटाकर उसे स्वयं ही द्वन्द्व और विकल्प-रहित आत्मा में स्थापित करे ॥१३॥ वेदान्ततत्त्व के जानने वाले महात्माओं ने इसीको वास्तविक प्रत्याहार बताया है। इस प्रकार प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले पुरुष के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥१४॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥
(जाबा० द० उ० खं०८ श्रु० १)

प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलनेचाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥२॥
ह य व र लकाराख्यं मंत्रमुच्चारयेत्क्रमात् ।

धारणैषापरा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥३॥

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशोह्यपां पाय्वन्तमुच्यते।

हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥४॥

आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः ॥५॥

हे सुव्रत अब मैं पांच धारणाओं का वर्णन करूंगा। अपने शरीर के भीतर जो आकाश है उसमें बाह्य आकाश की धारणा करे ॥१॥ हे महामुने इसी प्रकार प्राण में बाह्यी वायु की धारणा करे और जठरानल में बाह्य अग्नि की धारणा करे तथा शरीरगत जल के अंश में ही जलतत्त्व की धारणा करे और शरीर के पार्थिव भाग में ही समस्त पृथिवी की धारणा करे ॥२॥ आकाशतत्त्व की धारणा के समय में "हं" इस बीजमंत्र को और वायुतत्त्व की धारणा के समय में "यं" इस बीज-मंत्र को तथा अग्नितत्त्व की धारणा के समय में "रं" इस बीजमंत्र को और जलतत्त्व की धारणा के समय में "वं" इस बीजमंत्र को तथा पृथिवी-तत्त्व की धारणा के समय में "लं" इस बीजमंत्र को क्रम से उच्चारण करे। यह धारणा सर्वश्रेष्ठ बतायी गयी है। यह धारणा सब पापों का नाश करने वाली है ॥३॥ पैर से लेकर घुटने तक का भाग पृथिवी का अंश माना गया है। घुटने से लेकर गुदा मार्ग तक का भाग जल का अंश बताया जाता है। गुदा से ऊपर हृदय तक का भाग अग्नि का अंश है। हृदय से ऊपर भौंहों के मध्य भाग तक वायु का अंश है ॥४॥ और हे प्राज्ञ मस्तक का भाग आकाश का अंश कहा गया है ॥५॥

अथवा तत्र वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम्॥

(जाबा० द० उ० खं० ८ श्रु० ७)

धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥८॥

सर्वं कारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम्।

साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत्प्रणवेन तु ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥९॥

अथवा हे मुनिश्रेष्ठ तुमसे एक दूसरी धारणा का वर्णन करता हूँ सब पर शासन करने वाले ज्ञान और आनन्द गुण वाले एवं कल्याण-रूप परब्रह्म नारायण में ॥७॥ बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन सब पापों की विशुद्धि के लिये धारणा करे। ब्रह्मा आदिक समस्त कार्यस्वरूप को अपने-अपने कारण में लय करके ॥८॥ सबके परम कारण चर्मेन्द्रियों से नहीं ग्रहण करने योग्य परब्रह्म नारायण को अपने हृदय के भीतर प्रणव से धारणा करे तथा इस प्रकार धारणा करते समय मन से समस्त इन्द्रियों को भी अपने-अपने विषयों से हटाकर उसी परमात्मा में संयुक्त करे ॥९॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ॥

(जाबा० द० उ० खं० ९ श्रु० १)

ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम् ।
सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥२॥

अब मैं संसार बन्धन का नाश करने वाले ध्यान का प्रकार बतलाता हूं। समस्त संसाररूपी रोग के एकमात्र औषध एवं ऋत तथा सत्य यानी निरुपाधिकसत्ता योगी परब्रह्म नारायण हैं ॥१॥ ऊर्ध्वरेता विश्व-स्वरूप विरूपाक्ष सबसे बड़ा महान् ईश्वर एवं योगीश्वरों के भी ईश्वर उस परमात्मा को वही निन्दितकर्म करने वाला मैं हूं इस प्रकार अपनी बुद्धि में निश्चय करके अत्यन्त आदरपूर्वक ध्यान करे ॥२॥

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अत्यर्थमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥

(जाबा० द० उ० खं० ९ श्रु० ३)

तथास्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।

न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥४॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥५॥

अथवा ध्यान का दूसरा प्रकार यों है— सत्यस्वरूप निरुपाधिक सत्तायोगी सबका स्वामी आनन्दगुणवाला ज्ञानस्वरूप अद्वितीय सब अर्थों से परे अत्यन्त निर्मल अचल नित्य तथा आदि मध्य एवं अन्त से रहित ॥३॥ स्थूल प्रपञ्च से सर्वथा परे आकाश से भिन्न स्पर्श में नहीं आने योग्य प्राकृत नेत्र से नहीं देखने योग्य और रस से भिन्न गन्ध से भिन्न अप्रमेय उपमा रहित ॥४॥ देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्द परब्रह्म नारायण को हे सुव्रत मैं प्रभु का दास हूँ इस प्रकार अपने को निश्चय करके मोक्ष के लिये भलीभांति ध्यान करे ॥५॥

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशम् ।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥

(जाबा० द० उ० खं० १० श्रु० १)

नाहं देहो न च प्राणोनेन्द्रियाणि मनो न हि ।
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ॥४॥
इति धीर्यामुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ॥५॥

अब मैं संसार बन्धन का नाश करने वाली समाधी का वर्णन करूंगा। परमात्मा और जीवात्मा की एकता के विषय में अर्थात् चिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्म एक है इस प्रकार के निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होना ही समाधि है ॥१॥ मैं न देह हूँ न प्राण हूँ न इन्द्रिय समुदाय हूँ और न मन ही हूँ सदा साक्षीरूप होने के कारण से मैं केवल कल्याणस्वरूप हूँ ॥४॥ हे मुनिश्रेष्ट इस प्रकार की जो निश्चयात्मिका बुद्धि है वही यहां समाधि कहलाती है ॥५॥ योग के विषय में जिसे अधिक जानना हो वह मेरा बनाया हुआ "वैदिकयोगसंग्रह" ग्रन्थ को देख ले। उस विज्ञान-मय जीवात्मा के योग विरोधिनिरसनसामर्थ्य लक्षण महः पूंछ एवं प्रतिष्ठा यानी आधार है। अथवा "महः" नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म नारायण

ही पूंछ एवं आधार हैं। क्योंकि लिखा है— "मह इति ब्रह्म" (तैत्ति० उ० व० १ अनुवा० ५ श्रु० ३) महः ब्रह्म है ॥३॥ "यस्य नाम महत्" (यजु० अ० ३२ मं० ३) जिस परब्रह्म नारायण के "महत्" नाम है ॥३॥ "महद्यक्षं प्रथमजं वेद" (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० ४ श्रु० १) जो प्रथम उत्पन्न हुए पूजनीय "महत्" परब्रह्म को जानता है ॥१॥ "गुणभृन्निर्गुणो महान्" (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० १०३) गुणभृत् १, निर्गुण २, महत् ३, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥१०३॥ उस विज्ञानमय जीवात्मा के विषय में भी यह आगे पञ्चम अनुवाक में कहे जाने वाला मंत्ररूप श्लोक है। अनन्तावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य— "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) के श्रीभाष्यमें "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के चौथे अनुवाक के "महः पुच्छं प्रतिष्ठा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" के ब्रह्मवल्ली का चौथा अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्मज्येष्ठमुपासते।
विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति।
शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति ॥

अन्वयार्थ—(विज्ञानम्) जीवात्मा (यज्ञम्) यज्ञको (तनुते) विस्तार करता है (च) और (कर्माणि) कर्मों को (अपि) भी (तनुते) विस्तार करता है (सर्वे) सब (देवाः) देवता (ब्रह्मज्येष्ठम्) अचेतन प्रधान से श्रेष्ठ (विज्ञानम्) जीवात्मा को (उपासते) प्रजापति विद्या में कही हुई रीति से उपासना करते हैं (चेत्) यदि कोई (विज्ञानम्) जीवात्मा को (ब्रह्म) ब्रह्मात्मक (वेद) जानता है (चेत्) और यदि (तस्मात्) उस जीवात्मा से अन्तिमप्रत्यय पर्यन्त (न) नहीं (प्रमाद्यति) प्रमाद करता है तो (शरीरे) देह

के वर्तमान रहने पर भी (पाप्मनः) पापों को (हित्वा) त्याग कर अर्थात् विनष्टपूर्वपापवाला और अश्लिष्ट उत्तरपापवाला प्रपन्नजन (सर्वान्) समस्त (कामान्) कल्याण गुणों को (समश्नुते) भली भांति अनुभव करता है (इति) इस प्रकार यह मंत्ररूप श्लोक समाप्त हुआ ॥

विशेषार्थ—जीवात्मा यज्ञ को विस्तार करता है। इस श्रुति में "विज्ञान" शब्द जीवात्मा वाचक है। क्योंकि यहां पर **कृत्यल्युटो बहुलम्।** (पा० व्या० अ० ३ पा० ३ सू० ११६) इस सूत्र से जानता है इस अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होता है। अथवा **नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः।** (पा०व्या० अ० ३ पा० १ सू० १३४) इस सूत्र से कर्ता में ल्यु प्रत्यय होता है। यज्ञ के विषय में लिखा है —

यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञेनासुरानपानुदन्त। यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति ॥

(तैत्ति० आरण्य० प्रपाठ० १० अनुवा० ६३)

देवता सब यज्ञ से ही स्वर्गलोक को प्राप्त किये हैं। और यज्ञ से ही असुरों को पराजय किये हैं। यज्ञ से द्वेष करने वाले मित्र हो जाते हैं। यज्ञमें सब प्रतिष्ठित है। इससे यज्ञ को सबसे श्रेष्ठ ऋषिगण कहते हैं।६३।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

(गी० अ० १७ श्लो० ११)

फलकामना से रहित पुरुषों के द्वारा यज्ञ करना ही कर्तव्य है इस भाव से मनका समाधान करके जो शास्त्रविधि के अनुसार यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यः।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ (गी०१७।१२)

परन्तु हे भरत श्रेष्ठ जो फल को लक्ष्य बनाकर और दंभके लिये भी किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस जान ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

(गी० १७।१३)

विधिहीन शास्त्रविहित अन्न से रहित मंत्रहीन दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञ को तामस कहते हैं।॥१३॥ यज्ञो वै श्रेष्ठतरं कर्म। (शतपथब्राह्म० १।७।१।५॥) यज्ञ ही श्रेष्ठतर कर्म है ॥५॥ और जीवात्मा ही समस्त कर्मों को भी विस्तार करता है। कर्म के विषय में लिखा है –

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

(गी० अ० १८ श्लो० २३)

जो शास्त्र नियतकर्म कर्तापन के संबन्ध से रहित विना रागद्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

(गी० १८।२४)

परन्तु जो कर्म फलाकांक्षी पुरुष के द्वारा अहंकार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥

(गी० १८।२५)

अनुबन्ध क्षय हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से प्रारम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥ सब देवता ब्रह्म यानी अचेतन प्रधान से श्रेष्ठ जीवात्मा को प्रजापति विद्या में कही हुई रीति से उपासना करते हैं। "ब्रह्मज्येष्ठम्" यहां ब्रह्मका अर्थ अचेतन प्रधान है। क्योंकि लिखा है—

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूप मन्नं च जायते ।

(मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १०)

उस सृष्टि के उन्मुख नारायण से यह कार्याकार ब्रह्म यानी अचेतन तथा नाम रूप से विभक्त भोग्यभोक्तृरूप उत्पन्न हुआ ॥१०॥

मम योनि र्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ॥

(गी० अ० १४ श्लो० ३)

मेरी महद्ब्रह्मयोनि प्रकृति है उसमें मैं गर्भ को स्थापन करता हूँ ॥३॥ यदि कोई जीवात्मा को ब्रह्मात्मक जानता है। क्योंकि लिखा है—

यस्य विज्ञानं शरीरम् । (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २२)

जिस परब्रह्म नारायण के जीवात्मा शरीर है ॥२२॥

यस्याक्षरं शरीरम् । (सुबालो० खं० ७)

जिस परब्रह्म नारायण का अविनाशी जीवात्मा शरीर है ॥७॥

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम् । (शतपथब्रा० १४।६।७।३०)

जो परब्रह्म नारायण जीवात्मा में स्थिर होता हुआ जीवात्मा से पृथक् है जिसको जीवात्मा नहीं जानता है जिस परब्रह्म नारायण के जीवात्मा शरीर है ॥३०॥ और यदि उस जीवात्मा से अन्तिम प्रत्यय पर्यन्त नहीं प्रमाद करता है तो शरीर के वर्तमान रहने पर भी पापों को त्याग कर अर्थात् विनष्ट पूर्वपापवाला और अश्लिष्ट उत्तरपापवाला प्रपन्नजन समस्तकल्याण गुणों को भलीभांति अनुभव करता है। यहां "कामान्" पद का कल्याणगुण अर्थ है। क्योंकि लिखा है—

य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । (छा० उ० अ० ८ खं० १ श्रु० ६)

जो इस लोक में आत्मा को और सत्य, ज्ञान आदिक कल्याण गुणों को जानकर परलोक में जाते हैं उनकी समस्त लोकों में यथेच्छगति होती है ॥६॥ इस श्रुति में काम शब्द कल्याणगुण में प्रयुक्त हुआ है। मूल में "इति" शब्द प्रकृतिमंत्र की समाप्ति सूचित करने के लिये है। लक्ष्मणावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३)

ज्ञोऽतएव । (शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० १६)

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । (शा० मी० २।३।२६)

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।

(शा० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३५)

इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के पांचवें अनुवाक के "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और ज्ञोऽत एव । (शा० मी० २।३।१६)

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः । (शा० मी० २।३।३५)

इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "कर्माणि तनुतेपि च" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं।

तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (पूर्वस्य) पहले बताये हुए मनोमय के आत्मा है (एषः) यही (एव) निश्चय करके (तस्य) तिस विज्ञानमय जीवात्मा के (शारीरः) शरीर संबन्धी (आत्मा) आत्मा है (वै) निश्चय ही (तस्मात्) तिस (एतस्मात्) इस पहले कहा हुआ (विज्ञानमयात्) विज्ञानमय जीवात्मा से (अन्यः) भिन्न (अन्तरः) उसके भीतर रहने वाला (आनन्दमयः) प्रचुर आनन्द वाला (आत्मा) परमात्मा है (तेन) तिस आनन्दमय परमात्मा से (एषः) यह विज्ञानमय जीवात्मा (पूर्णः) पूर्ण व्याप्त है (सः)

वह (एषः) यह आनन्दमय परमात्मा (वै) निश्चय ही (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का (एव) ही है (तस्य) उस विज्ञानमय जीवात्मा की (पुरुषविधताम्) पुरुष के तुल्य आकृति में (अनु) अनुकरण करके या अनुगत होने से (अयम्) यह प्रचुर आनन्द वाला परब्रह्म नारायण (पुरुषविधः) पुरुष के आकार का कहा जाता है (तस्य) उस आनन्दमय परमात्मा का (प्रियम्) पुत्रादि इष्ट वस्तु के दर्शन से होने वाला सुख रूप प्रिय (एव) ही (शिरः) पक्षी की कल्पना में सिर है (मोदः) इष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाला सुख रूप मोद (दक्षिणः) दाहिना (पक्षः) पंख है (प्रमोदः) प्राप्त इष्ट वस्तु के उपयोग से होने वाला प्रकृष्ट सुख रूप प्रमोद (उत्तरः) बायां (पक्षः) पंख है (आनन्दः) सुखातिशय रूप आनन्द (आत्मा) शरीर के मध्य भाग है (ब्रह्म) ब्रह्मरूप वेष से (पुच्छम्) पूंछ एवं (प्रतिष्ठा) आधार है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाले (श्लोकः) मंत्ररूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में आनन्दमय परब्रह्म नारायण का वर्णन किया गया है। जो पहले बताये हुए मनोमय के आत्मा है यही निश्चय करके उस विज्ञानमय जीवात्मा के शरीर संबन्धी आत्मा है। बलरामावतार धारी भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० १।१।१३) के श्रीभाष्य में "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। निश्चय ही उस विज्ञानमय जीवात्मा से भिन्न उसके भीतर रहने वाला आनन्दमय परमात्मा है। "आनन्दमयः" यहां पर—

तत्प्रकृतवचने मयट्। (पा० व्या० अ० ५ पा० ४ सू० २१) इस सूत्र से प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है।

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः। (पा० व्या० अ० ४ पा० ३ सू० १४३)

इस सूत्र से विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय नहीं हो सकता है। क्योंकि

मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः। (पा० व्या० ४।३।१४२)

इस सूत्र से "भाषायाम्" की अनुवृत्ति पूर्वोक्त (४।३।१४३) के सूत्र में होता है इससे छन्द में विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय नहीं हो सकता है। बलरामावतारधारी भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० १।१।१३।) परिणामात् ॥ (शा० मी० अ० १ पा० ४ सू० २७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्": की ब्रह्मवल्ली के पांचवें अनुवाक के —

"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः"

इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और—

आत्मशब्दाच्च । (शा० मी० अ० ३ पा०३ सू० १५)

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । (शा० मी० ३।३।१६) इन सूत्रों के श्री भाष्य में "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। उस आनन्दमय परब्रह्म नारायण से यह विज्ञानमय जीवात्मा पूर्ण व्याप्त है। वह यह आनन्दमय परमात्मा निश्चयही पुरुष के आकार का ही है। उस विज्ञानमय जीवात्मा के पुरुष के तुल्य आकृति में अनुकरण करके या अनुगत होने से यह प्रचुर आनन्दवाला पर ब्रह्म नारायण पुरुष के आकार का कहा जाता है। उस आनन्दमय परब्रह्म नारायण के अङ्गों की पक्षी के रूप में इस प्रकार कल्पना की गयी है। उस आनन्दमय परमात्मा के पुत्रादि इष्टवस्तु के दर्शन से होने वाला सुखरूप प्रिय ही मानो सिर है। इष्टवस्तु की प्राप्ति होने वाला सुखरूप मोद ही मानों दाहिना पंख है। प्राप्त इष्टवस्तु के उपयोग से होने वाला प्रकृष्ट सुखरूप प्रमोद ही मानो बायां पंख है। सुखातिशयरूप आनन्द ही मानो शरीर का मध्यभाग है। क्योंकि लिखा है॥ मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा । (श्रुति०) इन अंगों का मध्यभाग ही आत्मा है। और अन्यत्र भी लिखा है—

एतस्यैवानन्दस्यान्यानिभूतानि मात्रा मुपजीवन्ति ।

(बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० ३२)

अन्य सब प्राणी इस आनन्द के मात्रा को आश्रय करके ही जीवित रहते हैं ॥३२॥ उस आनन्दमय परमात्मा का ब्रह्मवेष ही मानों पूंछ एवं प्रतिष्ठा यानी आधार है। उस आनन्दमय परमात्मा के विषय में भी आगे छठवां अनुवाक में कहा जाने वाला मंत्र रूप श्लोक है। श्रीचिह्ना-रूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौहि भेदे ।

(शा० मी० अ० ३ पा० ३ सू० १२)

के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के पाचवें अनुवाक के "तस्य प्रियमेव शिरः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं और—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० १।१।१३) के श्रीभाष्य में "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली का पांचवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (ब्रह्म) आनन्दमय परब्रह्म नारायण (असत्) नहीं है (इति) ऐसा (वेद) जानता है तो (सः) वह मनुष्य (असन्नेव) असत् निश्चय करके (भवति) हो जाता है और (चेत्) यदि (ब्रह्म) प्रचुर आनन्दवाला परब्रह्म नारायण (अस्ति) है (इति) ऐसा (वेद) जानता है (ततः) तो (एनम्) इस परब्रह्म नारायण की सत्ता जानने वाले महानुभाव को (सन्तम्) सत्पुरुष (विदुः) भगवदुपासक जानते हैं (इति) इस प्रकार यह मंत्र रूप श्लोक समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—इस मंत्र में परब्रह्म नारायण की सत्ता जानने वाले प्रपन्नों का मोक्ष और परब्रह्म नारायण की सत्ता नहीं मानने वाले अज्ञानियों का संसार होता है यह स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है कि—यदि कोई मनुष्य यह समझता है कि आनन्दमय परमात्मा असत् है अर्थात् ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं है तो वह असत् हो जाता है अर्थात् स्वेच्छाचारी होकर सदाचार से भ्रष्ट हो जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त करता है। और यदि कोई मनुष्य परब्रह्म नारायण अवश्य है इस प्रकार के शास्त्रानुसार सद्गुरु के वाक्य से विश्वास पूर्वक जान लेता है तो ऐसे मनुष्य को महापुरुष लोग सन्त यानी सत्पुरुष समझते हैं। वे परब्रह्म नारायण की सत्ता जानने वाले भगवान् के निर्हेतुक दया से श्रीमन्नारायण की शरणागति करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इससे लिखा है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः । (कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १३)

परमात्मा है इस प्रकार निश्चय करके प्राप्त करने योग्य है। मूल में "इति" शब्द प्रकृत मंत्र की समाप्ति सूचित करने के लिये है। श्रीवरवर-मुनि रूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० १३) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक के आदि के प्रकृत मंत्र को उद्धृत किये हैं।

तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (पूर्वस्य) पहले बताये हुए विज्ञानमयान्त पदार्थ के आत्मा है (एषः) यही (एव) निश्चय करके (तस्य) उस आनन्द-मय परब्रह्म नारायण का भी (शारीरः) शरीर संबन्धी (आत्मा) आत्मा है।

विशेषार्थ—छठवें अनुवाक के इस दूसरे अंश में पहले के वर्णन के अनुसार आनन्दमय का अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमय को ही प्रतिपादन करके अनन्यात्मकत्व वर्णन किया गया है कि—जो पहले बताये हुए अन्नमय १, प्राणमय २, मनोमय ३, और विज्ञानमय ४ के अन्तर्यामी आनन्दमय नारायण हैं वे स्वयं ही अपने अन्तर्यामी हैं। उनका अन्तर्यामी कोई दूसरा नहीं है। इसीलिये आनन्दमय नारायण के आगे किसी दूसरे को न बताकर उस वर्णन की परम्परा को यहीं समाप्त कर दिया गया है। और भी लिखा है—

नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैषत आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

(बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रु० २३)

यह जो तेरा अन्तर्यामी अमृत परब्रह्म नारायण हैं इनसे भिन्न दूसरा देखने वाला नहीं है और सुनने वाला नहीं है तथा मनन करने वाला नहीं है और विशेष रूप से जानने वाला नहीं है ॥२३॥ भविष्यदर्चावतार रूपधारी भगवद्रामानुजाचार्य—

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० १।१।१३) के श्रीभाष्य में

"तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक के दूसरे अंश की श्रुति को उद्धृत किये हैं।

अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छति। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुते ॥

अन्वयार्थ—(अथ) आनन्दमय परमात्मा के प्रतिपादन करने के बाद (अतः) पहले कहा हुआ परब्रह्म नारायणको जानने की इच्छा के हेतु से यहां से (अनु) आगे (प्रश्नाः) प्रश्न होते हैं (उता) क्या (विद्वान्) अविप्रकृष्ट हृदय आदिक स्थान में स्थित अनवच्छिन्न परब्रह्म की उपासना करने वाला ज्ञानी पुरुष (कश्चन) कोई भी मनुष्य (प्रेत्य) मर कर (अमुम्) उस परम व्योम (लोकम्) वैकुण्ठलोक में (गच्छति) जाता है (आहो) अथवा (कश्चित्) कोई भी (विद्वान्) अविप्रकृष्ट हृदयादिस्थान में स्थित अनवच्छिन्न परब्रह्म के उपासक ज्ञानी पुरुष (प्रेत्य) मर कर (अमुम्) उस परमव्योम (लोकम्) वैकुण्ठलोक में (समश्नुते) परब्रह्म नारायण को भली भांती अनुभव करता है ॥

विशेषार्थ—आनन्दमय परब्रह्म नारायण के प्रतिपादन करने के अनन्तर अब पहले कहा हुआ परब्रह्म नारायण के बोध की इच्छा के कारण से यहां से आगे प्रश्न होता है कि—अविप्रकृष्टहृदयादिकस्थान में स्थित अनवच्छिन्न परब्रह्म की उपासना करने वाला कोई भी ज्ञानी पुरुष मर कर उस परमव्योम वैकुण्ठलोक में जाता है या नहीं जाकर यहां ही ब्रह्म को प्राप्त करलेता है। यह पहला प्रश्न है। और दूसरा प्रश्न यह है कि—अवि-कृष्टहृदयादिक स्थान में स्थित अनवच्छिन्न परब्रह्म के उपासक कोई भी ज्ञानी पुरुष मरकर उस परमव्योम वैकुण्ठलोक में परब्रह्म नारायण को भली भांति अनुभव करता है या नहीं अनुभव करके परब्रह्म के स्वरूप से एक हो जाता है। परब्रह्म हृदय में रहता है क्योंकि लिखा है—

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।

(तै० आर० प्रपा० ३ अनुवा० ११)

प्राणियों का शासक सब का आत्मा नारायण हृदय के भीतर

प्रविष्ट हैं ॥११॥ निहितं गुहायां विभ्राजते ।
(तै० आ० प्र० १० अनु० १० श्रु० २०)

हृदयरूप गुफा में स्थित जो परब्रह्म विराजमान है ॥२०॥

अन्तरात्मा सदा जनानांहृदये संनिविष्टः ।

(कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १७) (श्वेताश्व० उ० अ० ३ श्रु० १३)

सबके अन्तर्यामी परम पुरुष परमात्मा सदैव सभी मनुष्यों के हृदय में संनिविष्ट है ॥१७।१३॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः । (गी० अ० १५ श्लो० १५) मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूं ॥१५॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी० अ० १८ श्लो० ६१)

हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ॥६१॥
"उताविद्वान्" यहां पर अन्तोदात्त पद हैं इससे "उत+अविद्वान्" ऐसा पदच्छेद नहीं करना चाहिये। "अविद्वान्" ऐसा पदच्छेद करने पर -

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः ।
(पा० व्या० अ० ६ पा० २ सू० २)

इस सूत्र से आदि उदात्त हो जायेगा। इससे "उता" ऐसा पदच्छेद इस श्रुति में है "उत" इस निपात के छान्दस दीर्घ हो गया है। और आगे "विद्वान्" ऐसा अन्तोदात्त ही पद है।

सोऽकामयत बहुस्यांप्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किंच तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोकोभवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह आनन्दमय परब्रह्म नारायण (अकामयत) इच्छा किया कि (बहु) देव मनुष्यादि रूप से बहुत (स्याम्) हो जाऊँ (प्रजायेय) तदर्थ आकाशादि भूतरूप से मैं प्रकट होऊं (इति) इस प्रकार (सः) वह परब्रह्म नारायण ने (तपः) स्रष्टव्य के आलोचन रूप तप को (अतप्यत) किया (सः) वह आनन्दमय परब्रह्म नारायण (तपः) स्रष्टव्य के आलोचनरूप तप को (तप्त्वा) करके (यत्) जो (किम्) कुछ (च) भी (इदम्) यह स्थावर जङ्गम जगत् है (इदम्) इस (सर्वम्) समस्त व्यष्टि समष्टिरूप जगत् को (असृजत्) उत्पन्न किया (तत्) उस जगत् को (सृष्ट्वा) रचकर (तत्) वह परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय करके (अनुप्राविशत्) पीछे से स्वयं उसी में प्रवेश कर गया (तत्) वह परब्रह्म नारायण (अनुप्रविश्य) उस स्थावर जङ्गम जगत् में पीछे से प्रवेश करके (सत्) निर्विकार सर्वदा एक रूप रहने वाला चेतन (च) और (त्यत्) पूर्व पूर्व अवस्था त्याग करने वाला विकारास्पद अचेतन (च) भी (अभवत्) स्वयं ही हो गया (निरुक्तम्) जातिगुणाभिधायिशब्दवाच्य अचेतन (च) और (अनिरुक्तम्) जातिगुणादिक शून्य चेतन (च) तथा (निलयनम्) अचेतनवर्ग के आधारभूत चेतन (च) और (अनिलयनम्) आश्रित अचेतन (च) तथा (विज्ञानम्) अजडस्वरूप (च) और (अविज्ञानम्) जडस्वरूप (च) तथा (सत्यम्) निर्विकार होने से सत्य चेतन (च) और (अनृतम्) सर्वदा विकार होने से अनृत अचेतनवर्ग (च) भी (सत्यम्) वह अजहन्निर्विकारत्वलक्षण स्व स्वभाव वाला परब्रह्म ही सत्य (अभवत्) हो गया (यत्) जो (किम्) कुछ (च) भी (इदम्) यह स्थावर जङ्गम जगत् है (तत्) वह सब संसार (सत्यम्) सब में प्रवेश करने से सत्य यानी परब्रह्म परमात्मा ही है (इति) इस प्रकार (आचक्षते) ज्ञानी पराशरादिक ऋषि लोग कहते हैं (तत्) उस विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जाने वाला (श्लोकः) मंत्ररूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—अब पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिये ही आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है कि— वह आनन्दमय परब्रह्म नारायण नें इच्छा किया कि देव मनुष्य आदिक रूप से बहुत मैं हो जाऊँ तदर्थ आकाशादि भूत रूप से नाना प्रकार के मैं उत्पन्न हो जाऊँ इस प्रकार विचार किया। और भी लिखा है —

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय । (छां० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण नें ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ ॥३॥

स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति । (ऐत०उ०अध्या० १ खं० १ श्रु० १) वह परब्रह्म नारायण नें मैं निश्चय ही लोकों की रचना करूँ इस प्रकार विचार किया ॥१॥

स ईक्षांचक्रे । (प्रश्नो० प्रश्न० ६ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायणनें विचार किया ॥३॥ उभयविभूतिनायक भगवद्रामानुजाचार्य –

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० १।१।१) **आनन्दमयोऽभ्यासात् ।** (शा० मी० १।१।१३) **नेतरोऽनुपपत्तेः ।** (शा० मी० १।१।१७) **कामाच्च नानुमानापेक्षा ।** (शा० मी० १।१।१६) **आकाशस्तल्लिङ्गात् ।** (शा० मी० १।१।२३) **समाकर्षात् ।** (शा० मी० १।४।१५) **अभिध्योपदेशाच्च ।** (शा० मी० १।४।२४) **परिणामात् ।** (शा० मी० १।४।२७) **पत्युरसामञ्जस्यात् ।** (शा० मी० २।२।३५) **बुद्ध्यर्थः पादवत् ।** (शा० मी० ३।२।३२) **आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।** (शा० मी० ३।३।१६) **अन्वयादितिचेत्स्यादवधारणात् ।** (शा० मी० ३।३।१७) इन सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक के **"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय"** इस खण्ड को उद्धृत किहे हैं। वह आनन्दमय परब्रह्म नारायण नें प्राचीन जगत् के आकार का पर्यालोचनरूप तप को किया। क्योंकि लिखा है –

यस्य ज्ञानमयं तपः । (मुण्ड को० मु० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण के ज्ञानमय तप है ॥१०॥ मेर्षाद्रसंभूत भगवद्रामानुजाचार्य

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० १।१।१)

परिणामात् । (शा० मी० १।४।२७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक के **"सतपोऽतप्यत"** इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। वह आनन्दमय परब्रह्म नारायण नें सृष्टव्य

वस्तु के पर्यालोचनरूप तप को करके। कान्तिमती सुकुमार कुमार भगवद्रामानुजाचार्य। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।** (शा० मी० १।१।१)

परिणामात् । (शा० मी० १।४।२७) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवां अनुवाक का "स तपस्तप्त्वा" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। जो कुछ भी यह स्थावरजङ्गम जगत् है इस समस्त जगत् को पहले के समान ही नारायण नें बनाया। क्योंकि लिखा है कि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः ॥

(तै० आर० प्रपा० १० अनु० १ श्रु० ४६)

परब्रह्म नारायणनें जैसे पहले सूर्य, चन्द्र, द्यु लोक, भूलोक तथा अन्तरिक्षलोक और स्वर्गलोक को बनाया था वैसे ही फिरभी सबको बनाया ॥४६॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥

(विष्णुपु० अंश० १ अध्या० ५ श्लो० ६५)

जैसा प्रलय काल में पहले ऋतुओं में नाना प्रकार के ऋतुओं के चिह्न देखे जाते थे उन उन चिह्नों से युक्त ही सब पदार्थ युग के आदि में वैसे ही देखे जाते हैं ॥६५॥ केशवयज्वातनय भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० १।१।१)

आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० १।१।१३)

कामाच्चनानुमानापेक्षा । (शा० मी० १।१।१६)

समाकर्षात् । (शा० मी० १।४।१५) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक के—

"इदं सर्वमसृजत् यदिदं किं च" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। वह परब्रह्म नारायण ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त चराचर जगत् को बनाकर पीछे से स्वयं ही उसी में प्रवेश कर गया। इस श्रुति में उस परब्रह्म

का व्यापक होने से "तत्" यह नाम है। क्योंकि लिखा है—

अतप्ततनूर्नतदामो अश्नुते। (ऋग्वे० अष्ट० ७ अध्या० ३ वर्ग० ८ मण्डल ६ अनु० ४ सूक्त० ८४ मं० १) चक्र से अदग्ध बाहुमूल अपरिपक्वजन उस परब्रह्म नारायण को नहीं प्राप्त करता है ॥१॥ यह श्रुति सामवे० पूर्वार्चिक० प्रपाठ० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२ में और कृष्णयजुर्वे० तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १ अनुवा० ११ मं० २ में भी है।

तदेजति। (ईशो० श्रु० ५) वह परब्रह्म नारायण कांपता है ॥५॥ यह श्रुति शुक्लयजुर्वे० अ० ४० मं० ५ में भी है।

तद्धतद्वनं नाम। (केनो० खं० ४ श्रु० ६) वह परब्रह्म नारायण प्रसिद्ध है कि व्यापक होने से "तत्" और भजनीय होने से "वन" नाम वाला है ॥६॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

(गी० अ० १७ श्लो० २३)

ओम्, तत्, सत् यह तीन प्रकारके ब्रह्म का नाम कहा गया है ॥२३॥

किं यत्तत्पदमनुत्तमम्। (विष्णुसहस्रना० श्लो० ६१)

किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, अनुत्तम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६१॥ और अनुप्रवेश के विषय में लिखा है—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।

(छान्दो० उ० अ० ६ खं० ३ श्रु० २)

इस जीवात्मस्वरूप से सब में अनुप्रवेश कर नाम और रूप का व्याकरण करूँ ॥२॥ श्रीभूतपुरीश भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१)

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० १।१।१३)

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्। (शा० मी० अ० १ पा० १ सू० ३२)

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।

(शा० मी० अ० १ पा० २ सू० १६)

समाकर्षात्। (शा०मी० १।४।१५) परिणामात्। (शा० मी० १।४।२७) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। (शा० मी० २।१।१५) तस्य च नित्यत्वात्। (शा० मी० २।४।१४) इन आठों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवां अनुवाक का "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। वह परब्रह्म नारायण उस स्थावर जङ्गम जगत् में पीछे से प्रवेश करके सत् यानी निर्विकार सर्वदा एक रूप रहने वाला चेतन और त्यत् यानी पूर्व पूर्व अवस्थात्याग करने वाला विकारास्पद अचेतन भी स्वयं हो गया। अर्थात् परब्रह्म ही चेतनाचेतन नाम रूप भाक् होता है हारीत वंश तिलक भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१) आनन्दमयोऽभ्यासात्। (शा० मी० १।१।१३) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्। (शा० मी० १।१।३२) अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्। (शा० मी० १।२।१९) समाकर्षात्। (शा० मी० १।४।१५) परिणामात्। (शा० मी० १।४।२७) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। (शा० मी० २।१।१५) तस्य च नित्यत्वात्। (शा० मी० २।४।१४) इन आठों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवां अनुवाक का 'तदनुप्रविश्यसच्च त्यच्चाभवत्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। निरुक्त यानी जातिगुणाभिधायि शब्दवाच्य अचेतन और अनिरुक्त यानी जाति गुणाभिधायि शब्दवाच्य अचेतन और अनिरुक्त यानी जाति गुणादिक शून्य चेतन और निलयन यानी अचेतन वर्ग के आधारभूतचेतन। क्योंकि लिखा है—

एताभूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः।

(कौषीतकिब्रा० उ० अध्या० ३ श्रु० ९)

ये अचेतन भूतमात्र चेतन प्रज्ञामात्रा में अर्पित हैं ॥९॥ तथा अनिलयन यानी आश्रित अचेतन और विज्ञान यानी [illegible] तथा

अविज्ञान यानी जडस्वरूप और सत्य यानी निर्विकार होने से सर्वदा सत्य चेतन तथा अनृत यानी सर्वदा विकार होने से अनृत अचेतनवर्ग भी वह अजह निर्विकारत्वलक्षण स्व स्वभाववाला परब्रह्मनारायण ही सत्य होगया। अर्थात् सब चर अचर के रूप में वह एक परब्रह्म नारायण ही बहुत से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गया। जो कुछ यह स्थावर जङ्गम जगत् है उसमें परब्रह्म नारायण प्रवेश किया है इस से सब ज्ञानी पराशरादिक-ऋषिगण इस चराचर संसार को सत्य परब्रह्म नारायण ही कहते हैं। अर्थात् यह जगत् सब का सब सत्य स्वरूप नारायण ही है। क्योंकि लिखा है—

हरेर्नकिञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः।

(विष्णुपु० अंश० २ अध्या० १२)

परब्रह्म नारायण से कुछ भी व्यतिरिक्त नहीं है समस्त चन्द्र, सूर्य तारा आदिक ज्योतियां विष्णु भगवान् ही हैं और चौदहो भुवन भी श्री विष्णु भगवान् ही हैं ॥१२॥ उस इस ब्राह्मणोक्त विषय में भी यह आगे सातवां अनुवाक में कहा जाने वाला मंत्र रूप श्लोक होता है। यादव प्रकाश यति के छात्र भगवद्रामानुजाचार्य—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्। (शा० मी० १।१।३२) परिणामात्। (शा० मी० १।४।२७) इन सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के छठवें अनुवाक का—

निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्।

इन खण्डों को उद्धृत किये हैं। और—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्। (शा० मी० २।१।४) के श्रीभाष्य में "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। तथा—समाकर्षात्। (शा० मी० १।४।१५) के श्रीभाष्य में "तदप्येष श्लोको भवति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मानन्दवल्ली के छठवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

।। अथ सप्तमोऽनुवाकः ।।

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।

अन्वयार्थ—(अग्रे) सृष्टि से पहले (इदम्) यह स्थूल चेतनाचेतन शरीरक ब्रह्म (असत्) अनभिव्यक्त नाम रूप वाला ब्रह्म (वै) निश्चय (आसीत्) था (ततः) उस अनभिव्यक्त नाम रूप वाला ब्रह्म से (वै) ही (सत्) अभिव्यक्त नाम रूप वाला यह जगत् (अजायत) उत्पन्न हुआ है (तत्) वह परब्रह्म नारायण (आत्मानम्) अपने को ही उपादान स्वीकार करके (स्वयम्) आपही स्वयं निमित्त हो (अकुरुत) इस रूप में प्रकट किया है (तस्मात्) इसीलिये (तत्) वह परब्रह्म (सुकृतम्) विना क्लेश के अपने आप सुन्दर कार्य किया है (उच्यते) इससे सुकृत कहा जाता है (इति) इस प्रकार यह मंत्र रूप श्लोक है ।

विशेषार्थ—सृष्टि से पहले यह स्थूल चेतनाचेतन शरीर वाला परब्रह्म नारायण अनभिव्यक्त नाम रूप वाला ही था । क्योंकि लिखा है—

असदेवेदमग्र आसीत् । (छा० उ० अ० ३ खं० १९ श्रु० १)

सृष्टि से पहले यह स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म नाम रूप के विभाग से रहित ही था ।।१।। उस अनभिव्यक्त नाम रूप वाला परब्रह्म नारायण से ही अभिव्यक्त नाम रूप वाला यह स्थावर जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ है । वह परब्रह्म नारायण अपने को उपादान स्वीकार करके आपही स्वयं निमित्त हो अपने को स्वयं ही इस जडचेतनात्मक जगत् के रूप में बयाया है । जिस कारण से वह परब्रह्म नारायण स्वयं ही अपना कार्य है इसीलिये वह सुकृत कहा जाता है । अर्थात् वह परमात्मा विना क्लेश के अपने आप अपने को सुन्दर बनाया है अतः अक्लिष्टकार्यब्रह्म कहा जाता है । क्योंकि लिखा है—

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मेतत् ।

(बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रु० ११)

अरे मैत्रेयि इस महान् परब्रह्म नारायण के यह सब निःश्वास हैं ।।११।।

अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ।

(शतपथ० प्रपाठ० १४ ब्रा० ४ कं० १०)

इस परब्रह्म नारायण के यह सब श्वास भूत हैं ॥१०॥ मूल में "इति" शब्द प्रकृत मंत्र की समाप्ति सूचित करने के लिये है। प्रकृत श्रुति में अभिन्न निमित्तोपादान कारण परब्रह्म नारायण को प्रतिपादन किया गया है। श्रीत्रिदण्डधारी भगवद्रामानुजाचार्य –

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः। (शा० मी० १।४।१४)

समाकर्षात्। (शा० मी० १।४।१५) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के सातवें अनुवाक के –

असद्वा इदमग्र आसीत्" । इस खण्ड को उधृत किये है। और–

पत्युरसामञ्जस्यात्। (शा० मी० २।२।३५) के श्रीभाष्य में।

"तदात्मानं स्वयमकुरुत" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं।

यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

अन्वयार्थ—(वै) निश्चय ही (यत्) जो (तत्) वह (सुकृतम्) बिनाक्लेश के अपने ही सुन्दर अपने को बनाया है इससे परमात्मा सुकृत है (सः) वह सुकृत शब्द से निर्दिष्ट नारायण (वै) निश्चय ही (रसः) आनन्द है (हि) क्योंकि (अयम्) यह जीवात्मा (रसम्) आनन्द को (लब्ध्वा) पाकर (एव) ही (आनन्दी) आनन्दवाला (भवति) होता है (यत्) यदि (एषः) यह (आकाशः) आकाश की भांति व्यापक परब्रह्म नारायण (आनन्दः) अपरिच्छिन्न आनन्दरस (न) नहीं (स्यात्) होता (हि) तो (कः) कौन पुरुष (एव) निश्चय करके (अन्यात्) जीवित रह सकता या सांसारिक सुख को प्राप्त कर सकता और (कः) कौन पुरुष (प्राण्यात्) प्राणों की चेष्टा कर सकता या आपवर्गिक सुख को प्राप्त कर सकता (हि) इस कारण से (एषः) यह परब्रह्म नारायण (एव) निश्चय ही (आनन्दयाति) सबको आनन्द कराता है ॥

विशेषार्थ—ये जो ऊपर के वर्णन में "सुकृत" शब्द से कहे गये हैं वे ही परब्रह्म नारायण सचमुच रसस्वरूप आनन्दमय है। क्योंकि सनकादि

काल से जन्म मृत्युरूप घोर दुःख का अनुभव करनेवाला जीवात्मा इस रसस्वरूप आनन्दमय परब्रह्म नारायण को पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। यदि यह आकश की भांति व्यापक परब्रह्म नारायण अपरिच्छिन्न आनन्द-रस नहीं होता तो निश्चय ही कौन पुरुष जीवित रह सकता या सांसारिक सुख को प्राप्त कर सकता या कौन पुरुष प्राणों की चेष्टा कर सकता अथवा आपवर्गिक सुख को प्राप्त कर सकता। अतः मनुष्य को दृढ़ता पूर्वक उसी प्रचुर आनन्दघन को प्राप्य या उपास्य समझना चाहिये। और निःसन्देह ये परब्रह्म नारायण ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं। दूसरा कोई भी आनन्द नहीं दे सकता है। श्रीवरदराज के जलदाता भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० १।१।१) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (शा० मी० १।१।२०) सम्पद्याविर्भावस्वेन शब्दात् (शा० मी० ४।४।१) विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह शा० मी० ४।४।१९)इन चारो सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद" की ब्रह्मवल्ली के सातवें अनुवाकके— "रसोवै सः रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च (शा० मी० १।१।१५) प्रसिद्धेश्च (शा० मी० १।३।१६) अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् (शा० मी० ३।३।३५) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में—

"कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। तथा—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (शा० मी० १।१।२०)

आकाशस्तल्लिङ्गात् (शा० मी० १।१।२३) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में—

"यदेष आकाश आनन्दः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च (शा० मी० १।१।१५) वाक्यान्वयात् (शा० मी० १।४।१९) परिणामात् (शा० मी० १।४।२७) श्रुतत्वाच्च (शा० मी० १।१।११) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने (शा० मी० ४।४ २०) इन सूत्रों के

श्रीभाष्यमें "तैत्तिरीयोपनिषद" की ब्रह्मवल्लीके सातवें अनुवाक का — "एष ह्येवानन्दयाति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं।

यदाह्येवैषएतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथसोऽभयंगतोभवति ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (यदा) जब (एव) ही (एषः) यह उपासक जीवात्मा (एतस्मिन्) इस (अदृश्ये) प्राकृतचक्षु आदि इन्द्रियों के ग्रहण में नहीं आने वाले (अनात्म्ये) व्याप्य शरीर रहित (अनिरुक्ते) जातिगुण आदि के वाचिदेवादिक शब्दों से बतलाने में न आने वाले और (अनिलयने) आधारशून्य परब्रह्म नारायण में (अभयम्) अभय के साधनभूत (प्रतिष्ठाम्) निरन्तर स्मृतिलक्षणा निष्ठा को (विन्दते) जो भक्त लाभ करता है (अथ) अनन्तर (सः) वह भगवदुपासक (अभयम्) निर्भयपद को (गतः) प्राप्त (भवति) होता है—

विशेषार्थ—निश्चय जब ही यह भगवदुपासकजीवात्मा इस अदृश्य यानी नेत्र आदि इन्द्रियों के ग्रहण में नहीं आने वाले। क्योंकि लिखा है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति। (केनो० खं० १ श्रु० ३)

तिस परब्रह्म के विषय में नेत्र आदिक सब ज्ञानेन्द्रियां नहीं पहुंच सकती हैं। ॥३॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति।

(केनो० खं० १ श्रु० ६॥)

जिस परब्रह्म नारायण को कोई भी प्राकृत नेत्र के द्वारा नहीं देख सकता है बल्कि जिस नारायणसे प्रेरित नेत्र अपमें विषयों को देखते हैं।६। इस श्रुति में "अदृश्य" शब्द से अचेतन की व्यावृत्ति होती है। और अनात्म्य यानी व्यप्य शरीर रहित। क्योंकि लिखा है— अकायम्। ईशो० श्रु० ८। कर्मकृत हेयशरीर रहित। "अनात्म्य" शब्द से बद्धजीव की व्यावृत्ति होती है। और अनिरुक्त यानी जाति गुण आदिक के वाचि देवादिक शब्दों से बतलाने में नहीं आने वाले। क्योंकि लिखा है —

न वाग्गच्छति। (के० उ० खं० १ श्रु० ३) तिस परब्रह्म के विषय में वाणी आदिक समस्त कर्मेन्द्रियां नहीं पहुंच सकती हैं ॥३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । (के० उ० खं० १ श्रु० ४॥)
जो पर ब्रह्म नारायण वाणी से साकल्यरूप से नहीं बतलाया गया है बल्कि जिस नारायण करके प्रेरित वाणी पुरुषों से उच्चारण की जाती है ॥४॥ "अनिरुक्त" शब्द से मुक्त जीव की व्यावृत्ति होती है। और अनिलयन यानी आधारशून्य दूसरे का आश्रय नहीं लेने वाले। "अनिलयन" शब्द से नित्य-मुक्त की व्यावृत्ति होती है। पूर्वोक्त परब्रह्म नारायण में अभय के साधनभूत निरन्तरस्मृति लक्षणा निष्ठा को जो भक्त लाभ करता है। तो वह उपासक तुरन्त ही निर्भय पद को प्राप्त हो जाता है—सदा के लिये भय से रहित हो जाता है। श्रीवेङ्कटेश के शंखचक्रप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० १।१।१) पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययौ । [शा० मी० ३।२।४] इन दोनों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मानन्दवल्ली के सातवां अनुवाक के प्रकृतश्रुति के समस्त खण्ड को उद्धृत किये हैं ॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्यभयं भवति । तत्त्वेवभयं विदुषोऽमन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय करके (यदा) जब (एव) ही (एषः) यह भगवदुपासक (एतस्मिन्) इस परब्रह्म नारायण में (अन्तरम्) ध्यान के विच्छेद (अरम्) अल्प (उत्) भी (कुरुते) करता है (अथ) अनन्तर (तस्य) उस उपासक को (भयम्) भय (भवति) होता है (तु) तथा (विदुषः) परब्रह्म नारायण की उपासना से निष्ठ विद्वान् को (अमन्वानस्य) श्रीमन्नारायण की उपासना से अतिरिक्त विषयों की स्पृहासे निरन्तर मनन नहीं करने वालों को (तत्) वह अमनन (एव) निश्चय ही (भयम्) भय होता है (तत्) उस ब्राह्मणोक्त विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहा हुआ (श्लोकः) मंत्र-रूप श्लोक (भवति) होता है ॥१॥

विशेषार्थ—परब्रह्म नारायण के निरन्तरस्मृति लक्षणा निष्ठाके

विच्छेद होने में अनर्थ को श्रुति प्रतिपादन करती है कि—निश्चय यही जब भगवदुपासक जन परब्रह्म नारायण का निरन्तर स्मरण नहीं करता-उन्हें थोड़ी देर के लिये भी भूल जाता है। अर्थात् भगवद्भक्तका ध्यान में विच्छेद अल्प भी यदि होता है तो उस उपासक को भय होता है। श्रीमन्नारायण की उपासना से अतिरिक्त विषयों की स्पृहा से निरन्तर मनन नहीं करने वाले परब्रह्म नारायण की उपासना में निष्ठ ज्ञानी पुरुष को उस परमात्मा को मनन नहीं करना ही निश्चय भय होता है। क्योंकि लिखा है-

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सा च विक्रिया ॥

(गरुडपु० पूर्व० अध्या० २२२ श्लो० २२) जिस मुहूर्त में या क्षण में वासुदेव भगवान् का चिन्तवन नहीं होता है तो वही हानि है और वही बड़ा छिद्र है तथा वही भ्रान्ति है और वही विक्रिया है ॥२२॥

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः ।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवास वैशसम् ॥

अग्नि की ज्वाला रूप पिञ्जरा के भीतर रहना श्रेष्ठ है परन्तु नारायण की चिन्ता से विमुख लोगों के सहवास रूप आरी से चिराना श्रेष्ठ नहीं है। श्रीसम्पत्कुमार के प्रतिष्ठाता भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१)

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्ध विपर्ययौ। (शा० मी० ३।२।४) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के सातवां अनुवाक के "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और उस पूर्वोक्त ब्राह्मण का विषय में भी आगे अष्टम अनुवाक में कहे जाने वाला मंत्र रूप श्लोक होता है। श्री रङ्गेश के पोषक भगवद्रामानुजाचार्य— "समाकर्षात्" (शा० मी० १।४।१५) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली, के सातवां अनुवाक का "तदप्येष श्लोको भवति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली का सातवां अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।

अन्वयार्थ—(वातः) वायु (अस्मात्) इस परब्रह्म नारायण के (भीषा) भय से (पवते) चलता है (सूर्यः) सूर्य (भीषा) नारायण के भय से (उदेति) उदय होता है (अग्निः) अग्नि (अस्मात्) इस परब्रह्म नारायण के (भीषा) भय से जलता है (च) और (इन्द्रः) इन्द्र अमरावती पुरी में राज्यशासन करता है (च) और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः) मृत्यु (धावति) अपने काम में दौड़ता है (इति) इस प्रकार यह मंत्ररूप श्लोक है।

विशेषार्थ—इस परब्रह्म नारायण के भय से वायुदेव नियमानुसार चलता है। और इन्हीं के भय से सूर्यदेव ठीक समय पर उदय होता है। तथा इन्हीं के डर से अग्निदेव जलाता है। और परमात्मा के भय से देव-राज इन्द्र नियमानुसार जल वरसाता है। और नारायण के भय से पांचवा मृत्युदेव अपने काम में दौड़ता है। मूल में "इति" शब्द प्रकृत मंत्र की समाप्ति सूचित करने के लिये है। इसी भाव को प्रतिपादन करने वाली निम्नलिखित भी श्रुति है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

(कठो० अ० २ व० ३ श्रु० ३)

इस परब्रह्म परमात्मा के भय से अग्निदेव जलाता है। तथा इन्हीं के भय से सूर्यदेव तप रहा है। और परमात्मा के भय से इन्द्रदेव नियमा-नुसार जल बरसाता है। तथा इन्हीं के डर से वायुदेव चलता है। और परमात्मा के भय से पांचवा मृत्युदेव अपने काम में दौड़ता है ॥३॥ जिस प्रकार राजा के भय से सेवक लोग अपने अपने कामों में लगे रहते हैं उसी प्रकार वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य, प्रमुख देवप्रवर इस परब्रह्म के भय से अपने अपने कर्म में जागरूक प्रवृत्त होते हैं। ये वायु आदिक देवता हैं। क्योंकि लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता......इन्द्रो देवता ।

(यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, इन्द्रदेव हैं ॥२०॥ कुरङ्गनगर में भगवान् के पुण्ड्र संस्कारकर्त्ता भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१) कम्पनात्। (शा०मी० १।३।४०) समाकर्षात्। (शा० मी० १।४।१५) पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ। (शा० मी० ३।२।४) दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते। (शा० मी० ३।२।१७) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने। (शा० मी० ४।४।२०) इन छवों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक के आदि का प्रकृत मंत्र को उद्धृत किये हैं।

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णास्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥१॥

अन्वयार्थ—(सा) वह आगे कहा जानेवाला (एषा) यह (आनन्दस्य) आनन्द विषय के (मीमांसा) विचार (भवति) आरम्भ होता है जो (युवा) कोई नवयुवक (स्यात्) हो वह भी ऐसा वैसा नहीं (साधुयुवा) श्रेष्ठ आचरणों वाला नवयुवक हो और (अध्यायकः) यथाविधि संप्रदाय के अनुसार स्वर वर्ण विभ्रंश रहित वेदों का अध्ययन कर चुका हो और (आशिष्ठः) शासन में अत्यन्त कुशल हो अथवा आशुतर क्रिया वाला हो या अशनक्षम रोग रहित हो तथा (दृढ़िष्ठः) उसके संपूर्ण अंग और इन्द्रियां सर्वथा दृढ हों या अव्यवस्थित स्वभाव वाला न हो तथा (बलिष्ठः) वह सब प्रकार से शारीरक और मानस आदिक बल से युक्त हो और (इयम्) यह (वित्तस्य) धन गुण विभूति से (पूर्णा) परिपूर्ण भरी हुई (सर्वा) सबकी सब (पृथिवी) भूमि (तस्य) उसे ही (स्यात्) प्राप्त हो जाय तो (सः) वह (मानुषः) मनुष्य के (एकः) एक (आनन्दः) आनंद है और (ते) वे (ये) जो (शतम्) एक सौ (मानुषाः) मनुष्य संबन्धी (आनन्दाः) आनन्द हैं ॥१॥

विशेषार्थ—अब प्राप्य आनन्दमय परब्रह्म नारायण के आनन्द प्राचुर्य को दिखलाने के लिये श्रुति कहती है कि—वह वक्ष्यमाण यह

आनन्द विषयक मीमांसा की जाती है। श्रीवृषाद्रीश के पत्नी प्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य – **आनन्दमयोऽभ्यासात्** । (शा० मी० १।१।१३) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक की प्रथम श्रुति के **"सैषानन्दस्य मीमांसा भवति"** इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। कोई एक मनुष्य नवयुवक हो वह भी ऐसा वैसा साधारण युवक नहीं – सदाचारी अच्छे स्वभाव वाला अच्छे कुल में उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष हो और यथा विधि सत्सम्प्रदाय के अनुसार स्वर वर्ण विभ्रंश रहित वेदों का अध्ययन कर चुका हो तथा शासन में अत्यन्त कुशल हो अथवा आशुतर क्रिया वाला हो या अशनक्षम रोग रहित हो. तथा उसके सब अंग और इन्द्रियां सर्वथा दृढ हों और वह सब प्रकार से शारीरक तथा मानस आदिक बल से संयुक्त हो और फिर उपभोग के साधन से तथा लौकिक और पारलौकिक कर्म के साधन से संपन्न यह संपूर्ण पृथिवी उसी के अधिकार में हो जाय तो वह मनुष्य का एक बड़े से बड़ा सुख है। वह मानव का एक सबसे प्रकृष्ट आनन्द है। और ऐसे जो मानुष सौ आनन्द हैं। इस श्रुति का आगे की श्रुति के साथ अन्वय है। यादव प्रकाशयति के पंचसंस्कार विधाता भगवद्रामानुजाचार्य – **"विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात्"** (शा० मी० १।१।१४) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक की प्रथम श्रुति के **"स एको मानुष आनन्दः"** इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और – **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** । (शा० मी० १।१।१) के श्रीभाष्य में **"ते ये शतम्"** इस खण्ड को उद्धृत किये हैं ॥१॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः ।

स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥२॥

अन्वयार्थः–(सः) वह सौ मानव आनन्द (मनुष्यगन्धर्वाणाम्) मनुष्यगन्धर्वों के (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द होता है (अकामहतस्य) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदवेत्ता पुरुषका (च) भी वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (मनुष्यगन्धर्वाणाम्) मनुष्य गन्धर्वों के (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (देवगन्धर्वाणाम्) देव जातीय गन्धर्वों के (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (अकामहतस्य) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदज्ञ ज्ञानी पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (देवगन्धर्वाणाम्) देव जातीय गन्धर्वों के (शतम्) एक सौ (आनन्दः) आनन्द हैं (सः) वह (चिरलोकलोकानाम्) चिरस्थायी पितृलोक में रहने वाले (पितॄणाम्) पितरों का (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (अकामहतस्य) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदवेत्ता पुरुष का भी वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (चिरलोकलोकानाम्) चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले (पितॄणाम्) पितरों के (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (आजानजानाम्) स्मार्तकर्म-विशेष से देवलोक में उत्पन्न होने वाले आजानजनामक (देवानाम्) देवताओं का (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है ॥२॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त जो एक सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द है। जो मनुष्ययोनि में जन्म लेकर उत्तम कर्म विशेष से या विद्या विशेष से अन्तर्धानादि की शक्ति से संपन्न होकर गन्धर्वत्व को प्राप्त होते हैं वे "मनुष्य गन्धर्व" कहलाते हैं। जो पहले बताये हुए मानव विषय भोगों की और इस मनुष्य गन्धर्व विषय भोगों की कामना से दूषित नहीं है अर्थात् इन सब से सर्वथा विरक्त है उस श्रोत्रिय–वेदज्ञ पुरुष को तो वह आनन्द स्वाभाविक ही प्राप्त है। श्रोत्रिय के लक्षण—श्रोत्रियान् कात्यायनश्राद्धक० कण्डिका० १ सूत्र० ७। के भाष्य में लिखा है—

एकशाखां सकल्पाञ्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियोनाम धर्मवित् (देवल०)

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

व्याकरण १, शिक्षा २, कल्प ३, छन्द ४, निरुक्त ५, और ज्योतिष ६, इन छः अङ्गों के साथ केवल एक अपनी वेद की शाखा को पढ़कर जो वेदपाठी धर्म वेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५, प्रतिग्रह ६, इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी पत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयन आदिक संस्कार भया हो और विद्या अध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं। और वे पहले बताये हुए जो मनुष्य गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं वह देवजातीय गन्धर्वों के एक आनन्द है। अन्तरिक्षलोक में रहनेवाले देवयोनि में सृष्टि के आरम्भ से जो गन्धर्व उत्पन्न हुए हैं उन्हीं को देव-गन्धर्व कहते हैं। गन्धर्व के विषय में लिखा है—

गन्धर्वाणां देवगायकानाम् रामानुज भाष्य० गी० अ० १० श्लो० २६) गन्धर्वों में यानी देवगायकों में ॥२६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीतातमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् सुधन्वाङ्गिरस इति (बृ० ह० उ० अ० ३ ब्रा० ३ श्रु० १)

लाह्यायनि भुज्युने याज्ञवल्क्य से कहा कि—हे याज्ञवल्क्य हम व्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचरते थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्जल के घर पहुँचे उसकी पुत्री गन्धर्व से गृहीत थी हमने उससे पूछा तू कौन है वह बोला मैं आङ्गिरस सुधन्वा हूँ ॥१॥

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् । (मनु० अ० १ श्लो० ३७)

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, गरुड़ और पितृगणों को भी अलग अलग उत्पन्न किया ॥३७॥

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म वलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् ।

(सुश्रुतसूत्रस्थान० ११)

यह भूतविद्या आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में से चौथी है इससे देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच और नाग आदि ग्रहों करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को शान्ति के लिये शान्ति कर्म बलि देना आदिक कर्मों को भूतविद्या कहते हैं ॥११॥ इन प्रमाणों से स्पष्ट यह सिद्ध होता है कि सबसे पृथक् एक गन्धर्वयोनि है। जो देवगन्धर्व के आनन्द की कामना से रहित है उस श्रोत्रिय—वेदज्ञ पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है। और वे पहले बताये हुए जो देव जातीय गन्धर्वों के एक सौ आनन्द हैं वही चिरस्थायी पितृलोक में रहने वाले पितरों का एक आनन्द है। जिन पितृगण का चिरस्थायी लोक है वे चिरलोकलोक कहे जाते हैं। पितर मनुष्य से अलग हैं। क्योंकि लिखा है—

अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तान ब्रवीन्मासि मासिवोऽशनं स्वधा वो मनोजवश्चन्द्रमा वो ज्योतिः (शतपथब्रा० २।४।२।२) पितर अपसव्य हो बांई जांघ झुकाकर बैठे प्रजापति ने कहा महीने महीने यज्ञ तुम्हारा स्वधा युक्त भोजन का अन्न मन की समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगी ॥२॥ तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः (शतप० २।३।४।२।१) मनुष्यों से पितर अन्तर्हित रहते हैं ॥१॥

तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते (अथर्व० १८।२।४८)

सबसे ऊपर अन्तरिक्षका तीसरा भाग सूर्यादि के प्रखर प्रकाश वाला होने से प्रद्यौ कहाता है यहां पितरों का लोक है वहां ही पितर लोग रहते हैं ॥४८॥ जो चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितरों के आनन्द की कामना से रहित है उस श्रोत्रिय—वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए जो चिरस्थायी लोकों में रहनेवाले दिव्य पितरों के एक सौ आनन्द हैं वही स्मार्तकर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होनेवाले आजानज नामक देवताओं का एक आनन्द है। जो कि स्मार्त कर्म विशेष के कारण देवस्थान में उत्पन्न हुए हैं वे देव

आजानज कहे जाते हैं। देवगण मनुष्य से अलग हैं। क्योंकि लिखा है—

देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तान ब्रवीद्यज्ञो वोन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः। (शतप० २।४।२।१) देवता यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जांघ झुका कर बैठे प्रजापति ने कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न, अमृत तेज, और सूर्य ज्योति होगी ॥१॥

पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्। (शतप० २।४।२।८) पूर्वाह्ण देवताओं का तथा दुपहर मनुष्यों का और तीसरा पहर पितरों के भोजन का है ॥२८।२॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥३॥

अन्वयार्थ—(अकामहतस्य) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदवेत्ता पुरुष का (च) भी वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (आजानजानाम्) स्मार्त कर्मविशेष से देवलोक में उत्पन्न होने वाले अजानज नामक (देवानाम्) देवताओं का (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (कर्मदेवानाम्) अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्म देव नामक (देवानाम्) देवताओं के (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (ये) जो (कर्मणा) वेदोक्त अग्निहोत्रादिक कर्मों से (देवान्) देवताओं को (अपि) भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (च) और (अकामहतस्य) विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) श्रोत्रियवेदवेत्ता पुरुष का तो वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (कर्मदेवानाम्) अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव नामक (देवानाम्) देवताओं के

(शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (देवानाम्) यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले वसु रुद्र आदिक देवताओं के (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (अकामहतस्य) विषय भोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) श्रोत्रिय वेदवेत्ता पुरुष का तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (देवानाम्) वसुरुद्रादिक देवताओं के (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (इन्द्रस्य) देवराज इन्द्र के (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है ॥३॥

विशेषार्थ—आजानज देवताओं के आनन्द की कामना से रहित जो है उस श्रोत्रिय—वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वाभाविक प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए जो स्मार्त कर्म विशेष से देवलोक में उत्पन्न होने वाले आजानज नामक देवताओं का एक सौ आनन्द हैं वही अग्निहोत्रादिक वैदिक कर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव नामक देवताओं के एक आनन्द है। जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म से अग्नि आदिक के सायुज्य को प्राप्त हुए हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं। वेद में लिखा है—

यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् । (ब्राह्म०)

जब तक जियें तब तक अग्निहोत्र करे। कर्म के विषय में लिखा है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म तत्त्सात्त्विकमुच्यते ॥

(गी० अ० १८ श्लो० २३)

जो शास्त्र नियत कर्म कर्तापन के संबन्ध से रहित बिना राग द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है वह कर्म सात्त्विक कहलाता है ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः । क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ (गी० १८।२४)

परन्तु जो कर्म फलाकांक्षी पुरुष के द्वारा अहङ्कार के साथ और बहुत प्रयास से किया जाता है वह राजस कहलाता है ॥२४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ (गी० १८।२५)

अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष को न देखकर जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामस कहलाता है ॥२५॥ जो वेदोक्त कर्मों द्वारा मनुष्य से देवयोनि को प्राप्त होते हैं। और जो कर्म देवों के विषय भोगों की कामना से रहित है उस वेदवेत्ता पुरुष को तो वह आनन्द स्वाभाविक प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए जो अग्निहोत्रादिक वैदिक कर्म से अग्नि इन्द्र आदिक के सायुज्य प्राप्त हुए कर्मदेव नामक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वही यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले वसु रुद्र आदिक देवताओं के एक आनन्द है। हविर्भाग लेने वाले देवताओं के विषय में लिखा है—

वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवताः। (यजु० अ०१४ मं०२०)

आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव हैं ॥२०॥

त्रयो देवा एकादशः त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः। (यजु०अ० २०मं० ११)

श्रेष्ठ धनवाले ब्रह्मादिक तीनदेव ग्यारह रुद्रदेव तैंतीसदेवहैं ।११। जो तैंतीस देवगण यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले हैं वे ही यहां देव शब्द से कहे गये हैं। और जो वसुरुद्र आदिक देवों के आनन्द की कामना से रहित है उस वेद के रहस्य को समझने वाले विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है और वे पहले कहे हुए जो यज्ञ में हविर्भाग लेने वाले वसुरुद्रादिक देवताओं के एक सौ आनन्द हैं वही देवराज इन्द्र के एक आनन्द है। इन्द्र के विषय में लिखा है—

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान नवतीर्नव ।
(सामवे० प्रपा० २ अ० २ खं० ७ मं० ५)

दूसरों से प्रतिकूल शब्द रहित इन्द्रदेव अथर्वण दधीच की पार्श्व-शिरः सम्बन्धीहड्डियों से आठ सौ दश वृत्र असुरों को मारा ॥५॥

अपाम्फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजयः स्पृधः ।
(साम० छन्दआर्चिक० अ० २ खं० १० मं० ८)

हे इन्द्रदेव जलों के फेन से नमुचि असुर का शिर को तुम नें शरीर से पृथक् किया और सब को स्पर्धा करती हुई असुर सेनाको जीता ॥८॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्या न्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श।
स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ (केनो० खं० ४ श्रु० ३)

जिस कारण से वह इन्द्र इस परब्रह्म नारायण को अत्यन्त समीप में स्थित श्रीदेवी से सुनकर मन के द्वारा सब से पहले स्पर्श किया और निश्चय करके वह इन्द्रदेव इस दिव्य यक्ष को सब देवताओंसे पहले परब्रह्म नारायण हैं ऐसा भली भांति जानता हुआ तिस कारण से इन्द्रदेव निश्चय करके दूसरे अग्नि वायु देवताओं की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ के समान हैं ॥३॥३॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥४॥

अन्वयार्थ—(च) और (अकामहतस्य) इन्द्र तक के विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) श्रोत्रिय वेदवेत्ता पुरुष को तो वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (इन्द्रस्य) देवराज इन्द्र के (शतम्) एकसौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (बृहस्पतेः) देवपुरोहित बृहस्पतिका (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (अकामहतस्य) बृहस्पति तक के विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष को तो वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (बृहस्पतेः) देवाचार्य बृहस्पति के (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह (प्रजापतेः) चतुर्मुख ब्रह्मा के (एकः)एक (आनन्दः) आनन्द है (च)और (अकामहतस्य) चतुर्मुखब्रह्मा तक के विषयभोग की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष को तो वह स्वाभाविक आनन्द है (ते) वे पूर्वोक्त (ये) जो (प्रजापतेः) चतुर्मुख ब्रह्मा के (शतम्) एक सौ (आनन्दाः) आनन्द हैं (सः) वह

ब्रह्मणः) परब्रह्म नारायणके (एकः) एक (आनन्दः) आनन्द है (च) और (अकामहतस्य) प्राकृतविषयभोगों की कामना से रहित (श्रोत्रियस्य) श्रोत्रिय वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष को तो वह भगवत्कृपा से स्वाभाविक आनन्द है ॥४॥

विशेषार्थ—जो देवराजइन्द्र तक के विषय भोग की कामना से रहित है उस श्रोत्रिय—वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वाभाविक प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए जो देवराज इन्द्र के एक सौ आनन्द हैं। वही देवपुरोहित बृहस्पति का एक आनन्द है। बृहस्पति के विषय में लिखा है—

बृहस्पतिर्देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०) बृहस्पति देव हैं ॥२०॥

बृहस्पति पुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।
(यजु० अ० २० मं० ११)

पुरोहित बृहस्पतिदेव प्रभृति सब देव नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥ जो देव पुरोहित बृहपति के विषयभोग की कामना से भी रहित है उस वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वभाव से ही प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए देव पुरोहित बृहस्पति के जो एक सौ आनन्द हैं। वही चतुर्मुख ब्रह्मा का एक आनन्द है। ब्रह्मा के विषय में लिखा है—

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधेहगर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥ (यजु० अ० २३ मं० ६३)

यह प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण कार्य जात का आत्यन्तिक प्रलय हो जाने पर एक अवशेष रह जाने वाला सृष्टि रचने की इच्छा वाला इच्छामय शरीरी नारायण बड़े भारी अर्णव में भीतर यथाक्रम यथाकाल गर्भ को धारण किया उससे प्रजापति यानी ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥६३॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १)

सब देवताओं में पहले चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥१॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ४)

जो परब्रह्म नारायण सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है ॥४॥

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् । (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० १८)

जो परब्रह्म नारायण सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया ॥१८॥

नारायणाद्ब्रह्मा जायते । (नारायणो० श्रु० १)

नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होता है ॥१॥

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् । (मनु० अ० १ श्लो० ८)
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥६॥

नारायण नें पहले जल को बनाया और उस जल में शक्ति रूप बीज को आरोपण किया ॥८॥ वह बीज सुवर्ण के सदृश पवित्र और सूर्य के समान प्रकाशित नारायण की इच्छा से अण्डाकार हो गया उसमें स्वयं सब लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥६॥ और चतुर्मुख ब्रह्मा तक के विषय भोग की कामना से जो रहित है उस श्रोत्रिय—वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो वह आनन्द स्वाभाविक प्राप्त है। और वे पहले कहे हुए जो चतुर्मुख ब्रह्मा के एक सौ आनन्द हैं। वही परब्रह्म नारायण का एक आनन्द गुण है। और प्राकृत विषय भोगों की कामना से रहित श्रोत्रिय—वेदवेत्ता विरक्त पुरुष को तो भगवान् की दया से वह स्वाभाविक ही आनन्द प्राप्त होता है। और बृहदारण्यकोपनिषद् में भी लिखा है—

हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमोलोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० ३२) स यो मनुष्याणांराद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्म देवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शत माजान

देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्म लोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति ॥३३॥

प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य ने जनकराजा को ऐसा उपदेश दिया कि—यह ब्रह्मलोक इस मनुष्य की परम गति है और यही इसकी परम संपत्ति है यह इसका परमलोक है यह इसका परमानन्द है इस परब्रह्म नारायण के आनंद की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥३२॥ वह जो मनुष्यों में सब अङ्गों से पूर्ण समृद्ध दूसरों का अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोग सामग्रियों द्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है वह मनुष्यों का परम आनन्द है। ये पहले कहे हुए मनुष्यों के जो सौ आनन्द हैं वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगण का एक आनन्द है। और जो पितृलोक को जीतनेवाले पितरों के सौ अनन्द हैं वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं वह कर्म देवों का एक आनन्द है जो कि श्रौत कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त होते हैं वही कर्म देव हैं। जो कर्म देवों के सौ आनन्द हैं वह आजान जन्मसिद्ध देवों का एक आनन्द है। और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है उसका भी वह आनन्द स्वाभाविक है जो आजान यानी जन्म सिद्धदेवों के सौ आनन्द हैं वह प्रजापति यानी चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक के एक आनन्द है। और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है उसका भी वह आनन्द स्वाभाविक है। जो चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक के सौ आनन्द हैं वह परब्रह्म नारायण का लोक के एक आनन्द है। और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है उसका भी वह आनन्द स्वाभाविक है। हे सम्राट् जनक यही परम आनन्द है और यही परब्रह्म नारायण का लोक है ॥३३॥ पूर्वोक्त प्रकृत श्रुति के आधार पर ही योगीन्द्र श्रीमद्यामुनाचार्य कहे हैं—

उपर्युपर्य्यब्जभुवोऽपि पुरुषान् प्रकल्प्य ते ये शतमित्यनुक्रमात्
गिरस्त्वदेकैकगुणावधीप्सया सदा स्थिता नोद्यमतोतिशेरते ।

(स्तोत्ररत्न० श्लो० २२)

हे भगवन् संपूर्ण वेदवाणी आपके एक एक गुण के अन्त को प्राप्त करने की इच्छा करके कमल से उत्पन्न प्रजापति ब्रह्मा के भी ऊपर वे जो सौ आनन्द हैं इस प्रकार अनुक्रम से समस्त पुरुषों की कल्पना करके निरन्तर स्थित हुई उद्योग से नहीं निवृत्ति को प्राप्त हुई ॥२२॥ इस श्लोक का विशेष अर्थ जिसको जानना हो तो वह मेरी बनाई हुई स्तोत्ररत्न की "भावप्रकाशिका" व्याख्या को देखले। गोविन्दाचार्य के संन्यासलिङ्गदाता भगवद्रामानुजाचार्य– तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् (शा० मी० २।३।२९) विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् (शा० मी० ३।३।५७) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् (शा० मी० ३।४।८) सम्पद्याविर्भावस्स्वेन शब्दात् (शा० मी० ४।४।१) इन चारों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तीरीयोपनिषद" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक की चतुर्थ श्रुति के "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् (शा० मी० ३।३।५७) सम्पद्याविर्भावस्स्वेन शब्दात् (शा०'मी० ४।४।१) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इस खण्ड को भी उद्धृत किये हैं ॥४॥

यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति ॥५॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) सूर्यमण्डल के भीतर कमनीय विग्रहयुक्त अन्तर्यामी परमात्मा है (च) और (सः) वही पुण्डरीकाक्ष भगवान् (यः) जो (अयम्) यह (पुरुषे) विज्ञानमय पुरुष के भीतर

हृदय गुफा में (च) भी है (सः) वह चेतना चेतन शरीरक परब्रह्म नारायण (एकः) एक है (यः) जो भगवदुपासक (एवम्) इस प्रकार कमनीय विग्रह युक्त पुण्डरीकाक्ष भगवान् को (वित्) अपने हृदय में जानता है (सः) वह ब्रह्मवेत्ता महात्मा (अस्मात्) इस (लोकात्) मृत्युलोक से (प्रेत्य) गमन करके (एतम्) इस (अन्नमयम्) अन्नरसमय शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा नारायण को (उपसंक्रामति) समीप में भलीभांति प्राप्त कर लेता है और (एतम्) इस (प्राणमयम्) प्राणमय शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रामति) समीप में भली भांति प्राप्त कर लेता है और (एतम्) इस (मनोमयम्) मनोमय शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रामति) समीप में भली भांति प्राप्त कर लेता है तथा (एतम्) इस (विज्ञानमयम्) विज्ञानमय-जीवात्मा शरीरवाला (अत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रामति) समीप में भली भांति प्राप्त कर लेता है और (एतम्) इस (आनन्दमयम्) प्रचुर आनन्दवाला (आत्मानम्) परमात्मा परब्रह्मनारायण को (उपसंक्रामति) समीप में भली भांति प्राप्त कर लेता है अर्थात् भोक्ता होकर निरतिशयानन्द भोग्यभूत परब्रह्म नारायण को अनुभव करता है यानी अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है (तत्) उस अभय प्रतिष्ठा के विषय में (अपि) भी (एषः) यह आगे कहे जानेवाला (श्लोकः) मंत्र रूप श्लोक (भवति) होता है ॥५॥

विशेषार्थ—ऊपर बताये हुए समस्त आनन्दों के एकमात्र केन्द्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्म नारायण ही सब प्राणियों के हृदय गुफा में उपास्य हैं इस प्रकार प्रतिपादन करके अब यह श्रुति पहले उस परब्रह्म नारायण के मङ्गलमय विग्रह को प्रतिपाद न करती हुई एक उपास्य प्रचुर आनन्दवाला नारायण ही हैं यह बतलाती है— जो हिरण्मय पुण्डरीकाक्ष परब्रह्म सूर्य मण्डल के भीतर है वही कमनीय विग्रहविशिष्ट परब्रह्म नारायण जीवात्मा के भीतर हृदय गुफा में भी उपासना करने योग्य विराजमान है। परब्रह्म नारायण का कमनीय मङ्गलमय विग्रह है। क्योंकि लिखा है— यत्ते रूपं कल्याणतमम् (ईशो० श्रु० १६) जो तुम्हारा परम मङ्गलमय रूप है ॥१६॥ या ते तनूः (प्रश्नो० प्रश्न० २ श्रु० १२) जो आपका शरीर है ॥१२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् । (मुण्डको० मु० ३ खं० १ श्रु० ३)

जिस समय में साधक पुरुष सुवर्णाकार परब्रह्म नारायण को देखता है ॥३॥

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ।

(छा० उ० अ० १ प्र० १ खं० ६ श्रु० ६)

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ॥७॥

जो यह सूर्य के भीतर हिरण्मय पुरुष दिखायी देता है उसकी दाढ़ी सुवर्ण की है तथा केश भी सुवर्ण के हैं और नख से लेकर चोटी तक सब ही हिरण्मय है ॥६॥ उस परब्रह्म नारायण के जैसे कोई सूर्य की किरण से खिला हुआ लाल कमल हो वैसे ही दोनों नेत्र हैं ॥७॥

भारूपः सत्यसङ्कल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः । (छा० उ० अ० ३ प्र० ३ खं० १४ श्रु० २)

वह प्रकाश रूप सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वगन्ध सर्वरस रूप है ॥२॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम् ।

(बृह० उ० अ० २ ब्रा० ३ श्रु० ६)

उस परब्रह्म नारायण का रूप ऐसा है जैसा हल्दी से रँगा हुआ वस्त्र हो जैसा पाण्डुरंग का ऊनी वस्त्र हो जैसा इन्द्रगोप हो जैसी अग्नि की ज्वाला हो जैसा पुण्डरीक कमल हो ॥६॥

हस्ते बिभर्ष्यस्तवे । (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ६)

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८॥

हाथ में फेंकने के लिये बाण को धारण किये हो ॥६॥ आदित्य के समान वर्ण वाले अन्धकार से अत्यन्त दूर ॥८॥

एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो विष्णुः ।

(तैत्ति० आर० प्रपा० १० अनु० १३)

यह सूर्य मण्डल के भीतर हिरण्मयाकार विष्णु भगवान् हैं ॥१३॥

नमो हिरण्यबाहवे । (तै० आ० प्र० १० अनु० १८)

सुवर्ण बाहु भगवान् के लिये नमस्कार है ॥१८॥ इस प्रकार के जो सूर्य मण्डल में हिरण्मयाकार कमनीय रूप वाला परब्रह्म नारायण है । वही—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।

(तै० आर० प्र० १० अनु० १० श्रु० १)

अणु से अत्यन्त अणु और महान् से अत्यन्त महान् परमात्मा नारायण देव इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में विराजमान हैं ॥१॥ इस श्रुति के अनुसार हृदय गुफा में भी है । अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही एक सर्वदा सर्वत्र उपासना करने योग्य है । और वह दिव्य मङ्गलमय विग्रह विशिष्ट है । इस प्रकार अष्टम अनुवाक की पञ्चम श्रुति के पूर्व के आदि खण्ड से प्रतिपादन करके—

उता विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुते । (तै० उ० व० २ अनु० ६)

अविप्रकृष्ट हृदयादिक स्थान में स्थित अनवच्छिन्न परब्रह्म नारायण की उपासना करने वाला कोई भी ज्ञानी पुरुष मरकर उस परम-व्योम वैकुण्ठलोक में जाता है या नहीं जाकर यहां ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥६॥ इस श्रुति से किया हुआ प्रश्नों का उत्तर अब अष्टम अनुवाक की पञ्चम श्रुति के—

स य एवं वित् । (तै० उ० व० २ अनु० ८ श्रु० ५)

इत्यादि पदों से दिया गया है कि—जो परब्रह्म नारायण की उपासना करने वाला भक्त इस प्रकार कमनीय विग्रह युक्त पुण्डरीकाक्ष भगवान् को अपने हृदय में यथार्थ जान लेता है वह ब्रह्मवेत्ता महात्मा मरने पर इस मनुष्य शरीर को छोड़कर अर्चिरादिमार्ग से ही परमव्योम वैकुण्ठ लोक में जाता है और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय जीवात्मा के अन्तर्यामी निरतिशयानन्द परब्रह्म नारायण को भोक्ता होकर अनुभव करता है । इस श्रुति में परब्रह्म नारायण को उपास्य और जीव को उपासक प्रतिपादन करके मुक्ति में भोक्ता जीवात्मा और भोग्य परब्रह्म

नारायण कहा गया है। अर्चिरादिमार्ग से ही सब ज्ञानी प्रचुर आनन्द वाला परब्रह्म नारायण को प्राप्त करते हैं। क्योंकि लिखा है—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । (शा० मी० अ० ४ पा० ३ सू० १)

अर्चिरादिमार्ग से ही परब्रह्म के लोक में जीव की गति होती है क्योंकि सर्वत्र अर्चिरादि मार्ग की ही प्रसिद्धि है ॥१॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः । (छा० उ० अ० ४ खं० १५ श्रु० ५)

स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥६॥

इस उपासक के लिये शव कर्म करें अथवा न करें वह अर्चिअभिमानी देवता को ही प्राप्त होता है। फिर अर्चिअभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को और दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को तथा शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायण के छः मासों को प्राप्त होता है। मासों से संवत्सर को संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होता है। वहां से अमानव पुरुष इसे परब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग ब्रह्ममार्ग है। इससे जाने वाले पुरुष इस मानव मंडल में नहीं लौटते हैं। नहीं लौटते हैं ॥५॥६॥

ते य एवमेतद्विदुर्येचामीअरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासतेतेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण पक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराःपरावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।

(बृ० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५)

वे जो इस प्रकार इसको जानते हैं तथा जो वन में श्रद्धायुक्त हो कर सत्य की उपासना करते हैं वे ज्योति के अभिमानी देवता को प्राप्त

होते हैं ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवता को दिन के अभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहकर चलता है उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उत्तरायणाभिमानी देवताओं से देवलोक को देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत संबन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहकर भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥१५॥

स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्। (कौषीतकिब्राह्मणोप० अ० १ श्रु० ३)

वह परब्रह्म का उपासक इस देवयान मार्ग पर पहुँचकर पहले अग्निलोक में आता है फिर वायुलोक में आता है वहां से सूर्यलोक में आता है तदनन्तर वरुणलोक में आता है तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में आता है इन्द्रलोक से प्रजापतिलोक में आता है और प्रजापति के लोक से परब्रह्मलोक में आता है ॥३॥

अग्नि ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
(गी० अ० ८ श्लो० २४)

अग्निरूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः महीने उनमें गये हुए ब्रह्मवेत्ता जन परब्रह्म नारायण को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

मुक्तोऽर्चिर्दिन पूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातां शुमद्ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्र धातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वां प्लुतः। श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान् ॥ (सत्संगप० श्लो० २)

धन्य कृतकृत्य माया के बन्धन से विनिमुक्त पुरुष अर्चिष् १, दिन २, शुक्लपक्ष ३, उत्तरायण ४, संवत्सर ५, वायु ६, सूर्य ७, चन्द्रमा ८,

विद्युत्पुरुष ६, वरुण १०, इन्द्र ११ और ब्रह्मा १२ इन सबों से पूजित लीला-विभूति की सीमा के अन्त में स्थित विरजा नदी में स्नान करके नित्य अजड श्रीवैकुण्ठ को प्राप्त कर उस श्रीवैकुण्ठ परमधाम में परब्रह्म नारायण के साथ सायुज्य मुक्ति को पाकर आनन्द करता है ॥२॥ वह मुक्त जीव अनवधिकातिशयानन्द भोग्य भूत परब्रह्म नारायण को पाकर अभय प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि लिखा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालय मशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ (गी० ८।१५)

मुझे प्राप्त होकर परम संसिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखों के घर रूप अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (गी० ८।१६)

हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक से लेकर सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं हे कुन्तीपुत्र मुझे पा लेने के बाद पुनः जन्म नहीं होता है ॥१६॥ उस अभय प्रतिष्ठा के विषय में भी यह आगे नवम अनुवाक में कहे जाने वाला मंत्र रूप श्लोक है। यज्ञमूर्ति के पराजयकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । (शा० मी० १।१।२०) के श्री भाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक के "आनन्द मयमात्मान मुपसंक्रामति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयो-पनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम अनुवाक समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ नवमोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति ॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस परब्रह्म नारायण के आनन्द गुण से (मनसा) मन के (सह) सहित (वाचः) वाणी आदि इन्द्रियां (अप्राप्य) इयत्तालक्षण पार को न पाकर (निवर्तन्ते) लौट आती हैं (ब्रह्मणः) उस परब्रह्म नारायण के (आनन्दम्) आनन्दगुण को (विद्वान्) सूक्ष्म बुद्धि से

जानने वाला भगवदुपासक (कुतश्चन) किसी से भी (न) नहीं (बिभेति) डरता है (इति) इस प्रकार यह मंत्ररूप श्लोक समाप्त हुआ।

विशेषार्थ—जिस परब्रह्म नारायण के आनन्दगुण को इयत्तालक्षण पार करने के लिये मन वाणी आदि इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं परन्तु समस्त इन्द्रियां उसकी इयत्तालक्षण पार को न पाकर लौट आती हैं। आनन्द गुण वाला उस परब्रह्म नारायण की उपासना करने से समस्त क्लेश के भय से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। पूर्वोक्त श्रुति में "इति" शब्द इस मंत्ररूप श्लोक के समाप्ति सूचक प्रयुक्त हुआ है। यह श्रुति "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के चतुर्थ अनुवाक के प्रारम्भ में भी प्रायः पठित है। आन्ध्रपूर्ण स्वामी के श्रीपादतीर्थ दाता भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । (शा० मी० १।१।१) आनन्दमयोऽभ्यासात् । (शा० मी० १।१।१३) मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते । (शा० मी० १।१।१६) नेतरोऽनुपपत्तेः । (शा० मी० १।१।१७) दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते । (शा० मी० ३।२।१७) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । (शा० मी० ३।४।८) इन छवों सूत्रों के श्रीभाष्य में 'तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के नवम अनुवाक का आदि की श्रुति के पूर्वार्ध को उद्धृत किये हैं। और—**नेतरोऽनुपपत्तेः । (शा० मी० १।१।१७) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । (शा० मी० १।१।२०)**

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । (शा० मी० २।३।२६) दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते । (शा० मी० ३।२।१७) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । (शा० मी० ३।४।८) इन पाँचों सूत्रों के श्रीभाष्य में उत्तरार्ध को उद्धृत किये हैं।

एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरव मिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते। य एवं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते। य एवं

वेद । इत्युपनिषद् ॥१॥

॥ इति ब्रह्मवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ली ॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैंने (साधु) स्वर्गादि में हेतु सुकृत—शुभकर्म को (किम्) क्यों (न) नहीं (अकरवम्) किया और (अहम्) मैंने (पापम्) नरकादि में हेतु दुष्कृत पाप कर्म को (किम्) क्यों (अकरवम्) किया (इति) इस प्रकार की चिन्ता (ह) निश्चय ही (वाव) यह प्रसिद्ध है कि (एतम्) उस परब्रह्मनारायण के उपासक महात्मा को (न) नहीं (तपति) पीड़ा देती है (यः) जो पुरुष (एते) इन पुण्यपाप कर्मों को (एवम्) इस प्रकार संताप का हेतु (विद्वान्) जाननेवाला है (सः) वह भगवदुपासक (आत्मानम्) अपनी आत्मा को (स्पृणुते) पुण्य पाप कर्मों से रक्षा करता है (हि) अवश्य ही (यः) जो पुरुष (एते) इन पुण्य और पाप (उभे) दोनों कर्मों को (एव) निश्चय करके (एवम्) इस प्रकार संताप का हेतु (वेद) जानना है (एषः) वह यह भगवद्भक्त (आत्मानम्) अपनी आत्मा को (स्पृणुते) पुण्य पाप कर्मों से रक्षा करता है (इति) इस प्रकार (उपनिषद्) जीव को परब्रह्म नारायण के समीप ले जाकर—उनके स्वरूप को बतलाकर—समूल अज्ञान का विनाश करनेवाली उपासनात्मिकाब्रह्मवल्ली समाप्त हो गयी ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में यह वतलाया गया है कि आनन्द गुणवाला परब्रह्म नारायण की उपासना करनेवाले महानुभाव को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती है। मैंने स्वर्गादि में हेतु सुकृत यानी शुभ कर्म को क्यों नहीं किया इस प्रकार की चिन्ता परब्रह्मनारायण के उपासक महाभागवत को पीड़ा नहीं देती है क्योंकि प्रपन्नजन स्वर्ग आदि लोकों की इच्छा नहीं करते हैं। और मैंने नरकादि में हेतु दुष्कृत यानी प्रतिषिद्ध पापकर्म को क्यों किया इस प्रकार की चिन्ता भगवदुपासक महानुभाव को बाधा नहीं करती है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से पाप दग्ध होने के कारण नरक नहीं होता है। यह लिखा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (गी० ४।३७)

हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन को भस्म कर देती हैं वैसे ही ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्म कर देती है ॥३७॥ अथवा भक्तजन पाप को चिन्तन करके डरते नहीं हैं क्योंकि **अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि** (गी० अ० १८ श्लो० ६६) मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूंगा ॥६६॥ पार्थसारथि भगवान् के इस चरम वचनामृत में दृढ़ विश्वास किये रहते हैं। वस्तुतः प्रपन्नजन सुकृत और दुष्कृत इन दोनों से अन्त में रहित हो जाते हैं। क्योंकि लिखा है कि—**तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृत मुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्** (कौषीतकिब्राह्मणोप० अ० १ श्रु० ४) जो उस प्रपन्न के प्रिय कुटुम्बी होते हैं वे तो उस प्रपन्न का पुण्य पाते हैं और जो उस प्रपन्न से द्वेष करनेवाले होते हैं उन्हें उसका पाप मिलता है ॥४॥ ऐसा समझकर ब्रह्मवेत्ता पुण्य और पाप की चिन्ता से संतप्त नहीं होते हैं। जो पुरुष इन पुण्य और पाप कर्मों को इस प्रकार संताप का हेतु जाननेवाला है वह प्रपन्न पुण्य पाप कर्मों से आत्मा की रक्षा करता है। इस प्रकार यह परमरहस्य इस वल्ली में प्रदर्शित किया गया है। इस श्रुति में **"एते आत्मानं स्पृणुते"** इस वाक्य का दो बार उच्चारण इस द्वितीय वल्ली की समाप्ति की सूचना करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के नवम अनुवाक समाप्त हो गया और द्वितीय ब्रह्मवल्ली भी समाप्त हो गयी ॥१॥

॥ इति ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता ॥

॥ अथ भृगुवल्ली ॥

॥ अथ प्रथमोऽनुवाकः ॥

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार ।
अधीहि भगवो ब्रह्मेति ॥

अन्वयार्थ—(वै) यह प्रसिद्ध है कि (वारुणिः) वरुणऋषि का पुत्र (भृगुः) भृगुऋषि (भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (ब्रह्म) मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्मनारायण को (अधीहि) स्मरण कीजिये या उपदेश कीजिये (इति) इस प्रकार विनय पूर्वक कहता हुआ (पितरम्) अपने पिता

(वरुणम्) वरुणऋषि के (उपससार) समीप में शास्त्रविधि के अनुसार गया।

विशेपार्थ—अब ब्रह्मवल्ली के अनन्तर यहां वारुणी ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये आख्यायिकारूप से श्रुति कहती है कि—वरुणऋषि का पुत्र भृगुनाम से सुप्रसिद्ध एक ऋषि थे। उनके मन में परब्रह्म नारायण को जानने और प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा हुई। वे भृगुऋषि पहले से आप्त पुरुषों से सुने थे कि वरुणऋषि परब्रह्म नारायण को विशेष रूप से जानते हैं। इससे "यह हमको परब्रह्म के विषय में सब कुछ बता देंगे" ऐसा विचार कर अपने पिता वरुण महर्षि के समीप शास्त्रानुसार समिधा पुष्प आदि हाथ में लेकर गये। और वह भेंट उनको समर्पण कर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोले कि—हे पूज्य भगवन् मैं परब्रह्म को जानना चाहता हूं अतः आप कृपा करके मुझे परब्रह्म नारायण को समझाइये। क्योंकि मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

(मु० उ० मुं० १ खं० २ श्रु० १२)

परब्रह्म को जानने के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि लिये हुए वेदवेत्ता ब्रह्म विचार में मग्न गुरु के शरण जाय ॥१२॥ और भगवद्गीता में लिखा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। (गी० अ० ४ श्लो० ३४)

उस परब्रह्म ज्ञान को दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो ॥३४॥ इन श्रुति स्मृति के नियमानुसार भृगु ऋषि भगवान् वरुण ऋषि के पास गये। इस श्रुति में—

यथा देवे तथा गुरौ। (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० २३) (सुबालो० खं० १६) (शाट्यायनीयोप० श्रु० ३७) जिस प्रकार परब्रह्म नारायण देव में उसी प्रकार गुरुदेव में भी (२३।१६।३७) इस श्रौत सिद्धान्त को जनाने के लिये गुरु वरुण महर्षि में "भगवच्छब्द" का प्रयोग हुआ है। अथवा यहां पर वरुण ऋषि के लिये औपचारिक "भगवः" पद का प्रयोग भृगु ऋषि ने किया है। क्योंकि विष्णुपुराण में लिखा है—

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे। (विष्णुपु० अंश० ६ अध्या० ५ श्लो० ७२)

संभर्तेति तथा भर्ता भकारोर्थद्वयान्वितः।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥७३॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥७४॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतान्यखिलात्मनि।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥७५॥

हे मैत्रेय शुद्ध महाविभूति नाम वाला सब कारणो के कारण परब्रह्म में भगवत् शब्द कहा जाता है ॥७२॥ संभर्ता और भर्ता भगवत् शब्द में जो भकार है उसका अर्थ है और हे मुने नेता गमयिता तथा स्रष्टा गकार का अर्थ है ॥७३॥ अथवा समस्त ऐश्वर्य १, वीर्य २, यश ३, श्री ४; ज्ञान ५ और वैराग्य ६ इन छः वस्तुओं को भग कहते हैं ॥७४॥ उस अखिलात्मा में समस्तभूत वसते हैं और सब भूतों में जो वसता है वह वकार का अर्थ है ॥७५॥

ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
(विष्णुपु० अं० ६ अध्या० ५ श्लो० ७६)

समस्त ज्ञान १, शक्ति २, बल ३, ऐश्वर्य ४, वीर्य ५ और तेज ६ ये भगवत् शब्द के वाच्य हैं हेय गुणादिकों से रहित ॥७६॥

एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति।
परमब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥
(विष्णुपु० अं० ६ अ० ५ श्लो० ७६)

तत्र पूज्यपदार्थोक्ति परिभाषा समन्वितः।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥७७॥

हे मैत्रेय इस प्रकार यह महान् भगवत् शब्द परब्रह्म वासुदेव का ही

वाचक है दूसरे का नहीं ॥७६॥ उस परब्रह्म नारायण में ही लक्षण युक्त भगवत् शब्द का पूर्ण अर्थ है दूसरे में औपचारिक है ॥७७॥ इससे सिद्ध हो गया कि वरुण ऋषि में औपचारिक भगवत् शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां पर कई सज्जन कहते हैं कि पिता को गुरु भृगु ऋषि नें बनाया सो ठीक नहीं किया। इससे पिता को गुरु नहीं बनाना चाहिये। इस विषय में मेरा कहना यह है कि—गुरुपसदन विधान करने वाली जो निम्न लिखित श्रुति है—

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । (मु० उ० मुं० १ खं० २ श्रु० १२) परब्रह्म को जानने के लिये वह मुमुक्षु हाथ में समिधा आदि भेंट लिये हुए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरण जाय ॥१२॥ इस श्रुति में श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु का लक्षण बताया गया है। और श्रोत्रिय के विषय में लिखा है—

एकशाखां सकल्पाश्च षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ (देवल०)
जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारै द्विंज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

व्याकरण १, शिक्षा २, निरुक्त ३, कल्प ४, छन्द ५ और ज्योतिष् ६ इन छः अङ्गों के साथ केवल एक अपनी वेद की शाखा को पढ़ कर जो वेदपाठी धर्मवेत्ता ब्राह्मण अध्ययन १, अध्यापन २, यजन ३, याजन ४, दान ५, प्रतिग्रह ६ इन छः कर्मों में निरत रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। शुद्ध ब्राह्मण से शुद्ध ब्राह्मणी पत्नी में जन्म होने से ब्राह्मण कहा जाता है और यज्ञोपवीत आदिक संस्कारों से द्विज कहा जाता है तथा विद्या से विप्रत्व को प्राप्त करता है और पूर्वोक्त तीनों से श्रोत्रिय कहा जाता है अर्थात् जिसका शुद्ध ब्राह्मण जाति में जन्म हो तथा उपनयन आदि संस्कार भया हो और विद्या अध्ययन किया हो उसको श्रोत्रिय कहते हैं। तथा ब्रह्मनिष्ठ यानी परब्रह्म नारायण में निष्ठा रखने वाला। इन लक्षणों से युक्त गुरु का उपसदन विधान है। और अद्वयतारकोपनिषद् में लिखा है—

गुशब्दस्त्वन्धकारःस्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधि

त्वाद्गुरुरित्यभिधीयते (अद्वयतारकोप०) गु कहते हैं अन्धकार को और रु कहते हैं प्रकाशको तो जो अविद्यारूप अन्धकार को ज्ञानरूप सदुपदेश के प्रकाश से दूर करता है उसको गुरु कहते हैं। इन श्रौत लक्षणों में पिता को निषेध नहीं किया गया। बल्कि मनुस्मृति में लिखा है कि—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते (मनु०२।१४२)

जो वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्र के नियमानुसार गर्भाधानादि संस्कार कर्मों को करता है और अन्न आदिक से बालक को बढ़ाता है उस पिता को ही गुरु कहते हैं ॥१४२॥ इस मानवधर्मशास्त्र के अनुसार स्पष्ट पिता गुरु सिद्ध होता है। और भी लिखा है—पिता मूर्तिः प्रजापतेः (मनु० अ० २ श्लो० २२६) पिता ब्रह्मा की मूर्ति हैं ॥२२६॥ पिता वै गार्हपत्योऽग्निः (मनु० अ० २ श्लो० २३१) पिता निश्चय करके गार्हपत्य अग्नि हैं ॥२३१॥ और सत्संप्रदाय की परम्परा से भी पिता पुत्र का परस्पर गुरु शिष्य सम्बन्ध सिद्ध होता है क्योंकि लिखा है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यावरिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
(मु० उ० मु० १ खं० १ श्रु० १)

समस्त विश्व के रचयिता और समस्त लोक के रक्षक चतुर्मुख ब्रह्मा इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ वह ब्रह्मा सबसे बड़े पुत्र अथर्व नाम वाले ऋषि के लिये समस्त विद्याओं के आश्रयभूत ब्रह्मविद्या को भलीभांति उपदेश किया ॥१॥ उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच (छा० उ० अ० ६ खं० ८ श्रु० १॥ प्रसिद्ध अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक ऋषि ने श्वेतकेतु नामक पुत्र से कहा ॥१॥

सह पितरमासाद्य पप्रच्छेतीति मा प्राक्षीत्कथं प्रतिब्रवाणीति
(कौषीतकिब्राह्मणो० खं० १ श्रु० १)

प्रसिद्ध वह श्वेत केतु अपने पिता उद्दालक ऋषि के पास में जाकर पूछा कि इसलोक में कोई ऐसा आवृत स्थान है जिसमें मुझे ले जाकर

रक्खोगे अथवा कोई उससे भिन्न—सर्वथा विलक्षण आवरण शून्य पद है जिसे जानकर तुम उसी लोकमें मुझे स्थापित करोगे" इस प्रकार महात्मा चित्र ने मुझ से प्रश्न किया है। सो इसके सम्बन्ध में किस प्रकार मैं उत्तर दूं॥१॥

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति पप्रच्छ।

(तेजोविन्दूप०. अध्या० ३ श्रु० १)

कुमार अपने पिता शिवजी से आत्मानुभव को कहिये इस प्रकार के पूछा ॥१॥

नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यम्।

(नारदपरिव्राजकोप० उपदे० २)

नारदजी ने पितामह ब्रह्मा से कहा कि—आप हमारे गुरु और पिता हैं तथा आप संपूर्ण विद्याओं के रहस्य जाननेवाले और सर्वज्ञ हैं अतः आप मुझे एक रहस्य की बात जो मुझे अति प्रिय है बतलाने की कृपा करें॥२॥

प्रसन्नं भगवन्तं महाविष्णुं ब्रह्मा परिपृच्छति भगवन् परमतत्त्वरहस्यं मे ब्रूहीति। त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० अध्या० १ श्रु० १) प्रसन्न भगवान् महाविष्णु पिता से ब्रह्मा ने पूछा कि हे भगवन् मुझे परमतत्त्व का रहस्य बतलाइये ॥१॥

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ।

(परमहंसपरिव्राजकोप०)

पितामह ब्रह्मा ने अपने पिता आदिनारायण भगवान् के पास में जाकर साष्टाङ्ग प्रणिपात करके पूछा-- ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयम्भुवं परिपृच्छति जगतांका विद्या (पाशुपतब्रह्मोप० श्रु० १) ब्रह्मा के पुत्र वालखिल्यगण अपने पिता ब्रह्मा से जाकर पूछा कि हे गुरो जगत् में कौन विद्या है ॥१॥

प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह।

को देवः सर्ववेदेषु कस्मिन्देवाश्च सर्वशः॥ (रुद्रहृदयोप० श्रु० ३)

शुकदेव जी अपने पिता वेदव्यास के श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके बोले कि सब वेदों में कौन देव है और किसमें सब देवता प्रतिष्ठित हैं ॥२॥

नारदो ब्रह्माणमुपसमेत्योवाचाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम् ।
(हयग्रीवोपप० श्रु० १)

नारद जी अपने पिता ब्रह्मा के पास जाकर कहे कि हे भगवन् सब विद्याओं से श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिये ॥१॥

सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा नारायणं महासाम्राज्यं किं तारकं तन्नो ब्रूहीत्युवाच ॥ (दत्तात्रेयोप० खं० १ श्रु० १)

सत्यक्षेत्र में ब्रह्मा नारायण नामक पिता के पास में जाकर कहे कि हे भगवन् संसार सागर से तारने वाला तारक क्या है यह मुझसे आप कृपा करके कहिये ॥१॥

गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मा विद्यां नारदाय प्रोवाच ।
(गारुडोप० श्रु० १)

गारुड ब्रह्म विद्या को मैं कहूँगा ब्रह्मा ने जिस ब्रह्म विद्या को अपने पुत्र नारद के लिये कहा था ॥१॥

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं सन्तरेयमिति । (कलिसन्तरणोप० श्रु० १)

द्वापरयुग के अन्त में नारद जी अपने पिता ब्रह्मा जी के पास गये और बोले कि—हे भगवन् मैं भूलोक में पर्यटन करता हुआ किस प्रकार कलि से त्राण पा सकता हूं ॥१॥ और श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गी० अ० ४ श्लो० १)
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥२॥

इस अविनाशी योग को मैंने सूर्य से कहा था सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वतमनु से कहा और वैवस्वत मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा ॥१॥ इस प्रकार संप्रदाय परम्परा से प्राप्त इस योग को पूर्वकाल के राजर्षियों ने जाना ॥२॥ इन पूर्वोक्त श्रुति स्मृति के प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है इससे भृगुऋषि ने श्रोत्रिय

ब्रह्मनिष्ठ अपने पिता वरुण महर्षि को जो गुरु बनाया सो ठीक ही किया। क्योंकि लिखा है—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् । (सांख्यतत्त्व०)

यदि घरके कोण में ही मधु प्राप्त हो जाय तो पर्वत पर किस लिये जाना। इस सिद्धान्तानुसार भृगु ने दूसरे गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं समझा। श्री संप्रदाय के सदाचार से भी सिद्ध होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है। क्योंकि लिखा है—

श्रीयामुनमुनेः पुत्रः शोट्टैनम्बिरिति स्मृतः ।
एलाच्चानश्च तत्पुत्रः पिल्लैयप्पंश्च तत्सुतः ॥१॥
श्रीमहापूर्णपुत्रस्तु पुण्डरीक इति स्मृतः ।
श्रीगोष्ठीपूर्णपुत्रस्तु तेर्किवानिति नामभाक् ॥२॥
श्रीशैलाङ्गजरामानुजपिल्लैतिरुमल्लैनम्बिः ।
श्रीमालिजोऽपि सुन्दरत्तोल्लुडयाराह्वयः श्रीमान् ॥३॥
यस्तु पराशरभट्टः सैव श्रीरामपिल्लैश्च ।
श्रीमान्दाशरथिर्यः सोऽपि कूरेशात्मजो मुदलियाण्डान् ॥४॥
श्रीतिरुमोहूरावानन्योऽपि च गोमठत्तावान् ।
श्रीमांश्च नडुविलावान्तथा तिरुक्कोवल्लूरावान् ॥५॥
पिल्लैपिल्लैयारान् नोय्युराडावान् अरणपुरत्तावान् ।
श्रीमदनन्दावानथ मिलकावान् कोयिलावांश्च ॥६॥
अपि च नडादूरावान् तथैङ्गलावान् किडापियाच्चांश्च ।
एम्बार श्रीगोविन्दाचार्यः कणियनूरशिरियाच्चान् ॥७॥
श्रीशेट्टलूरशिरियावानथ वेदान्तियावांश्च ।
श्रीमान् तथोक्कलावान् धीमाञ्छ्रीकोङ्गिलाच्चांश्च ॥८॥
तिरुमल्लैनल्लानथ श्रीमाञ्चटम्बिजीयरकः ।
तिरुवैललरैजीयर श्रीचहूम्बिललजीयरौ धीरौ ॥९॥

श्रीआट्टकोङ्गविल्लिजीयर तिरुनगरीपिल्लानौ धीरौ ।
कराञ्जिसोमयाजीभारः श्रीअलङ्कार–वेङ्कडवारः ॥१०॥
तिरुक्कयापुरुत्तैरपरः तिरक्कुरुद्यीरानपिल्लान् ।
तथा सूरिय्येरूमालधीरः पील्लैयुरेन्दैयुडैयारः ॥११॥
कुरिञ्जियुरशिरियारान्नामा वडुङ्गनम्बि आन्ध्रपूर्णाख्यः ।
आल्वन्दाराण्डान्महात्मा अमङ्गियाण्डानाह्वमहात्मा ॥१२॥
श्रीमरुदरनम्बिश्च महात्मा तिरुक्कुरङ्गुडिनम्बि महात्मा ।
कुरुयैनम्बि मुडुम्बैनम्बी वङ्गिपुरत्तु नम्बिरपि धीरः ॥१३॥
श्रीनम्बिवरुन्देवर शिरुप्यलिलदेवराजभट्टरकौ ।
अम्मङ्गिपेरुमाल पेरियकोयिलवत्तललारः ॥१४॥
श्रीमानरुलालय्येरुमालय्येरुमानारः ।
श्रीगेण्डनूरनम्बिः पराङ्कुश मूयूरनम्बी च ॥१५॥
मारोन्निल्लामारुतिच्चिरियाण्डानीश्वराण्डांश्च ।
श्रीमाञ् जियराण्डानपि मारुत्तिय्येरियाण्डांश्च ॥१६॥
आर्काटटुय्यिललानथ केकोमाराङ्गरपिल्लैश्च ।
अपि च मुडुम्बैयेम्माल् शिरियाण्डान् पेरियाण्डांश्च ॥१७॥
उङ्कलम्माल् अमङ्गिअम्माल् शोभाशिरियाण्डानभिधानाः ।
मुनिय्येरुमाल शोट्टै अम्माल् ईमुणिणय्यिललैयाण्डानः ॥१८॥
कामाण्डूरइलैयविल्लिः किडाम्बिय्येरुमालभिधानः ।
तथापरुत्तिकोलैयम्माल् श्रीरामानुजाचार्यशरणः ॥१९॥

श्रीयामुनमुनि के पुत्र शोटैनम्बि १ और एलाच्चान २ तथा उनका पुत्र पिल्लैयप्पन् ३॥१॥ श्रीमहापूर्णस्वामि के पुत्र पुण्डरीक ४ श्रीगोष्ठीपूर्ण स्वामि के पुत्र तेर्किवान् ५॥२॥ और श्रीशैलपूर्णस्वामि के पुत्र रामानुज पिल्लैतिरुमल्लैनम्बि ६ श्रीमालिस्वामि के पुत्र सुन्दरत्तोल्लुडयार ७॥३॥ और जो [illegible] हैं वही श्रीरामपिल्लै हैं वह श्री रामपिल्लै ८ तथा जो

दाशरथिस्वामी हैं वही कूरेशात्मज मुदलियाण्डान् हैं वह मुदलियाण्डान् ६॥४॥ और श्री तिरुमोहूरावान् १० तथा गोमठत्तावान् ११ नडुविलावान् १२ और तिरुक्कोवलूरावान् १३॥५॥ तथा पिल्लैपिल्लैयारान् १४ नोय्युरा- डावान् १५ अरणपुरत्तावान् १६ आनन्दावान् १७ मिलकावान् १८ और कोयिलावान् १६॥६॥ नडादूरावान् २० और एङ्गलावान् २१ किडापियाचान् २२ एम्बार श्रीगोविन्दाचार्य २३ और कणियनूरशिरियाचान् २४॥७॥ श्रीशेट्टलूर शिरियावान् २५ और वेदान्तियावान् २६ तथा उक्कलावान् २७ और श्रीकोङ्गिलाचान् २८॥८॥ तिरुमल्लैनल्लान् २६ तथा श्रीमान् चटम्बिजी- यर ३० तिरुवैललरैजीयर ३१ और श्रीचट्टम्बिललजीयर ३२॥६॥ श्रीआट्ट- कोङ्गविल्लिजीयर ३३ और तिरुनगरी पिललान ३४ कराञ्जीसोमयाजीभार ३५ तथा श्री अलङ्कार-वेङ्कडवार ३६॥१०॥ और तिरुक्कयापुरत्तैरपर ३७ तिरक्कुरुदयीरानपिललान् ३८ तथा सूरिय्येरूमाल ३६ और पील्लैयुरेन्दैयुडैयार ४०॥११॥ कुरिञ्जियुरशिरियारान् ४१ और वडुङ्गनम्बिआन्ध्रपूर्ण ४२ आल्वन्दाराण्डान् ४३ तथा अमङ्गियाण्डान् ४४॥१२॥ महात्मा श्रीमरुदरनम्बि ४५ और महात्मा तिरुकुरङ्गुडिनम्बि ४६ कुरुयैनम्बि ४७ और मुडुम्बैनम्बि ४८ तथा वङ्गिपुरत्तुनम्बि ४६॥१३॥ श्रीनम्बिवरुन्देवर ५० शिरुप्यलिलदेव- राजभट्टर ५१ अम्माङ्गियेरुमाल् ५२ और पेरियकोयिलवलललार ५३॥१४॥ श्रीमान् अरुलालय्येरुमालय्येरुमानार ५४ श्रीगेण्डनूरनम्बि ५५ और पराङ्कुश- नम्बि ५६ तथा मूयूरनम्बि ५७॥१५॥ मारोन्निल्लामारुतिच्चिरियाण्डान् ५८ तथा ईश्वराण्डान् ५६ श्रीमान् जियराण्डान् ६० और मारुत्तिय्येरियाण्डान् ६१॥१६॥ आर्काटटुप्यिललान् ६२ तथा केकोमाराडूरपिललै ६३ मुडुम्बैयेम्माल् ६४ तथा शिरियाण्डान् ६५ और पेरियाण्डान् ६६॥१७॥ अङ्कलम्माल् ६७ अम्मङ्गिअम्माल् ६८ शोभाशिरियाण्डान् ६६ मुनिय्येरुमाल् ७० शोट्टैअम्माल् ७१ और ईमुणिग्यिललैयाण्डान ७२॥१८॥ तथा कामाण्डूरइलैयविल्लि किडाम्बिय्येरुमाल् ७३ और परुत्तिकोलैयम्माल् ७४ ये भगवद्रामानुजाचार्य प्रतिष्ठापित चौहत्तर पीठाधीश हैं ॥१६॥ इनमें जो गृहस्थ पीठाधीश हैं उनके पुत्र प्रायः पिता को ही गुरु बनाते हैं। और पूर्वोक्त चौहत्तर पीठाधीशो में अरतालिसवां पीठाधीश श्रीवत्सवंशोत्पन्न जो मुडुम्बैनम्बि हैं। उनके ही वंश परम्परा में श्रीकृष्णपादस्वामी और श्री लोकाचार्य स्वामी उत्पन्न हुवे हैं। ये महानुभाव श्रीसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा

में हैं। क्योंकि लिखा है—

श्रीशं श्रीसैन्यनाथं वकुलधरमुनिं नाथपङ्केरुहाक्षौ
श्रीरामं यामुनेयं वरमपि च महापूर्णरामानुजार्यौ।
गोविन्दं भट्टवेदान्त्यथ वरकलिजिद्दंशदासांश्च कृष्णं
लोकार्यं शैलनाथं वरवरमुनिमप्यन्त्वहं चिन्तयामि ॥१॥

नारायण १, श्रीदेवी २, विष्वक्सेन ३, पराङ्कुशमुनि ४, नाथमुनि ५, पुण्डरीकाक्ष ६, श्रीराममिश्र ७, यामुनमुनि ८, महापूर्ण स्वामी ९, रामानुजाचार्य १०, गोविन्दाचार्य ११, पराशरभट्टाचार्य १२, वेदान्तिस्वामी १३, कलिवैरिदास स्वामी १४, श्रीकृष्णपाद स्वामी १५, लोकाचार्य स्वामी १६, शैलनाथ स्वामी १७, और श्रीवरवर मुनि स्वामी १८, इन गुरुओं को नित्यप्रति मैं ध्यान करता हूं ॥१॥ इस अभियुक्तसंगृहित गुरुपरम्परा के श्लोक के अनुसार श्री सम्प्रदाय के पन्द्रहवां आचार्य श्रीकृष्णपादस्वामी हैं और सोलहवां श्रीमल्लोकाचार्य स्वामी हैं। लोकाचार्यस्वामीजी श्रीकृष्ण पादस्वामीजी के शिष्य और पुत्र भी हैं। क्योंकि लिखा है कि—

लोकाचार्याय गुरवे कृष्णपादस्य सूनवे।
संसारभोगिसंदष्टजीवजीवातवे नमः (गुरुपर० श्लो० १६)

संसार सर्प से काटे हुए जीव को जीलानेवाले वैद्यराज श्रीकृष्ण पादस्वामी के पुत्र तथा शिष्य जगद्गुरु लोकाचार्यस्वामी के लिये नमस्कार है ॥१६॥ पूर्वोक्त गुरुपरम्परा के प्रमाण से सिद्ध होता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता गुरु हो सकता है। और भी लिखा है—

श्रीवादिभीकर महागुरु देवराज श्रीभट्टनाथवरवेङ्कटयोगिवर्य।
रामानुजार्य वरदार्यनतार्तिहारि श्रीवानशैलमुनयोऽष्ट दिशागजांते
(प्रपत्तिमुक्ताव० श्लो० १)

श्रीप्रतिवादिभयङ्करस्वामी १. श्रीदेवराजस्वामी २, श्रीभट्टनाथ स्वामी ३, श्री वेङ्कटयोगि स्वामी ४, श्रीरामानुजार्य स्वामी ५, श्रीवरदाचार्य स्वामी ६, श्रीप्रणतार्तिहारिस्वामी ७, और श्री तोताद्रिस्वामी ८, ये श्री संप्रदाय के भारवहन करनेवाले आठ दिग्गज हैं ॥१॥ श्रीशेषावतार भगवद्रा-

मानुजापरावतार श्रीवरवरमुनीन्द्र प्रतिष्ठापित अष्टदिग्गजों में मुख्य परिगणित—श्रीमल्लोकाचार्यस्वामी जी के वंशपरम्परा वाले श्रीकाञ्ची प्रतिवादिभयङ्करमठाधीश पिता को ही श्रौत स्मार्त तथा शिष्ट सदाचार के प्रमाण से गुरुवरण करते हैं। अतः सत्संप्रदायानुसार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिता अवश्य गुरु हो सकता है।

तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुःश्रोत्रं मनो वाचमिति। तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(तस्मै) उसभृगुऋषि के लिये (एतत्) यह आगे कहे जानेवाला वचन को (प्रोवाच) वरुणऋषि ने स्पष्ट कहा कि (अन्नम्) अन्न ब्रह्म है (प्राणम्) प्राण ब्रह्म है (चक्षुः) नेत्र ब्रह्म है (श्रोत्रम्) कर्ण ब्रह्म है (मनः) मन ब्रह्म है (वाचम्) वाणी ब्रह्म है (इति) इस प्रकार सुनकर व्याकुलचित्तवाला (तम्) उस भृगुऋषि से (ह) प्रसिद्ध (उवाच) वरुणमहर्षिने फिर कहा (वै) निश्चय करके (इमानि) ये ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त (भूतानि) सब प्राणी (यतः) जिससे (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं और,(जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (येन) जिसके आश्रय से (जीवन्ति) जीवित रहते हैं तथा (प्रयन्ति) अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुए (यत्) जिसमें (अभिसंविशन्ति) भलीभांति तादात्म्यभाव से प्रवेश करते हैं (तत्) उसको (विजिज्ञासस्व) विशेष रूप से जानने की इच्छा कर (तत्) वही (ब्रह्म) परब्रह्म है (इति) इस प्रकार वरुणमहर्षि की बात सुनकर (सः) वह भृगुऋषि ने (तपः) तपको (अतप्यत) किया (सः) वह भृगुऋषि (तपः) तपस्या (तप्त्वा) करके ॥१॥

विशेषार्थ—भले प्रकार से परमशान्तचित्त वाले बाह्येन्द्रियों को नियमन करने वाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु भृगुऋषि के लिये

ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता श्रोत्रिय वरुणमहर्षि नें वक्ष्यमाण उपदेश को दिया। क्योंकि "मुण्डकोपनिषद्" में लिखा है—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

(मुण्डको० मु० १ खं० २ श्रु० १३)

वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु अन्तः करण और बाह्येन्द्रियों के नियमन करने वाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु के लिये जिस विज्ञान से स्वरूप और गुण से विकार रहित परम पुरुष नारायण को जानता है उस वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या को यथावत् भलीभांति उपदेश करे ॥१३॥ इस श्रुति के नियमानुसार वरुण ऋषि ने कहा कि—हे तात अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी ये सभी ब्रह्म हैं। क्योंकि लिखा है—

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराणमग्र्यम् ॥

(बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० १८)

प्राण का प्राण नेत्र का नेत्र श्रोत्र का श्रोत्र अन्न का अन्न और मन का मन परब्रह्म ही है ऐसा जो जानते हैं वे पुरातन और श्रेष्ठ परब्रह्म नारायण को साक्षात् जान सकते हैं ॥१८॥ वरुणमहर्षि के उपदेश को सुनकर भृगुऋषि विचार करने लगे कि—अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी इन सबों के समुदाय को ब्रह्म कहते हैं या एक को ब्रह्म कहते हैं और उसमें भी ब्रह्म का लक्षण क्या है। इस प्रकार के बहुत विचार करने पर भी जब ब्रह्मतत्त्व निश्चय नहीं हुआ तब भृगुऋषि व्याकुल चित्त वाला हो गये। परम कारुणिक वरुणमहर्षि व्याकुल चित्त वाला भृगुऋषि को देख कर फिर से यह कहा—जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। और जिसके आश्रय से ये जन्म लेने के अनन्तर जीवित रहते हैं यानी प्राण धारण करते हैं अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तथा विनाशकाल उपस्थित होने पर इस लोक से प्रयाण करते हुए जिसमें भलीभांति से तादात्म्य भाव से प्रवेश करते हैं। उसको ही विशेष रूप से वास्तव में जानने की इच्छा कर वही परब्रह्म नारायण है। इस उपदेश को सुनकर भृगुऋषि ने ब्रह्मज्ञान के प्रति सबसे बड़ा साधन तपको समझा।

क्योंकि लिखा है—

तपसा देवा देवतामग्र आयन्तपसार्षयः सुवरन्वविन्दन् । तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात्तपः परमं वदन्ति ॥ (तैत्ति० आ० प्रपाठ० १० अनु० ६३)

देवता सब तप से पहले देवत्व को प्राप्त किये हैं और ऋषि सब तप से ही स्वर्ग लोक को प्राप्त किये हैं तथा तप से ही बड़े बड़े शत्रुओं को विजय किये हैं सब तप में ही प्रतिष्ठित है इससे सबसे श्रेष्ठ तप को वेद कहते हैं ॥६३॥ इस नियमानुसार वह भृगुऋषि तप को किया। तप के विषय में लिखा है—

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यतेबुधैः ॥ (जाबालदर्शनोप० खं० २ श्रु० ३)

वेदोक्त प्रकार से और कृच्छ्रचान्द्रायणादिक से जो शरीर को सुखाना है उसी को बुधजन तप कहते हैं ॥३॥ अथवा—

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ।
(महाभार० शान्तिप० अध्या० २५० श्लो० ४)

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही श्रेष्ठ तप है वह सब धर्मों से उत्कृष्ट है और वही परमधर्म कहा जाता है ॥४॥ और श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तपउच्यते ॥ गी० अ० १७ श्लो० १४)

देवता ब्राह्मण गुरु और ज्ञानी का पूजन शौच आर्जव ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है ॥१४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते गी० १७।१५)

उद्वेग न करने वाले सत्य प्रिय और हितकारक वाक्य तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाणी संबन्धी तप कहलाता है ॥१५॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते (गी० १७।१६)

मन की प्रसन्नता सौम्यता मौन आत्मविनिग्रह और भावसंशुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते (गी० १७।१७)

फल की आकांक्षा न रखने वाले युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ तपा हुआ वह तीन प्रकार का तप सात्त्विक कहलाता है ॥१७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् (गी० १७।१८)

जो तप सत्कार मान और पूजा के लिये तथा दम्भ के साथ किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहलाता है ॥१८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् (१७।१९)

जो तप मूढ आग्रह से आत्मा को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥१९॥

इसके बाद वह भृगुऋषि ने तपको कर के। कूरेशस्वामी के सदाचार्य भगवद्रामानुजाचार्य— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० १।१।१) जन्माद्यस्य यतः शा० मी० १।१।२ शास्त्रयोनित्वात् शा० मी० १।१।३ तत्तु समन्वयात् शा० मी० १।१।४ ईक्षतेर्नाशब्दम् शा० मी० १।१।५ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (शा० मी० १।१।२१) आकाशस्तल्लिङ्गात् (शा० मी० १।१।२३) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् शा० मी० १।२।१ नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः (शा० मी० २।३।१८) इतरेत्वर्थसामान्यात् शा० मी० ३।३।१३ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च शा० मी० ४।४।१७ इन इगारहों सूत्रों के श्री भाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद" की तृतीय भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक का—

"यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविषन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म । इस श्रुति को उद्धृत किये हैं । यहां भृगुवल्ली का प्रथम अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(अन्नम्) अन्न (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (व्यजानात्) भृगुऋषि ने जाना (हि) क्योंकि (खलु) सचमुच (अन्नात्) अन्न से (एव) ही (इमानि) ये सब (भूतानि) प्राणी (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं और (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (अन्नेन) अन्न से ही (जीवन्ति) जीते हैं तथा (प्रयन्ति) अन्त में यहां से प्रयाण करते हुए (अन्नम्) अन्न में ही (अभिसंविशन्ति) भलीभांति लीन हो जाते हैं (इति) इस प्रकार (तत्) उसको (विज्ञाय) जानकर वह (पुनः) फिर (पितरम्) अपने पिता (वरुणम्) वरुणऋषि के (एव) ही (उपससार) समीप में शास्त्रविधि के अनुसार गया और भृगुऋषि ने कहा (भगवः) हेपूजार्ह भगवन् (ब्रह्म) मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्म नाराण को (अधीहि) स्मरण कीजिये या उपदेश कीजिये (इति) इस प्रकार प्रार्थना करने पर तब (तम्) उस भृगुऋषि से (ह) सुप्रसिद्ध (उवाच) वरुणऋषि ने कहा (तपसा) तपसे (ब्रह्म) परब्रह्म को (विजिज्ञासस्व) विशेषरूप से जानने की इच्छा कर (तपः) तप ही (ब्रह्म) ब्रह्मविद्या का साधन है (इति) इस प्रकार वरुणऋषि की आज्ञा पाकर (सः) वह भृगुऋषि ने (तपः) तप को (अतप्यत) फिर किया (सः) वह सुप्रसिद्ध भृगु-

ऋषि (तपः) तपस्या (तप्त्वा) करके ॥१॥

विशेषार्थ—भृगुऋषि ने वरुणमहर्षि के उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है। क्योंकि गुरुदेवजी ने ब्रह्म के जो लक्षण बताये थे वे सब अन्न में पाये जाते हैं। समस्त प्राणी अन्न से यानी अन्न के परिणाम भूत वीर्य से उत्पन्न होते हैं। और अन्न से ही उत्पन्न हुए सब प्राणी वृद्धि प्राप्त करके सुरक्षित रहते हैं। तथा मरने के बाद अन्न स्वरूप इस पृथिवी में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय करके। फिर अन्न की उत्पत्ति देखने से भृगुऋषि को संशय हो गया। तब पुनः समिधा पुष्प आदि हांथ में लेकर अपने पिता वरुणमहर्षि के समीप में गये और भेंट उनको समर्पण कर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सविनय बोले कि हे पूज्यपाद भगवन् मैं परब्रह्म को जानना चाहता हूं। अभी मैं ठीक नहीं समझा हूं। अतः आप कृपा करके मुझे परब्रह्म नारायण को समझाइये। तब भले प्रकार से परमशान्तचित्तवाले वाह्येन्द्रियों को नियमन करनेवाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षुभृगुऋषि से वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुण महर्षि ने कहा कि— तू तप के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को समझने की कोशिश कर। तप ही ब्रह्मविद्या का साधन है। इस प्रकार वरुण महर्षि की आज्ञा पाकर वह भृगुऋषि ने पहले की भांति फिर तप को किया। इसके बाद वह जिज्ञासु भृगुऋषि तप को करके। अन्न के विषय में लिखा है—

अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मदन्नं तदुच्यते।

(तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २)

अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह सब प्राणियों को खाता है। इसीसे वह अन्न कहा जाता है ॥२॥ यहां जो बारंबार तप का उपदेश किया गया है वह ब्रह्मविद्या का प्रधान साधनत्व प्रदर्शित करने के लिये है। इससे जब तक ब्रह्मजिज्ञासा शान्त न हो तब तक तप ही करना चाहिये। दाशरथिस्वामि के चरमार्थप्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य। अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (शा० मी० १।१।२०) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के द्वितीय अनुवाक का "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के द्वितीय अनुवाक समाप्त हो गया।

॥ अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(प्राणः) प्राण (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (व्यजानात्) भृगुऋषि ने जाना (हि) क्योंकि (खलु) सचमुच (प्राणात्) प्राण से (एव) ही (इमानि) ये समस्त (भूतानि) प्राणी (जातन्ते) उत्पन्न होते हैं और (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (प्राणेन) प्राण से ही (जीवन्ति) जीते हैं तथा (प्रयन्ति) अन्त में यहां से प्रयाण करते हुए (प्राणम्) प्राण में ही (अभिसंविशन्ति) सब प्रकार से लीन हो जाते हैं (इति) इस प्रकार (तत्) उसको (विज्ञाय) जानकर वह भृगुऋषि ने (पुनः) फिर (पितरम्) अपने पिता (वरुणम्) वरुण ऋषि के (एव) ही (उपससार) समीप में शास्त्र विधि के अनुसार गया और उसने कहा (भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (ब्रह्म) मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्म नारायण को (अधीहि) स्मरण कीजिये या उपदेश दीजिये (इति) इस प्रकार प्रार्थना करने पर तब (तम्) उस भृगुऋषि से (ह) सुप्रसिद्ध (उवाच) वरुणमहर्षि ने कहा (तपसा) तप से (ब्रह्म) परब्रह्म को (विजिज्ञासस्व) विशेष रूप से जानने की इच्छा कर (तपः) तप ही (ब्रह्म) ब्रह्मविद्या का साधन है (इति) इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर (सः) वह भृगु ऋषि ने (तपः) तप को (अतप्यत) फिर किया (सः) वह जिज्ञासु भृगु ऋषि (तपः) तपस्या (तप्त्वा) करके ॥१॥

विशेषार्थ—भृगु ऋषि ने वरुणमहर्षि के उपदेशानुसार तप के द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है। क्योंकि गुरुदेव जी ने ब्रह्म के जो

लक्षण वताये थे वे सब प्राण में पाये जाते हैं। समस्त प्राणी प्राण से उत्पन्न होते हैं। तथा उत्पन्न हुए सब प्राणी प्राण से ही जीते हैं। यदि श्वास का आना जाना वन्द हो जाय, यदि प्राण द्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्न का रस समस्त शरीर में न पहुँचाया जाय तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। और मरने के बाद सब प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीर में प्राण नहीं रहते अतः निःसंदेह प्राण ही परब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करने के बाद फिर प्राण की उत्पत्ति सुनने से या देखने से भृगुऋषि को संदेह हो गया। तब पुनः समिधा पुष्प फल आदि हांथ में लेकर अपने पिता वरुणमहर्षि के समीप में गये। और भेंट समर्पण कर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोले। हे पूज्यपाद भगवन् मैं परब्रह्म को जानना चाहता हूँ। अभीतक मैं ठीक नहीं समझा हूँ। अतः कृपा करके मुझे परब्रह्म नारायण को समझाइये। तब भले प्रकार से परमशान्तचित्तवाले बाह्येन्द्रियों को नियमन करने वाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु भृगुऋषि से वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणमहर्षि ने कहा। तू तप के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को समझने की कोशिश कर। तप ही ब्रह्मतत्त्व को जानने का प्रधान साधन है। इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर वह भृगुऋषि ने पहले की भांति फिर तप को किया इसके बाद वह जिज्ञासु भृगुऋषि तप को करके। प्राण के विषय में लिखा है—

चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतितिष्ठते।

(प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५)

अपने आप प्राण मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित होता है ॥५॥

नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

(नारायणोप० श्रु० १)

परब्रह्म नारायण से प्राण तथा मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न हुईं ॥१॥ ब्रह्मविद्या का प्रधान साधन तप है इस बात को जनाने के लिये यहां वारंवार तप का उपदेश किया गया है। इससे जब तक ब्रह्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान न हो तब तक तप ही करना चाहिये। धनुर्धरमल्ल के लिये अभयहस्त

प्रदाता भगवद्रामानुजाचार्य –

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। (शा० मी० १।१।२०) के श्री भाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के तृतीय अनुवाक का "प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के तृतीय अनुवाज समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति सतपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—(मनः) मन (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (व्यजानात्) भृगु ऋषि ने जाना (हि) क्योंकि (खलु) सचमुच (मनमः) मनसे (एव) ही (इमानि) ये समस्त (भूतानि) प्राणी (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं और (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (मनसा) मन से ही (जीवन्ति) जीते हैं तथा (प्रयन्ति) अन्त में यहां से प्रयाण करते हुए (मनः) मन में ही (अभिसंविशन्ति) सब प्रकार से लीन हो जाते हैं (इति) इस प्रकार (तत्) उस ब्रह्म को (विज्ञाय) जानकर वह भृगु ऋषि ने (पुनः) फिर (पितरम्) अपने पिता (वरुणम्) वरुण ऋषि के (एव) ही (उपससार) समीप में शास्त्रविधि के अनुसार गया और उसने कहा (भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (ब्रह्म) मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्मनारायण को (अधीहि) स्मरण कीजिये या उपदेश दीजिये (इति) इस प्रकार प्रार्थना करने पर तब (तम्) उस भृगुऋषि से (ह) सुप्रसिद्ध (उवाच) वरुणमहर्षि ने कहा (तपसा) तप से (ब्रह्म) परब्रह्म को (विजिज्ञासस्व) विशेष रूप से जानने की इच्छा कर (तपः) तप ही (ब्रह्म) ब्रह्मविद्या का साधन है (इति) इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर (सः) वह भृगुऋषि ने (तपः) तप

को (अतप्यत) फिर किया (सः) वह जिज्ञासु भृगुऋषि (तपः) तपस्या (तप्त्वा) करके ॥१॥

विशेषार्थ—भृगुऋषि ने वरुणमहर्षि के उपदेशानुसार तप के द्वारा यह निश्चय किया कि मनही ब्रह्म है। क्योंकि गुरुदेव जी ने ब्रह्म के जो लक्षण बताये थे वे सब मन में पाये जाते हैं। मन से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं—स्त्री और पुरुष के मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से ही प्राणी बीज रूप से माता के गर्भ में आकर उत्पन्न होते हैं। तथा उत्पन्न हुए सब प्राणी मन से ही जीते हैं। उत्पन्न होकर मन से ही इन्द्रियों द्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग करके जीवित रहते हैं। और मरने के बाद सब प्राणी मन में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। मरने के वाद इस शरीर में प्राण और इन्द्रियां नहीं रहतीं इसलिये मन ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करने के बाद फिर मन की उत्पत्ति सुनने से या देखने से भृगुऋषि को संशय हो गया। तब पुनः समिधा पुष्प फल आदि हांथ में लेकर अपने पिता वरुणमहर्षि के समीप में गये। और भेंट समर्पणकर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोले। हे पूज्यपाद भगवन् मैं परब्रह्म को जानना चाहता हूँ। अभी तक मैं ठीक नहीं समझा हूँ। अतः कृपा करके मुझे परब्रह्म नारायण को समझाइये। तब भले प्रकार से परम शान्तचित्तवाले बाह्येन्द्रियों को नियमन करनेवाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु भृगुऋषि से वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणमहर्षि ने कहा। तू तप के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को समझने की कोशिश कर। तपही ब्रह्मतत्त्वको जानने का प्रधान साधन है। इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर वह भृगुऋषि ने पहले की भांति फिर तप को किया। इसके बाद वह जिज्ञासु भृगुऋषि तप को करके। मन के विषय में लिखा है—

प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नम् (प्रश्नोप० प्र० ६ श्रु० ४) वह परब्रह्म नारायण प्राण को रचा फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न को उत्पन्न किया ॥४॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

(मुण्डकों० मु० २ खं० १ श्रु० ३)

इस परब्रह्मनारायण से प्राण तथा मन और समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ॥३॥

नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

(नारायणोप० श्रु० १)

परब्रह्मनारायण से प्राण तथा मन और समस्त इन्द्रियां उत्पन्न होती है॥ १ ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥

(ब्रह्मविन्दूप० श्रु० १)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥२॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥३॥

निश्चय करके शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से मन दो प्रकार का कहा गया है। काम संकल्पयुक्त मन अशुद्ध है और काम विवर्जित मन शुद्ध है ॥१॥ मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष में कारण है। विषयासक्त मन बन्धन के लिये कहा गया है और विषय रहित मन मोक्ष के लिए कहा गया है। ॥२॥ जिस कारण से विषय रहित इस मन को मोक्ष कहा गया है इससे मुमुक्षु पुरुषों को चाहिये कि सर्वदा विषय रहित मन को करें ॥३॥ ब्रह्मविद्या का प्रधान साधन तप है इस बात को जानने के लिये यहां बारंबार तप का उपदेश किया गया है। इससे जब तक ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान न हो तब तक तप ही करना चाहिये। ब्रह्मराक्षसमोचक भगवद्रामानुजाचार्य—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (शा० मी० १।१।२०) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के चतुर्थ अनुवाक का "मनो ब्रह्मेति व्यजानात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली का चतुर्थ अनुवाक समाप्त हो गया।

॥ अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थः—(विज्ञानम्) जीवात्मा (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (व्यजानात्) भृगुऋषि ने जाना (हि) क्योंकि (खलु) सचमुच (विज्ञानात्) जीवात्मा से (एव) ही (इमानि) ये समस्त (भूतानि) प्राणी (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं और (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (विज्ञानेन) जीवात्मा से ही (जीवन्ति) जीते हैं तथा (प्रयन्ति) यहां से प्रयाण करते हुए अन्त में (विज्ञानम्) जीवात्मा में ही (अभिसंविशन्ति) सब प्रकार से लीन हो जाते हैं (इति) इस प्रकार (तत्) उस ब्रह्म को (विज्ञाय) जानकर वह भृगुऋषि ने (पुनः) फिर (पितरम्) अपने पिता (वरुणम्) वरुणमहर्षि के (एव) ही (उपससार) समीप में शास्त्र विधि के अनुसार गया और उसने कहा (भगवः) हे पूजार्ह भगवन् (ब्रह्म) मुझे ब्रह्म का उपदेश देने के लिये परब्रह्म नारायण को (अधीहि) स्मरण कीजिये या उपदेश दीजिये (इति) इस प्रकार प्रार्थना करने पर तब (तम्) उस भृगुऋषि से (ह) सुप्रसिद्ध (उवाच) वरुणमहर्षि ने कहा (तपसा) तपसे (ब्रह्म) परब्रह्म को (विजिज्ञासस्व) विशेषरूप से जानने की इच्छाकर (तपः) तपही (ब्रह्म) ब्रह्म-विद्या का साधन है (इति) इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर (सः) वह भृगुऋषि ने (तपः) तप को (अतप्यत) फिर किया (सः) वह जिज्ञासु भृगु-ऋषि (तपः) तपस्या (तप्त्वा) करके ॥१॥

विशेषार्थ—भृगुऋषि ने वरुण महर्षि के उपदेशानुसार अब तप के द्वारा यह निश्चय किया कि विज्ञान यानी जीवात्मा ही ब्रह्म है। इस श्रुति

में "विज्ञान" शब्द जीवात्मा वाचक है। क्योंकि यहां पर—

कृत्यल्युटो वहुलम्। (पा० व्या० अ० ३ पा० ३ सू० ११३) इस सूत्र से जानता है इस अर्थ में "ल्युट्" प्रत्यय होता है। अथवा—

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। (पा० व्या अ० ३ पा० १ सू० १३४) इस सूत्र से कर्ता में "ल्यु" प्रत्यय होता है। और भी लिखा है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।

(तैत्ति० उ० व० २ अनु० ५ श्रु० १)

जीवात्मा यज्ञ को विस्तार करता है और कर्मों को भी विस्तार करता है ॥१॥ इससे जीवात्मा ही ब्रह्म है। क्योंकि गुरुदेव जी ने ब्रह्म के जो लक्षण बताये थे वे सब जीवात्मा में पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी जीवात्मा से ही उत्पन्न होते हैं सजीव चेतन प्राणियों से ही प्राणियों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। तथा उत्पन्न हुए सब प्राणी जीवात्मा से ही जीते हैं यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन इन्द्रियां प्राण आदि कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना अपना काम नहीं कर सकते। तथा मरने के बाद ये मन आदि सब जीवात्मा में ही प्रविष्ट हो जाते हैं—जीव के निकल जाने पर मृत शरीर में ये सब देखने में नहीं आते हैं। अतः जीवात्मा ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करने के बाद फिर जीव के नरकादिक की यातना सुनने से और बहुतों के एक काल में जन्म मरण आदिक देखने से भृगु ऋषि को सन्देह हो गया। तब पुनः समिधा पुष्प आदि हाथ में लेकर अपने पिता वरुणमहर्षि के समीप में गये। और भेट समर्पण कर श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके सविनय प्रेम से बोले। हे षडैश्वर्य सम्पन्न पूज्यपाद मैं परब्रह्म को जानना चाहता हूँ। अभी तक मैं ठीक नहीं समझता हूँ। अतः कृपा करके मुझे परब्रह्म नारायण को समझाइये। तब भले प्रकार से परमशान्त चित्त वाले बाह्येन्द्रियों को नियमन करने वाले शरण में आये हुए उस मुमुक्षु भृगुऋषि से वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वरुणमहर्षि ने कहा। तप के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को समझने की कोशिश कर। तप ही ब्रह्मतत्त्व को जानने का प्रधान साधन है। इस प्रकार वरुणमहर्षि की आज्ञा पाकर वह भृगुऋषि पहले के समान फिर तप को किया। इसके बाद वह जिज्ञासु

भृगुऋषि तप को ब्रह्मविद्या का प्रधान साधन तप है इस बात को जनाने के लिये यहां बारंबार तप का उपदेश किया गया है। इससे जब तक ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान यथार्थ न हो तब तक तप ही करना चाहिये। शारदाशोकनाशक भगवद्रामानुजाचार्य —

अस्मिन्नस्य च तद्योगंशास्ति। (शा० मी० १।१।२०) के श्री भाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली का पञ्चम अनुवाक के "विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के पञ्चम अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव। खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति। प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ — (आनन्दः) आनन्दगुण वाला परमात्मा ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इस प्रकार (व्यजानात्) भृगुऋषि ने जाना (हि) क्योंकि (खलु) सच मुच (आनन्दात्) आनन्द गुण वाला परमात्मा से (एव) ही (इमानि) ये समस्त (भूतानि) प्राणी (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं और (जातानि) उत्पन्न हुए सब प्राणी (आनन्देन) आनन्दगुण वाला परमात्मा से ही (जीवन्ति) जीते हैं तथा (प्रयन्ति) अन्त में यहां से प्रयाण करते हुए (आनन्दम्) आनन्द गुण वाला परमात्मा में ही (अभिसंविशन्ति) सब प्रकार से लीन हो जाते हैं (इति) इस प्रकार (सा) वह अन्न से ... हुई (एषा) यह

(भार्गवी) भृगुऋषि की जानी हुई और (वारुणी) वरुणमहर्षि की कही हुई (विद्या) विद्या (परमे) सबसे उत्कृष्ट (व्योमन्) परब्रह्म नारायण में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है अर्थात् वहीं इसका पर्यवसान होता है (यः) जो कोई उपासक (एवम्) इस प्रकार आनन्दगुण वाला परब्रह्म को (वेद) जानता है यानी उपासना करता है (सः) वह उपासक (प्रतितिष्ठिति) परब्रह्म नारायण में स्थित हो जाता है और (अन्नवान्) बहुत अन्न वाला तथा (अन्नादः) अन्न भक्षण करने में समर्थ दीप्ताग्नि (भवति) हो जाता है तथा (प्रजया) संतान से (पशुभिः) गौ अश्व आदि पशुओं से और (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से संपन्न होकर (महान्) बड़ा (भवति) हो जाता है और (कीर्त्या) उत्तम कीर्ति से भी (महान्) बड़ा (भवति) हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ—भृगुऋषि ने वरुणमहर्षि के उपदेशानुसार तप के द्वारा यह निश्चय किया कि आनन्दगुण वाला परमात्मा ही ब्रह्म है। इस श्रुति में "आनन्द" शव्द आनदगुणवाला परमात्माका वाचक है। क्योंकि लिखा है-

स एको ब्रह्मण आनन्दः। (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ८ श्रु० ४)

वह एक परब्रह्म नारायण के आनन्दगुण है ॥४॥ **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।** (तै० उ० व० २ अनु० ९ श्रु० १) परब्रह्म नारायण के आनन्दगुण को जानने वाला ॥१॥ **यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।** (तै०उ०व० २ अनु० ७) यदि आकाश की भांति व्यापक परब्रह्म नारायण अपरिच्छिन्न आनन्दरस नहीं होता ॥७॥ इससे अपरिच्छिन्न आनन्दरस परमात्मा ही परब्रह्म है। क्योंकि गुरुदेव जी ने ब्रह्म के जो लक्षण बताये थे वे सब पूर्णरूप से आनन्द गुण वाला परमात्मा में ही पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी आनन्दगुण वाला परब्रह्म परमात्मा से ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं। तथा उत्पन्न हुए सब प्राणी परब्रह्म नारायण के आनन्दगुण का लेश पाकर ही जीते हैं। और प्रलयकाल में उसी आनन्दगुण वाला परब्रह्म नारायण में ही सब प्रकार से लीन हो जाते हैं। इस प्रकार वह अन्नमय से प्रारम्भ हुई यह भृगुऋषि की जानी हुई और वरुणमहर्षि की कही हुई ब्रह्मविद्या सबसे उत्कृष्ट आकाश के समान विशुद्ध व्यापक आनन्दमय परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित है। अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय को अतिक्रमण करके आनन्दमय परब्रह्म नारायण में ही पर्यवसान हो जाती है।

परब्रह्म नारायण की उपासना का फल श्रुति प्रतिपादन करती है कि—जो उपासक इस प्रकार आनन्दगुण वाला परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह उपासक आनन्दमय परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है। और वह नाना प्रकार के जीवनोपयोगी बहुत अन्न से सम्पन्न हो जाता है। तथा वह बहुत अन्न भक्षण करने में समर्थ दीप्ताग्नि हो जाता है। इतना नहीं वह पुत्र आदि प्रजा से गौ अश्व आदि पशुओं से ब्रह्मतेज से और बड़े भारी कीर्ति से समृद्ध होकर जगत् में सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। पशु के विषय में लिखा है—

सप्तग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः। (श्रुति०) सात ठो ग्राम में होने वाले और सात ठो वन में होने वाले पशु हैं। उन सबों का नाम विष्णुपुराण में लिखा है—

गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
एतान्ग्राम्यान्पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥

(विष्णु पु० अंश० १ अध्या० ५ श्लो० ५१)

श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षिपञ्चमाः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥५२॥

गौ १, बकरा २, पुरुष ३, भेंड़ा ४, घोड़ा ५, खच्चर ६ और गदहा ७ इन सात को ग्राम्य पशु महर्षि सब कहते हैं और अब आरण्य सात पशुओं को तुम मुझसे जान लो ॥५१॥ कुत्ता १, दो खुर वाले २, हाथी ३, बानर ४, पक्षि ५, औदक जीव ६ और सरीसृप ७ ये सात वन में होने वाले पशु हैं ॥५२॥ काशी में नागकूप पर सहस्रमुख से उत्तर देने वाले भगवद्रामानुजाचार्य—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। (शा० मी० १।१।१) तत्तु समन्वयात्। (शा० मी० १।१।४) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। (शा० मी० १।१।२०) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्। (शा० मी० १।१।३२) परिणामात्। (शा० मी० १।४।२७) इतरे त्वर्थसामान्यात्। (शा० मी० ३।३।१३) इन छवों सूत्रों के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद" की भृगुवल्ली के षष्ठ

अनुवाक के "आनन्दो ब्रह्म" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और–सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । (शा० मी० १।२।१) तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । (शा०मी० २।३।२९) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और-सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । (शा० मी० १।२।१) के श्रीभाष्य में – "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इस खण्ड को भी उद्धृत किये हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के षष्ठ अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति । प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—भगवदुपासक (अन्नम्) अन्न को (न) नहीं (निन्द्यात्) निन्दा करे (तत्) वह (व्रतत्) भगवदुपासक का व्रत है (प्राणः) प्राण (वै) ही (अन्नम्) अन्न है और (शरीरम्) शरीर (अन्नादम्) अन्न का भोक्ता है (शरीरम्) शरीर (प्राणे) प्राण के आधार पर (प्रतिष्ठितम्) स्थित हो रहा है और (प्राणः) प्राण (शरीरे) शरीर में (प्रतिष्ठितः) स्थित है (तत्) सो (एतत्) यह (अन्नम्) अन्न (अन्ने) अन्न में ही (प्रतिष्ठितम्) स्थित हो रहा है (यः) जो मनुष्य (एतत्) इस (अन्नम्) अन्न को (अन्ने) अन्न में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित (वेद) जानता है (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित (वेद) जानता है (सः) वह (प्रतितिष्ठति) उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है अतः

(अन्नवान्) बहुत अन्न वाला और (अन्नादः) अन्न भक्षण की शक्ति वाला दीप्ताग्नि (भवति) हो जाता है तथा (प्रजया) संतान से (पशुभिः) गौ अश्व आदि पशुओं से (ब्रह्म वर्चसेन) और ब्रह्मतेज से संपन्न होकर (महान्) बड़ा (भवति) हो जाता है तथा (कीर्त्या) उत्तम कीर्ति से भी (महान्) बड़ा हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ—अब वारुणी विद्या के अङ्ग व्रत को श्रुति प्रतिपादन करके अन्न का महत्त्व तथा उसे जानने का फल बतलाती है—अन्न के द्वारा ही परब्रह्म को जाना है इससे ब्रह्मवेत्ता भगवदुपासक कभी अन्न की निन्दा न करे। यह ब्रह्मवेत्ता का व्रत है। इस व्रत का उपदेश अन्न की स्तुति के लिये किया गया है। प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण शरीर में स्थित है और प्राणशक्ति से ही अन्नमय शरीर में जीवनी शक्ति आती है तथा प्राण ही शरीर में अन्न के रस को सर्वत्र फैलाता है इस लिये प्राण अन्न है। शरीर प्राण के ही आधार टिका हुआ है इसी लिये वह शरीर प्राणरूप अन्न का भोक्ता अन्नाद है। इसी प्रकार शरीर अन्न है और प्राण अन्नाद है। शरीर प्राण में स्थित है क्योंकि शरीर की स्थिति प्राण के अधीन है इसलिये शरीर अन्न है। और यह अनुभव सिद्ध विषय है कि प्राणों को आहार न मिलने पर वे शरीर की धातुओं को ही सोख लेते हैं इस लिए प्राण अन्नाद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राण और शरीर ये दोनों ही अन्न और अन्नाद हैं। जो भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जानता है। वह भगवद्भक्त आनन्दमय परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है। और वह नाना प्रकार के जीवनोपयोगी बहुत अन्न से संपन्न हो जाता है। तथा वह बहुत अन्न भक्षण करने में समर्थ दीप्ताग्नि हो जाता है। इतना ही नहीं वह पुत्र आदि प्रजा से गौ अश्व आदि पशुओं से ब्रह्मतेज से और बड़ी भारी कीर्ति से समृद्ध होकर जगत् में सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। व्रत के विषय में लिखा है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि। (यजु० अ० १ मं० ५) हे व्रतपते अग्नि शब्द वाच्य परब्रह्म नारायण में व्रत धारण करता हूँ ॥५॥

वयं सोम व्रते तव। (यजु० अ० ३ मं० ५६) हे सोम पद वाच्य परब्रह्म नारायण हम आपके व्रत में स्थित हैं ॥५६॥ **व्रतमुपैष्यन्।**

शतपथब्रा० १।१।१।१) व्रत को प्राप्त करता हुआ ॥१॥ और मनुस्मृति में लिखा है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

(मनु० अ० २ श्लो० २८)

वेदाध्ययन से व्रतों से चरु होमादि से त्रैविद्य से इज्या से पुत्रोत्पादन से पञ्च महायज्ञों से और ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से ब्रह्म प्राप्ति के योग्य यह शरीर किया जाता है ॥२८॥ प्रकृत इस श्रुति में "प्रतिष्ठितं वेद" इस वाक्य का दो बार उच्चारण "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के सप्तम अनुवाक की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उपदेश की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के सप्तम अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति । प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—भगवदुपासक (अन्नम्) भोजन के लिये प्राप्त पात्रस्थ अन्न को (न) नहीं (परिचक्षीत) परित्याग करे (तत्) वह (व्रतम्) भगवदुपासक का व्रत है (आपः) जल (वै) ही (अन्नम्) अन्न है और (ज्योतिः) तेज (अन्नादम्) अन्न का भोक्ता है (अप्सु) जल में (ज्योतिः) तेज (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (ज्योतिषि) ज्योति में (आपः) जल (प्रतिष्ठिताः) स्थित है (तत्) सो (एतत्) यह (अन्नम्) अन्न (अन्ने) अन्न में (प्रतिष्ठितम्)

प्रतिष्ठित है (यः) जो भगवद्भक्त (एतत्) इस (अन्नम्) अन्न को (अन्ने) अन्न में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्टित (वेद) जानता है (सः) वह भगवदुपासक (प्रतिष्ठिति) अन्त में परब्रह्मनारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है और (अन्नवान्) बहुत अन्नवाला तथा (अन्नादः) अन्न भक्षण की शक्तिवाला दीप्ताग्नि (भवति) हो जाता है तथा (प्रजया) संतान से (पशुभिः) गौ अश्व आदि पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) और ब्रह्मतेज से संपन्न होकर (महान्) बड़ा (भवति) हो जाता है तथा (कीर्त्या) कीर्ति से भी (महान्) बड़ा हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस अनुवाक में जल और तेज दोनों को अन्नरूप बताकर उन्हें जानने का फल श्रुति प्रतिपादन करती है। अन्न के द्वारा ही परब्रह्म को जाना है। इससे ब्रह्मवेत्ता भगवदुपासक भोजन के लिये प्राप्त पात्रस्थ अन्न को कभी परित्याग न करे। यह भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता का व्रत है। इस व्रत का उपदेश अन्न की स्तुति के लिये किया गया है। जल ही अन्न है। क्योंकि सब प्रकार के अन्न यानी खाद्यवस्तुएँ जल से ही उत्पन्न होती हैं। और तेज ही इस जल रूप अन्न को भक्षण करनेवाला अन्नाद है। जिस प्रकार अग्नि एवं सूर्यरश्मियां आदि बाहर के जल का शोषण करती हैं। उसी प्रकार शरीर में रहनेवाली जठराग्नि शरीर में जानेवाले जलों का शोषण करती है। जल में तेज प्रतिष्ठित है। यद्यपि जल स्वभावतः ठंडा है अतएव उसमें उष्णज्योति कैसे स्थित है यह बात समझ में नहीं आती तथापि शास्त्रों में यह माना गया है कि समुद्र में बडवानल रहता है। तथा आजकल के वैज्ञानिक भी जल में से बिजली निकालते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जल में तेज स्थित है। इसी प्रकार तेज में जल स्थित है। यह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है कि सूर्य की प्रखर किरणों में स्थित जल ही हमलोगों के सामने वृष्टि के रूप में प्रत्यक्ष होता है। इससे सिद्ध होता है कि जल और तेज ये दोनों ही अन्न हैं। जो भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जानता है। वह प्रपन्न आनन्दमय परब्रह्मनारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है। और वह नाना प्रकार के जीवनोपयोगी बहुत अन्न से संपन्न हो जाता है। तथा वह बहुत अन्न भक्षण करने में समर्थ दीप्ताग्नि हो जाता है।

इतना ही नहीं वह पुत्र आदि प्रजा से गौ अश्व आदि पशुओं से ब्रह्मतेज से और बड़ी भारी कीर्ति से समृद्ध होकर जगत् में सब से महान् हो जाता है। वहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के अष्टम अनुवाक समाप्त हो गया ॥१॥

॥ अथ नवमोऽनुवाकः ॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठतंवेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति। प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥१॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥

अन्वयार्थ—भगवदुपासक (अन्नम्) अतिथि अभ्यागत स्वजनों की सेवा केलिये अन्न को (बहु) बहुत (कुर्वीत) करे यानी बढ़ावे (तत्) वह (व्रतम्) भगवदुपासक का व्रत है (पृथिवी) पृथिवी (वै) ही (अन्नम्) अन्न है और (आकाशः) आकाश (अन्नादः) पृथिवी रूप अन्न का भोक्ता है (पृथिव्याम्) पृथिवी में (आकाशः) आकाश (प्रतिष्ठितः) स्थित है और (आकाशे) आकाश में (पृथिवी) पृथिवी (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित है (तत्) सो (एतत्) यह (अन्नम्) अन्न (अन्ने) अन्न में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित है (यः) जो भगवदुपासक (एतत्) इस (अन्नम्) अन्न को (अन्ने) अन्न में (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठत (वेद) जानता है (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित (वेद) जानता है (सः) वह भगवदुपासक (प्रतितिष्ठति) अन्त में परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है और (अन्नवान्) बहुत अन्नवाला तथा (अन्नादः) अन्न भक्षण की शक्ति वाला दीप्ताग्नि (भवति) हो जाता है और (प्रजया) संतान से (पशुभिः) गौ अश्व आदि पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) तथा ब्रह्मतेज से संपन्न होकर (महान्) बड़ा (भवति) हो जाता है और (कीर्त्या) उत्तम कीर्ति से भी (महान्) बड़ा हो जाता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस अनुवाक में पृथिवी और आकाश इन दोनों को अन्नरूप बतलाकर उन्हें जानने का फल श्रुति प्रतिपादन करती है। ब्रह्मवेत्ता भगवदुपासक अतिथि अभ्यागत भगवद्भागवत और आचार्य की सेवा करने के लिये खूब अधिक अन्न को बढ़ावे। क्योंकि अन्न को बढ़ाना भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता का व्रत है। इस व्रत का उपदेश अन्न की स्तुति के लिये किया गया है। पृथिवी ही अन्न है। क्योंकि जितने भी अन्न हैं वे सब पृथिवी से ही उत्पन्न होते हैं। और पृथिवी को अपने में विलीन कर लेने वाला इसका आधार भूत आकाश ही अन्नाद यानी इस अन्न का भोक्ता है। पृथिवी में आकाश स्थित है क्योंकि वह आकाश व्यापक है। और आकाश में पृथिवी स्थित है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये दोनों ही एक दूसरे के आधार होने के कारण अन्न हैं। इस लिये अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित हैं। जो भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता इस प्रकार अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जानता है वह भगवदुपासक अन्त में आनन्दमय परब्रह्म नारायण में प्रतिष्ठित हो जाता है। और वह नाना प्रकार के जीवनोपयोगी बहुत अन्न से संपन्न हो जाता है। तथा वह बहुत अन्न भक्षण करने में समर्थ दीप्ताग्नि हो जाता है। इतना ही नहीं वह पुत्र आदि प्रजा से गौ अश्व आदि पशुओं से ब्रह्मतेज से और बड़ी भारी कीर्ति से समृद्ध होकर जगत् में सबसे महान् हो जाता है। प्रकृत इस श्रुति में "प्रतिष्ठितं वेद" इस वाक्य का दो बार उच्चारण "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के नवम अनुवाक की समाप्ति का सूचन करता हुआ उक्त उदेश की निश्चिता को भी प्रतिपादन करता है। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के नवम अनुवाक समाप्त हो गया ॥९॥

॥ अथ दशमोऽनुवाकः ॥

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नं राद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नं राद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते । एतद्वा अन्त-

तोऽन्नं राद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते ॥१॥

अन्वयार्थ—भगवदुपासक (वसतौ) अपने घर पर भोजन के लिये आये हुए (कञ्चन) किसी भी मनुष्य को (न) नहीं (प्रत्याचक्षीत) निषेध करे (तत्) वह (व्रतम्) भगवदुपासक का व्रत है (तस्मात्) तिस कारण से अतिथि सत्कार के लिये (यया) जिस (कया) किसी (च) भी (विधया) प्रकार से (बहु) बहुत सा (अन्नम्) अन्न को (प्राप्नुयात्) संपादन करे क्योंकि (अस्मै) इस घर पर आये हुए भागवत के लिये (अन्नम्) अन्न (अराधि) सिद्ध हो गया (इति) ऐसा (आचक्षते) सन्त लोग कहते हैं यदि वह उपासक (मुखतः) मुख्यवृत्ति से यानी अधिक प्रेम और सत्कार से (एतत्) यह (राद्धम्) तैयार किया हुआ (अन्नम) अन्न देता है तो (वै) निश्चय ही (अस्मै) इस अन्नदाता के लिये (मुखतः) अधिक आदर सत्कार के साथ ही (अन्नम्) अन्न (राध्यते) प्राप्त होता है और यदि वह उपासक (मध्यतः) मध्यम श्रेणी की श्रद्धा और प्रेम से (एतत्) यह (राद्धम्) सिद्ध तैयार किया हुआ (अन्नम्) अन्न भागवत के लिये देता है तो (वै) निश्चय ही (अस्मै) इस अन्नदाता के लिये (मध्यतः) मध्यम श्रद्धा और प्रेम से ही (अन्नम्) अन्न (राध्यते) प्राप्त होता है तथा यदि वह उपासक (अन्ततः) निकृष्ट श्रद्धा सत्कार से (एतत्) यह (राद्धम्) सिद्ध तैयार किया हुआ (अन्नम्) अन्न अतिथि महात्मा के लिये देता है तो (वै) अवश्य ही (अस्मै) इस अन्नदाता के लिये (अन्ततः) निकृष्ट श्रद्धा आदि से ही (अन्नम्) अन्न (राध्यते) प्राप्त होता है ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में आये हुए महात्मा की सेवा का महत्त्व और फल बताया गया है कि—सज्जन लोग अपने घर पर भोजन के लिये आये हुए किसी भी मनुष्य को निषेध न करें। क्योंकि आये हुए किसी भी मनुष्य को सूखा जबाब देकर नहीं लौटाना ही भगवदुपासक ब्रह्मवेत्ता का व्रत है। क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ (मनु० ३।९९)

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १००॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥
एकरात्रं तु निवसन्नतिथि र्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥१०२॥

घर पर अपने से आया हुआ अतिथि के लिये शास्त्र विधान के अनुसार सत्कार स्वागत करके आसन तथा जल देकर अपनी शक्ति के अनुसार अन्न दे ॥९९॥ कटे हुए खेत में जो पड़ा हुआ बाकी रह जाता है उसको "शिल" कहते हैं उस शिल से जीविका करने वाले और दक्षिणाग्नि १, गार्हपत्य २, आहवनीय ३, आवसथ्य ४ और सभ्य ५ इन पांचों अग्नियों में हवन करते हुए पुरुषों के सब पुण्य को बिना पूजा हुआ अतिथि बसता हुआ ले लेता है ॥१००॥ तृण १, पृथिवी २, जल ३ और चौथी सुन्दर प्रियवाणी ४ ये चार वस्तु सज्जनों के घर में कभी नहीं नष्ट होते हैं ॥१०१॥ केवल एक रात्रि पराये घर में वसता हुआ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सदा न रहने से अतिथि होता है। नहीं है दूसरी तिथि जिसकी वह अतिथि कहा जाता है ॥१०२॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥
(मनु० अ० ३ श्लो० १०५)

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्नभोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥१०६॥

सायं काल में सूर्य से प्राप्त कराया हुआ अतिथि को कभी घर से गृहस्थ नहीं हटावे और समय में या बिना समय में आया हुआ अतिथि बिना भोजन किये गृहस्थ का घर में नहीं निवास करे ॥१०५॥ जो वस्तु अतिथि को भोजन न करावे वह स्वयं अपने कभी भोजन न करे। धन यश, आयु और स्वर्ग को देनेवाला अतिथि पूजन है ॥१०६॥ इस कारण से भगवद्भागवत और आचार्य की सेवा करने के लिये जिस किसी भी उपाय से बहुत सा अन्न उपार्जन करे। अच्छे प्रतिष्ठित मनुष्य घर पर आये हुए महात्मा से यों कहते हैं कि—आइये बैठिये भोजन तैयार है

भोजन कीजिये इत्यादि। जो भगवदुपासक अपने घर पर आये हुए अतिथि की अधिक आदर सत्कार पूर्वक उत्तमभाव से विशुद्धसामग्रियों द्वारा सेवा करता है अर्थात् उसे शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन देता है उसको भी उत्तमभाव से ही अन्न प्राप्त होता है। अर्थात् उसे भोग्य पदार्थों के संग्रह करने में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। अभ्यागत की सेवा के प्रभाव से उसे किसी वस्तु की कमी नहीं रहती है। यदि वह आये हुए अतिथि की मध्यमभाव से सेवा करता है। साधारण रीति से भोजनादि तैयार करके विशेष आदर सत्कार के विना ही अतिथि को भोजन आदि कराके उसे सुख पहुँचाता है तो उसे भी साधारण रीति से ही अन्न प्राप्त होता है अर्थात् अन्नादिक पदार्थों का संग्रह करने में मध्यम रूप से परिश्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई निकृष्टवृत्ति से अर्थात् विना किसी प्रकार का आदर सत्कार किये तुच्छ भाव से भार-रूप समझ कर अभ्यागत की सेवा करता है—उसे निकृष्ट भाव से अश्रद्धा-पूर्वक तैयार किया हुआ भोजन आदि पदार्थ देता है तो उसे वे पदार्थ वैसे ही भाव से प्राप्त होते हैं। अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिये उसे अधिक से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। आहार के विषय में लिखा है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराहृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ (गी० १७।८)

आयु ज्ञान बल आरोग्य सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले रसदार चिकने स्थायी और चित्त को रमणीय लगने वाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ (गी० १७।९)

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करने वाले तथा जो दुःख शोक और रोग उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ॥९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ (गी० १७।१०)

जो बहुत देर का रक्खा हुआ रसहीन दुर्गन्धित बासी जूठा और अमेध्य आहार है वह तामस मनुष्यों को प्रिय होता है ॥१०।१॥

य एवं वेद । क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ बलमिति विद्युति ॥२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो मनुष्य (एवम्) जिस किसी भी प्रकार से बहुत सा अन्न प्राप्त करना चाहिये इस प्रकार (वेद) अन्न के पूर्वोक्त माहात्म्य को और उसके दान के फल को जानता है उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है (वाचि) वाणी में (क्षेमः) क्षेम (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये (प्राणापानयोः) प्राण और अपान में (योगक्षेमः) भगवत्प्राप्ति रूप योग और अपुनरावृत्तिरूप क्षेम (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये (हस्तयोः) दोनों हाथों में (कर्म) कर्म (इति) इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये (पादयोः) दोनों पैरों में (गतिः) गति यानी गमन (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये (पायौ) गुदा में (विमुक्तिः) मलत्याग (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये (इति) ये (मानुषीः) मनुष्य संबन्धी आध्यात्मिक (समाज्ञाः) उपासनाएँ हैं (अथ) अब (दैवीः) देव सम्बन्धी उपासनाएँ कही जाती हैं (वृष्टौ) वर्षा में (तृप्तिः) तृप्ति (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये (विद्युति) बिजली में (बलम्) बल (इति) इस प्रकार बुद्धि करनी चाहिये ॥२॥

विशेषार्थ—जो भगवदुपासक जिस किसी भी प्रकार से बहुत सा अन्न अभ्यागत की सेवा करने के लिये प्राप्त करना चाहिये इस प्रकार अन्न के रहस्य को और अन्नदान के फल को जानता है उसे सर्वोत्तम फल जो पहले तीन अनुवाकों में बताया गया है वह मिलता है। अब परब्रह्म नारायण की उपासना का एक और प्रकार बतलाया जाता है कि—वाणी में ब्रह्म, क्षेम रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। और प्राण तथा अपान में ब्रह्म भगवत्प्राप्ति रूप योग और अपुनरावृत्ति रूप क्षेम रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। योगक्षेम के विषय में लिखा है—

मत्प्राप्तिलक्षणं योगम् । अपुनरावृत्तिरूपं क्षेमम् ॥

(रामानुजभाष्य गी० ६।२२)

मेरी प्राप्तिरूप योग और अपुनरावृत्ति रूप क्षेम ॥२२॥ दोनों हाथों में परब्रह्म कर्म रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। दोनों पैरों में ब्रह्म गतिरूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। गुदा इन्द्रिय में परब्रह्म मल त्याग रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। ये मनुष्य संवन्धी आध्यात्मिक उपासनाएँ हैं। अब इसके बाद देव संबन्धी आधिदैविक उपासनाएँ कही जाती हैं। वृष्टि में ब्रह्म तृप्तिरूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। और बिजली में परब्रह्म नारायण बल यानी पावर रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये ॥२॥

यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे । तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान्भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान्भवति ॥३॥

अन्वयार्थ—(पशुषु) गौ अश्व आदि पशुओं में (यशः) यश (इति) इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये (नक्षत्रेषु) नक्षत्रों में (ज्योतिः) ज्योति (इति) इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये (उपस्थे) जननेन्द्रिय में (प्रजातिः) सन्तनोत्पत्ति और (अमृतम्) वीर्यरूप अमृत तथा (आनन्दः) आनन्द यानी सुख (इति) इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये (आकाशे) आकाश में (सर्वम्) सब कुछ (इति) इस प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये (तत्) वह परब्रह्म नारायण उपास्यदेव (प्रतिष्ठा) सबका आधार है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (प्रतिष्ठावान्) भगवदुपासक प्रतिष्ठा वाला (भवति) हो जाता है (तत्) वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव (महः) सबसे महान् या महत्त्वगुण वाला है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (महान्) भगवदुपासक सबसे बड़ा (भवति) हो जाता है और (तत्) वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव

(मनः) मन है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (मानवान्) मानवाला या मनन करने में समर्थ (भवति) भगवदुपासक हो जाता है ॥३॥

विशेषार्थ—गौ अश्व आदि पशुओं में परब्रह्म यशरूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। नक्षत्रों ने परब्रह्म ज्योति रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। जननेन्द्रिय में परब्रह्म सन्तानोत्पत्ति रूप से और वीर्यरूप में अमृत रूप से तथा आनन्द रूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये। और आकाश में परब्रह्म सर्वरूप से स्थित है ऐसी बुद्धि करके उसकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि लिखा है—

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। (गी० अ० ११ श्लो० ४०)

आप सबको व्याप्त कर रहे हैं इस लिये आप सर्वरूप हैं ॥४०॥ वह उपास्य परब्रह्म नारायणदेव सबका आधार है। इस प्रकार समझ कर जो भगवदुपासक उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह उपासक संसार में प्रतिष्ठा वाला हो जाता है। इस श्रुति में "तत्" यह परब्रह्म नारायण के नाम है। क्योंकि लिखा है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते। (ऋग्वे० अष्ठक० ७ अध्या० ३ वर्ग० ८ मण्डल० ६ अनु० ४ सू० ८४ मं० १) चक्र से अदग्ध बाहुमूल अपरिपक्वजन उस परब्रह्म को नहीं प्राप्त करता है ॥१॥ यह श्रुति "सामवे० पूर्वार्चिक० प्रपाठ० ६ द्वितीयार्ध० मं० १२" में और कृष्णयजुर्वे० तैत्तिरीयारण्य० प्रपाठ० १ अनुवा० ११ मं० २ में भी हैं। तद्वनं नाम। (केनो० खं० ४ श्रु० ६) व्यापक होने से "तत्" और भजनीय होने से "वन" नाम परमात्मा के है ॥६॥

ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
(गी० अ० १७ श्लो० २३)

ओम्, तत्, सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम कहा गया है ॥२३॥ किं यत्तत्पदमनुत्तमम्। (विष्णुसहस्रना० श्लो० ६१) किम् १, यत् २, तत् ३, पद ४, मनुत्तम ५ ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं

॥९१॥ पूर्वोक्त श्रुति स्मृति तथा इतिहास से सिद्ध है कि परब्रह्म का "तत्" नाम है। और वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव सबसे महान् या महत्त्व गुण वाला है। इस प्रकार समझकर जो भगवदुपासक उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह उपासक जगत् में सबसे महान् हो जाता है। तथा वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव मन है। इस प्रकार समझ कर जो भगवदुपासक उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है वह उपासक संसार में मान वाला या मनन करने में समर्थ हो जाता है। इस श्रुति में मनन को ही मन नाम से कहा गया है ॥३॥

तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान्भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये स एकः ॥४॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव (नमः) नमस्कार करने योग्य नमः है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (अस्मै) ऐसे उपासक के लिये (कामाः) समस्त भोग्य पदार्थ (नम्यन्ते) विनम्र होकर प्राप्त हो जाते हैं (तत्) वह उपास्य देव (ब्रह्म) बृहत्त्वगुणयुक्त यानी सबसे बढ़ा हुआ है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (ब्रह्मवान्) भगवदुपासक परब्रह्म से युक्त (भवति) हो जाता है (तत्) वह उपास्य देव (ब्रह्मणः) परब्रह्म परमात्मा का (परिमरः) परिमर यानी सार्वत्रिक मरण के भी अवकाशतारूप से आश्रय है (इति) इस प्रकार (उपासीत) परब्रह्म की उपासना करे तो (एनम्) इस भगवदुपासक को (परि) चारो ओर से (द्विषन्तः) द्वेष करने वाले (सपत्नाः) शत्रु (म्रियन्ते) मर जाते हैं और (ये) जो (परि) भगवदुपासक का सब प्रकार से (अप्रियाः) अनिष्ट चाहने वाले अप्रिय (भ्रातृव्याः) बन्धुजन शत्रु हैं—वे भी मर जाते हैं (च) और (यः) जो (अयम्) यह परब्रह्म नारायण (पुरुषे) पुरुष में है (सः) वह (च) और (यः) जो (असौ) यह

परब्रह्म नारायण (आदित्ये) सूर्य में है (सः) वह (एकः) एक है ॥४॥

विशेषार्थ—वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव नमस्कार करने योग्य नमन गुण वाला नमः है। इस प्रकार समझ कर जो भगदुपासक उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है। उस उपासक के लिये जगत् में समस्त भोग्य विषय विनम्र होकर हाथ जोड़कर सामने प्राप्त हो जाते हैं। और वह उपास्य परब्रह्म नारायण देव स्वरूप और गुणों से सबसे बड़ा होने के कारण ब्रह्म है इस प्रकार समझ कर जो भगवदुपासम उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है। वह उपासक परब्रह्म नारायण से युक्त यानी ब्रह्मवान् हो जाता है। ब्रह्म शब्द भ्वादि पठित "बृहि वृद्धौ" इस धातु से "बृंहेर्नोच्च" (उणादि० पाद० ४) इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय तथा नकार के अकार और यणादेश होकर निष्पन्न होता है। ब्रह्म के विषय में लिखा है—

ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। (श्रीभा० अधि० १)

ब्रह्म शब्द से स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और सीमा रहित अतिशय असंख्य कल्याण गुणगण संपन्न पुरुषोत्तम भगवान् कहे जाते हैं ॥१॥ तथा वह उपास्य पर ब्रह्मनारायण देव सार्वत्रिक मरण के भी अवकाशता रूप से आश्रय परिमर है। इस प्रकार समझकर जो भगवदुपासक उस परब्रह्म नारायण की उपासना करता है। उस भगवदुपासक से द्वेष करने वाले शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। और जो अपकारी अप्रिय बन्धुजन शत्रु होते हैं वे भी मर जाते हैं। वह परब्रह्म नारायण जिनका वर्णन पहले भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक में सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कह कर किया जा चुका है वही परब्रह्म नारायण इस पुरुष में है और वही ब्रह्मामि स्तम्बपर्यन्त चेतन मिश्र जगत के जन्म, पालन, प्रलय आदि कर्ता परब्रह्म नारायण सूर्य में भी है। अर्थात् पुरुष में और सूर्य में अन्तर्यामी रूप से विराजमान एक ही परब्रह्म नारायण हैं। क्योंकि लिखा है—

स एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मादिव्यो देव एको नारायणः।
(सुबालो० खं० ५ अध्यात्मोप० श्रु० १)

वह यह सब भूतों के अन्तर्यामी आत्मा पापरहित दिव्य देव एक परब्रह्मनारायण है ॥७॥१॥ प्रकृत श्रुति में तत्, इदम् और अदस् शब्द का प्रयोग किया गया है। जिनके विषय में लिखा है—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।

अदसस्त विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥ (मनोरमा०)

सन्निकृष्ट में 'इदम्' शब्द का और समीपतर में 'एतत्' शब्द का विप्रकृष्ट में 'अदस्' शब्द का और परोक्ष में 'तत्' शब्द का प्रयोग होता है ऐसा जान ले। अर्थात् सर्व देश, सर्व काल, सर्व अवस्था में व्यापक सर्वान्तर्यामी परब्रह्म नारायण एकही हैं ॥४॥

स य एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥५॥

अन्वयार्थ—(यः) जो भगवदुपासक (एवम्) इस प्रकार कमनीय विग्रह युक्त पुण्डरीकाक्ष भगवान् को (वित्) अपने हृदय में जानता है (सः) वह ब्रह्मवेत्ता महात्मा (अस्मात्) इस (लोकात्) मृत्यु लोक से (प्रेत्य) गमन करके (एतम्) इस (अन्नमयम्) अन्नरसमय शरीरवाला (आत्मनम्) परमात्मा नारायण को (उपसंक्रम्य) समीप में भली भांति प्राप्त होकर और (एतम्) इस (प्राणमयम्) प्राणमय शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रम्य) समीप में भली भांति प्राप्त होकर तथा (एतम्) इस (मनोमयम्) मनोमय शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रम्य) समीप में भलीभांति प्राप्त होकर और (एतम्) इस (विज्ञानमयम्) विज्ञानमय जीवात्मा शरीरवाला (आत्मानम्) परमात्मा को (उपसंक्रम्य) समीप में भली भांति प्राप्त होकर तथा (एतम्) इस (आनन्दमयम्) आनन्द

वाला (आत्मानम्) परमात्मा परब्रह्मनारायण को (उपसंक्रम्य) समीप में भलीभांति प्राप्त होकर (कामान्नी) इच्छानुसार अन्नवाला और (कामरूपी) इच्छानुसाररूपवाला (इमान्) इन (लोकान्) सब लोकों में (अनुसंचरन्) विचरता हुआ (एतत्) इस आगे कहे जानेवाला (साम) साम को (गायन्) गाता हुआ (आस्ते) रहता है (हा ३वु) परम आश्चर्य है (हा ३वु) परम आश्चर्य है (हा ३वु) परम आश्चर्य है ये स्तोम अत्तर है ॥५॥

विशेषार्थ—जो हिरण्मय पुण्डरीकाक्ष परब्रह्मनारायण सूर्यमण्डल के भीतर है वही कमनीय विग्रह विशिष्ट परब्रह्मनारायण जीवात्मा के भीतर हृदय गुफा में भी उपासना करने योग्य विराजमान है। परब्रह्म नारायण का कमनीय मङ्गलमय विग्रह है। क्योंकि लिखा है—

यत्ते रूपं कल्याणतमम् (ईशो० श्रु० १६) जो तुम्हारा मङ्गलम रूप है ॥१६॥ **याते तनूः** (प्रश्नो० प्र० २ श्रु० १२) जो आपका शरीर है ॥१२॥ **यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्णम्** (मुण्डको० मुं० ३ खं० १ श्रु० ३) जिस समय में साधक पुरुष सुवर्णाकार परब्रह्मनारायण को देखता है ॥३॥

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः (छा० उ० अ० १ खं० ६ श्रु० ६)

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी ॥७॥

जो यह सूर्य के भीतर हिरण्मय पुरुष दिखायी देता है उसकी दाढ़ी सुवर्ण की है तथा केश भी सुवर्ण के हैं और नख से लेकर चोटी तक सब ही हिरण्मय है ॥६॥ उस परब्रह्मनारायण के जैसे कोई सूर्य की किरण से खिला हुआ कमल हो वैसे ही दोनों नेत्र हैं ॥७॥

तस्यहैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकम् ।

(बृह० उ० अ० २ ब्रा० ३ श्रु० ६)

उस परब्रह्म नारायण का रूप ऐसा है जैसा हल्दी से रँगा हुआ वस्त्र हो जैसा पाण्डुरंग का ऊनी वस्त्र हो जैसा इन्द्रगोपहो जैसी अग्नि की ज्वाला हो जैसा पुण्डरीक कमल हो ॥६॥ **हस्ते त्रिभर्त्यस्तवे** (श्वे० उ० अ०

३ श्रु० ६) आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥८॥ हांथ में फेंकने के लिये बाण को धारण किये हो ॥६॥ आदित्य के समानवर्ण वाले अन्धकार से अत्यन्त दूर ॥८॥ एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो विष्णुः (तैत्ति० आ० प्रपा० १० अनु० १३) यह सूर्य मण्डल के भीतर हिरण्मयाकार विष्णु भगवान् हैं ॥१३॥ नमो हिरण्यबाहवे (तै० आ० प्रपा० १० अनु० १८) सुवर्णबाहु भगवान् के लिये नमस्कार है ॥१८॥ इस प्रकार के जो सूर्य मण्डल में हिरण्मयाकार कमनीय रूपवाला परब्रह्म नारायण है वही—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायांनिहितोऽस्यजन्तोः।
(तै० आर० प्रपा० १० अनु० १० श्रु० १)

अणु से अत्यन्त अणु और महान् से अत्यन्त महान् परमात्मा नारायण देव इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में विराजमान हैं ॥१॥ इस प्रकार के परब्रह्म नारायण को जो भगवदुपासक अपने हृदय में जानता है वह ब्रह्मवेत्ता महात्मा इस मृत्युलोक से गमन करके। लोक के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्यें संयमात्। योगद० अ० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकस्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति। ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। महेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥ व्यास भाष्य०

सूर्य में संयम करने से समस्त भुवन का ज्ञान होता है ॥२४॥ उस भुवन का विस्तार सातलोक हैं। अवीचिनाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक भूलोक है। और सुमेरु की पीठ से लेकर ध्रुव पर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्षलोक है २, तथा उससे परे पांच प्रकार के स्वर्ग लोक है ३, और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजा-

पति का चौथा महर्लोक है ४ और तीन प्रकार के ब्राह्मलोक हैं—जनलोक ५, तपोलोक ६ और सत्यलोक ७ ।

ततो महातल रसातलातल सुतल वितल तलातल पातालाख्यानि सप्त (व्यास भाष्य०)

इसके बाद नीचे महातल १, रसातल २, अतल ३, सुतल४, वितल ५, तलातल ६, और पाताल ७ ये सात लोक हैं। ये चौदहलोक हैं। भगवदुपासक मरने के बाद इस अन्नरसमय शरीरवाला परमात्मा परब्रह्म नारायण के समीप में भलीभांति प्राप्त होकर और इस प्राणमय शरीरवाला परमात्मा परब्रह्मनारायण के समीप में भलीभांति प्राप्त होकर तथा मनोमय शरीरवाला परमात्मा परब्रह्मनारायण के समीप में भलीभांति प्राप्त होकर और विज्ञानमय यानी जीवात्मा शरीरवाला इस परमात्मा परब्रह्मनारायण को समीप में भलीभांति प्राप्त होकर तथा इस प्रचुर आनन्दवाला परमात्मा परब्रह्मनारायण के समीप में भलीभांति प्राप्त होकर इच्छानुसार अन्नवाला जिसको इच्छा से ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे कामान्नी कहते हैं। और अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करके भूलोक १, अन्तरिक्षलोक २, स्वर्गलोक ३, महर्लोक ४, जनलोक ५, तपलोक ६, सत्यलोक ७, महातल लोक ८, रसातललोक ९, अतललोक १०, सुतललोक ११, वितललोक १२, तलातललोक १३; और पाताललोक १४ इन चौदहो भुवनों में स्वेच्छानुसार विचरता हुआ परम आश्चर्य है, परम आश्चर्य है, परम आश्चर्य है, इस सामवेद के स्तोम अक्षरों का सर्वदा गान करता रहता है। हा ३वु पद आश्चर्य बोधक अव्यय है। सामवेद के विषय में लिखा है— **गीतिषु सामाख्या** (पूर्वमी० अ० २ पा० १ सू० ३६) गान में सामवेदनाम होता है ॥३६॥ **साम्नः सहस्रशाखाः स्युः** (सीतोप०) सामवेद के एक हजार शाखा है। **सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नःपरन्तप।** (मुक्तिकोप० अ० १ श्रु० १३) हे परन्तप महावीर सामवेद के हजार शाखा हैं ॥१३॥ **सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः** (कूर्मपु० अ० ४९ श्लो० ५१) शाखाओं के विभेद से हजार शाखावाला सामवेद है ॥५१॥

सहस्रवर्त्मा सामवेदः (महाभाष्य०अ० १ पा० १ आह्नि० १) एक हजार शाखा सामवेद के हैं ॥१॥ अथवा "साम" यानी समता युक्त भाव को गान करता रहता है। भृगुवल्ली के दशम अनुवाक की पाचवीं श्रुति के "स य एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य" ये खण्ड "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के अष्टम् अनुवाक का पञ्चम श्रुति में भी हैं। कृमिकण्ठनरेश विनाशकर्ता भगवद्रामानुजाचार्य। अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (शा० मी० १।१।२०) के श्रीभाष्य में "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के दशम अनुवाक के पञ्चम श्रुति का "आनन्दमयमात्मान मुपसंक्रम्य" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० १।१।१) प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः (शा० मी० ४।४।१८) इन दोनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इस खण्ड को भी उद्धृत किये हैं ॥५॥

अहमन्न महमन्न महमन्नम् । अहमन्नादोऽ३हमन्नादोऽ३हमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषद् ॥६॥

॥ इति भृगुवल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीय भृगुवल्ली ॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्ता ॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं (अन्नम्) भोग्य अन्न हूँ (अहम्) मैं (अन्नम्) भोग्य अन्न हूँ (अहम्) मैं (अन्नम्) भोग्य अन्न हूँ (अहम्) मैं ही (अन्नादः) अन्न का भोक्ता हूँ (अहम्) मैं ही (अन्नादः) अन्न का भोक्ता हूं (अहम्) मैं ही (अन्नादः) अन्न का भोक्ता हूं (अहम्) मैं (श्लोककृत्) श्लाघनीय जगद्रक्षणादिकर्ता हूँ (अहम्) मैं (श्लोककृत) श्लाघनीय जगद्रक्षणादिकर्ता हूँ (अहम्) मैं (श्लोककृत्) श्लाघनीय जगद्रक्षणादि कर्त्ता हूँ (अहम्) मैं (ऋता३स्य) ऋत कर्म के (प्रथमजाः) पहले उत्पन्न हुआ अथवा सर्ग के आद्य समय में तत्परिपाककर्ता (अस्मि) हूँ और (देवेभ्यः) समस्त देवताओं से (पूर्वम्) पहले विद्यमान (अमृतस्य) मोक्ष के (ना३भायि) रथचक्र का नाभि के समान मध्य-आश्रयभूत केन्द्र मैं हूं (यः) जो कोई (मा) मुझपर परब्रह्म नारायण को (ददाति) योग्य शिष्य के लिये उपदेश देता है (सः) वह महानुभाव (इत्) इतने से (एव) ही (मा३) मुझ परब्रह्म नारायण को (अवाः) प्राप्त कर लेता है (अहम्) मैं परब्रह्म नारायण (अन्नम्) अन्नशब्दित अचेतन को और (अन्नम्) अन्न को (अदन्तम्) भक्षण करने वाले चेतन को (आ३द्मि) निगल जाता हूं या व्याप्त करके रहता हूँ (अहम्) मैं परब्रह्म नारायण (विश्वम्) समस्त (भुवनम्) भुवन को (अभ्यभवा३म्) प्रलयकाल में संहार करता हूँ (सुवः) सूर्य के (न) समान (ज्योतीः) कमनीय देदीप्यमान शरीर हो जाता है (यः) जो मुमुक्षु (एवम्) भृगुऋषि के समान शान्त दान्त उपरत तितिक्षु और समाहित होकर महान् तपस्या करके इस प्रकार (वेद) जानता है (इति) इस प्रकार (उपनिषद्) जीव को परब्रह्म नारायण के समीप ले जाकर—उनके स्वरूप को बतला कर—समूल अज्ञान का विनाश करने वाली उपासनात्मिका भृगुवल्ली ब्रह्मविद्या समाप्त हुई ॥६॥

विशेषार्थ—अब ब्रह्मवेत्ता द्वारा गाया जाने वाला साम को प्रतिपादन करती हुई श्रुति इस ब्रह्मविद्या की समाप्ति कहती है। इस श्रुति में 'अहम्' 'अन्नम्' 'अन्नादः' ये पद परब्रह्म परमात्मा के वाचक हैं क्योंकि सब शब्द चेतनाचेतन शरीर वाला परब्रह्म नारायण का ही वाचक हैं। और अन्न तथा अन्नाद विष्णु भगवान् के नाम हैं। क्योंकि लिखा है—

अन्नमन्नाद एव च । (महा० अनुशासनप० विष्णुसहस्र० श्लो० ११८)

अन्न और अन्नाद ये विष्णु भगवान् के नाम है ॥११८॥ तब यह अर्थ हुआ कि—मैं चेतनाचेतन शरीरवाला परब्रह्म परमात्मा भोग्य अन्न हूं। मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्न हूँ। मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्न हूँ। और मैं परब्रह्म परमात्मा ही अन्न भोग्य वस्तु का भोक्ता हूं। मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्न का भोक्ता हूँ। मैं परब्रह्म नारायण भोग्य अन्न का भोक्ता—अन्नाद हूँ। मैं परब्रह्म नारायण भगवद्गीता के श्लोक का कर्ता हूँ। अथवा मैं परब्रह्म परमात्मा श्लाघनीय जगद्रक्षणादि का कर्ता हूं। मैं परब्रह्म नारायण श्लाघनीय जगद्रक्षणादि का कर्ता हूँ। मैं परब्रह्म परमात्मा श्लाघनीय जगद्रक्षणादिका कर्ता हूँ। और मैं परब्रह्म नारायण पहले उत्पन्न हुआ सर्ग के आद्य समय में ऋतकर्म के परिपाक कर्ता हूँ। मैं परब्रह्म परमात्मा समस्त देवताओं से पहले विद्यमान मोक्ष के रथचक्र का नाभि के समान मध्य आश्रयभूत केन्द्र हूं। देवता के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पति र्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेव देव, बृहस्पतिदेव, इन्द्र देव और वरुण देव हैं ॥२०॥

त्रयो देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पति पुरोहितो देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा ॥
(यजु० अ० २० मं० ११)

श्रेष्ठ धन वाले ब्रह्मादिक तीन देव, ग्यारह रुद्रदेव, तैंतीस देव, पुरोहित बृहस्पतिदेव, प्रभृति सब देव, परब्रह्म नारायण की आज्ञा में वर्तमान होते हुए सत्य आदि देवों के साथ मेरी रक्षा करें ॥११॥

त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवानवचा सपर्यन्।

औंचन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥

(यजु० अ० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृकर्म में नियुक्त किया ॥७॥ जो कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ मुमुक्षु परब्रह्म नारायण को योग्य शिष्य के लिये यथार्थ उपदेश देता है वह महानुभाव इतने से ही मुमुक्षु परब्रह्म नारायण को प्राप्त कर लेता है। मैं परब्रह्म नारायण अन्न शब्दित अचेतन को और अन्न को भक्षण करने वाले चेतन जो निगल जाता हूँ या व्याप्त करके रहता हूँ। मैं परब्रह्म नारायण समस्त भूलोक १, अन्तरिक्ष लोक २, स्वर्गलोक ३, महर्लोक ४, जनलोक ५, तपलोक ६, सत्यलोक ७; महातललोक ८, रसातललोक ९, अतललोक १०, सुतललोक ११, वितललोक १२, तलातललोक १३ और पाताललोक १४ इन भुवनों को प्रलयकाल में संहार करता हूँ। जो मुमुक्षु भृगुऋषि के समान शान्त दान्त उपरत तितिक्षु और समाहित होकर महान् तपस्या करके इस प्रकार प्रचुर आनन्द वाला परब्रह्म नारायण को यथार्थ जानता है वह सूर्य के समान कमनीय देदीप्यमान शरीर वाला हो जाता है। इस श्रुति में "सुवः" का अर्थ आदित्य है क्योंकि लिखा है— "सुवरित्यादित्यः" (तैत्ति० उ० व० १ अनु० ५ श्रु० २) सुवः यह आदित्य है ॥२॥ भृगुवल्ली के दशम अनुवाक की छठवीं श्रुति के "य एवं वेद। इत्युपनिषद्" ये खण्ड "तैत्तिरीयोपनिषद्" की ब्रह्मवल्ली के नवम अनुवाक के अन्त में भी हैं। यहां "तैत्तिरीयोपनिषद्" की भृगुवल्ली के दशम अनुवाक समाप्त हो गया। और तृतीय भृगुवल्ली तथा "तैत्तिरीयोपनिषद्" भी समाप्त हो गई। इस उपनिषद् की प्रथम शीक्षावल्ली में बारह अनुवाक और द्वितीय ब्रह्मवल्ली में नव अनुवाक तथा तृतीय भृगुवल्ली में दश अनुवाक हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से "तैत्तिरीयोपनिषद्" में एकतीस अनुवाक हैं ॥६॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम् ।
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधं
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम् ॥

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्यवेदान्तप्रवर्तकाचार्यश्रीमत्परमहंसपरि-
व्राजकाचार्यसत्सम्प्रदायाचार्यजगद्गुरुभगवदनन्तपादीय-
श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्यत्रिदण्डिस्वामिविरचिता
'गूढार्थदीपिका' समाख्या कृष्णयजुर्वेदीय
तैत्तिरीय शाखान्तर्गता 'तैत्तिरी-
योपनिषद्' भाषा व्याख्या
समाप्ता ।

"ओं यतीन्द्राय नमः"

ऋग्वेदीया

ऐतरेयोपनिषद्

।। अथ प्रथमाध्यायः ।।

।। अथ प्रथमखण्डः ।।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्य त्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ।।१।।

गूढार्थदीपिका व्याख्या

"मङ्गलाचरणम्"

त्रिदण्डहस्तं सितयज्ञसूत्रं
काषायवस्त्रं लसदूर्ध्वपुण्ड्रम् ।
रथाङ्गशङ्खाङ्कितबाहुमूलं
रामानुजार्यं शरणं प्रपद्ये ।।१।।

अन्वयार्थ—(इदम्) यह ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत् (अग्रे) सृष्टि से पहले (एकः) एकमात्र (वै) प्रसिद्ध (आत्मा) संपूर्ण हेयगुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा (एव) ही (आसीत्) था (अन्यत्) उसके सिवा दूसरा (किञ्चन) कुछ भी (मिषत्) व्यापारवाला (न) नहीं था (सः) वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण ने (नु) निश्चय ही (लोकान्) सब प्राणियों के कर्म फलोपभोग के आश्रयभूत अम्भ आदि लोकों को (सृजै) मैं रचूं (इति) इस प्रकार (ईक्षत) विचार किया ।।१।।

विशेषार्थ—ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक का दूसरे आरण्यक के चौथे, पांचवें और छठे अध्यायों को "ऐतरेयोपनिषद्" कहते हैं। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या प्रधान है। मुमुक्षुओं के प्रति माता पिता से भी अधिक कल्याण चाहनेवाली श्रुति आदेश देती है कि—यह ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त जडचेतन स्वरूप दृश्यमान जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध संपूर्णहेय गुणों से रहित एकतान कल्याणगुणमय सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा परब्रह्म नारायणही था। उस समय इसमें भिन्न भिन्न नाम रूपों की अभिव्यक्ति नहीं थी। उस समय उन परब्रह्मनारायण के सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था। क्योंकि लिखा है—

नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। दिव्योदेव एको नारायणः॥

(सुबालोप० खं० ६)

सृष्टि से पहले यहां कुछ भी नहीं था दिव्यदेव एक नारायण ही थे॥६॥

एको हवै नारायण आसीन्नब्रह्मा नेशानो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः।

(महोप० अध्या० १ श्रु० १)

सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे, न रुद्र थे, न अग्नि था, न सोम था, न ये द्युलोक और भूलोक थे, न नक्षत्र थे और न सूर्य थे, न चन्द्रमा ही थे॥१॥

शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्।

(नारायणो० श्रु० २)

शुद्धदेव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है॥२॥ जगत्कारण वादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से और व्याप्तिबोधक "आप" भक्षणार्थक "अद्" अथवा सतत गमन बोधक "अत्" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से आत्मा का अर्थ परब्रह्मनारायण है। यामुनमुनि के अङ्गुलित्रयमोचक भगवद्रामानुजाचार्य—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० १।१।१) तत्तु समन्वयात् (शा० मी० १।१।४) गतिसामान्यात् (शा० मी० १।१।११) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (शा० मी० १।१।२१) आकाशस्तल्लिङ्गात् (शा० मी० १।२।२३) प्रतिज्ञा सिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः (शा० मी० १।४।२०) अर्पीतौ

तद्ब्रह्मसङ्गादसमञ्जसम् (शा० मी० २।१।८) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (शा० मी० २।१।१५) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा (शा० मी० २।१।२६) तथा प्राणाः (शा० मी० २।४।१) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् (शा० मी० ३।३।१६) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च (शा० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १७) इन बारहों सूत्रों के श्रीभाष्य में "एतरेयोपनिषद्" का प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के— आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। और गति सामान्यात् (शा० मी० १।१।११) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (शा० मी० २।१।१५) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च (शा० मी० ४।४।१७) इन तीनों सूत्रों के श्रीभाष्य में "नान्यत्किञ्चन मिषत्" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं। सृष्टि के आदि में वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परब्रह्म नारायण ने यह विचार किया कि मैं सब प्राणियों के कर्म फल भोगने के लिये भिन्न भिन्न अम्भ आदि लोकों की रचना करूँ। और भी लिखा है— स ईक्षांचक्रे (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥३॥ सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेय (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६) वह परब्रह्म नारायण ने कामना की मैं बहुत हो जाऊँ ॥६॥

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय (छा० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया की मैं बहुत हो जाऊँ ॥३॥ सेयं देवतैक्षत (छा० उ० अ० ६ खं० ३ श्रु० २) वह यह परब्रह्मनारायण देव विचार किया ॥२॥ इन श्रुतियों परब्रह्म परमात्मा के सृष्टि रचना विषयक प्रथम संकल्प का स्पष्ट वर्णन है। विश्वविजयी भगवद्रामानुजाचार्य अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (शा० मी० १।१।१) ईक्षतेर्नाशब्दम् (शा० मी० १।१।५) गतिसामान्यात् (शा० मी० १।१।११) आकाशस्तल्लिङ्गात् (शा० मी० १।१।२३) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० १५) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् (शा० मी० ३।३।१६) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च (शा० मी० ४।४।१७) इन

सातो सूत्रों के श्रीभाष्य में "ऐतरेयोपनिषद्" का प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की पहली श्रुति के "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" इस खण्ड को उद्धृत किये हैं ॥१॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥२॥

अन्वयार्थ–(सः) वह परब्रह्म परमात्मा ने (अम्भः) अम्भ यानी द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक (मरीचीः) मरीचियानी अन्तरिक्ष (मरम्) मर यानी मर्त्यलोक और (आपः) पृथिवी के नीचे के जललोक (इमान्) इन सब (लोकान्) लोकों को (असृजत) रचना किया (दिवम्) स्वर्ग लोक से (परेण) पर ऊपर के लोक तथा (प्रतिष्ठा) उनका आधार भूत (द्यौः) द्युलोक (अदः) यह सब (अम्भः) अम्भ लोक है और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक ही (मरीचयः) मरीचिलोक है तथा (पृथिवी) यह पृथिवी ही (मरः) मर यानी मृत्युलोक है और (याः) जो (अधस्तात्) पृथिवी के नीचे पातालादिलोक है (ताः) वे (आपः) आप यानी जललोक हैं ॥२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार इस लोक में बुद्धिमान् शिल्पकार आदि "मैं इस प्रकार के मन्दिर आदि बनाऊँ" ऐसा विचार करने के अनन्तर ही मन्दिर आदि की रचना करते हैं। उसी प्रकार वह परब्रह्म नारायण ने अम्भ यानी द्युलोक तथा उसके ऊपर के लोक और मरीचि यानी अन्तरिक्ष लोक तथा मर यानी मृत्युलोक और आप यानी जललोक इन सब लोकों की रचना किया विचार करने के अनन्तर। अब अम्भ १, मरीचि २, मर ३, और आप ४ इनलोकों की व्याख्या स्वयं ही करुणामयी श्रुति करती है कि–स्वर्गलोक से पर ऊपर के लोक तथा उनका आधारभूत द्युलोक यह सब अम्भलोक है। अर्थात् स्वर्ग लोक से ऊपर जो महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक हैं वे और उनका आधार द्युलोक ये पांचोंलोकों को अम्भलोक कहते हैं। जल यानी मेघों को धारण करने से वे अम्भलोक कहे जाते हैं। और अन्तरिक्षलोक ही मरीचिलोक है। सूर्य, चन्द्र, तारा आदि के किरणों से सम्बन्धित होने के कारण वह मरीचिलोक

कहलाता है। तथा भूलोक ही मर लोक है। पृथिवी पर सब प्राणी मरते हैं इससे वह मरलोक कहलाता है। और पृथिवी के नीचे जो पातालादि लोक हैं वे ही आप लोक हैं। पातालादि में जल की अधिकता होने के कारण वे आपलोक कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि चतुर्दश भुवनों की परब्रह्म नारायण ने ईक्षण करके रचना की। लोक के विषय में लिखा है—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। (योगद० अ० १ पा० ३ सू० २४)

तस्य प्रस्तारः सप्तलोकास्तत्रावीचेः प्रभृतिमेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोको मेरुपृष्ठादारभ्याध्रुवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोक स्ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीयलोकश्चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकस्त्रिविधो ब्राह्मः, तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवितारा भुवि प्रजाः॥ (व्यासभाष्य०)

सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है॥२४॥ इस भुवन का विस्तार सात लोक हैं। अवीचि नाम के स्थल से लेकर सुमेरु पर्वत की पीठ तक भूलोक है १, और सुमेरु की पीठ से लेकर ध्रुवपर्यन्त नक्षत्र तारा आदिकों से सुशोभित अन्तरिक्ष लोक है २, तथा उससे परे पांच प्रकार के स्वर्गलोक है ३, और तृतीय माहेन्द्रलोक है तथा प्रजापति का चौथा महर्लोक है ४, और तीन प्रकार के ब्रह्मलोक है—जनलोक ५, तपलोक ६, और सत्यलोक ७ क्योंकि लिखा है कि—जन १, तप २, सत्य ३, ये तीन भूमि वाला ब्रह्मलोक है। प्रजापति का चौथा महर्लोक है। और तृतीय माहेन्द्र स्वर्लोक कहा गया है। द्युलोक में तारागण और भूलोक में प्रजागण रहते हैं।

तत्रावीचेरुपर्य्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घन सलिला-नलानिलाकाशतमः प्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीष रौरव महारौरव काल-सूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जित दुःख वेदनाः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते। (व्यासभाष्य०) वहां पर अवीची नाम के स्थल से ऊपर ऊपर स्थित जो महा नरक स्थान हैं। पृथ्वी, जल,

अग्नि, वायु और आकाश तथा अन्धकार में प्रतिष्ठित हैं। महाकाल १, अम्बरीष २, रौरव ३. महारौरव ४, कालसूत्र ५; अन्धतामिस्र ६ ये नाम हैं। जिन स्थानों में अपने कर्मजन्य दुःख वेदनायुक्त प्राणी कष्ट रूप दीर्घायु को प्राप्त होकर जन्म लेते हैं।

ततो महातल रसातलातल सुतल वितल तलातल पाताला-ख्यानि सप्त। (व्यासभाष्य०) उस नरक स्थान से नीचे महातल १; रसातल २, अतल ३, सुतल ४, वितल ५, तलातल ६ और पाताल ७ ये सात लोक हैं। इन पूर्वोक्त सब लोकों को ईक्षण करके परब्रह्म नारायण ने सत्य संकल्प से बनाया। और अन्यत्र लिखा है—

मायी सृजते विश्वमेतत्। (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० ९) परब्रह्म नारायण इस विश्व को रचता है ॥९॥ पराङ्कुशमुनि पादभक्त भगवद्रामा-नुजाचार्य– **"ईक्षतेर्नाशब्दम्"** (शा० मी० १।१।५) **"गतिसामान्यात्"** (शा० मी० १।१।११) **"आकाशस्तल्लिङ्गात्"** (शा० मी० १।१।२३) **जगद्व्या पारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।** (शा० मी० ४।४।१७) इन चारो सूत्रों के श्रीभाष्य में "ऐतरेयोपनिषद्" के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की दूसरी श्रुति के **"स इमांल्लोकानसृजत"** इस खण्ड को उद्धृत किये हैं ॥२॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३॥

अन्वयार्थ–(सः) वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण नें (ईक्षत) फिर विचार किया कि (इमे) ये अम्भ मरीचि, मर, आप (लोकाः) लोक (नु) तो रचे गए अब (लोकपालान्) लोकपालों को (नु) निश्चय (सृजै) मैं रचूँ (इति) ऐसा सोचकर (सः) वह परब्रह्म नारायण (अद्भ्यः) जल से (एव) ही (पुरुषम्) पुरुषाकार ब्रह्मा को (समुद्धृत्य) निकाल कर (अमूर्छ-यत्) अवयवों से युक्त करके उसको मूर्तिमान् बनाया ॥३॥

विशेषार्थ—इस प्रकार सब प्राणियों के कर्मफलोपभोग के आश्रय भूत अम्भ १, मरीचि २, मर ३, आप ४, इन लोकों की रचना करने के

अनन्तर वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परब्रह्म नारायण ने फिर विचार किया। क्योंकि लिखा है—"स ईक्षाञ्चक्रे" (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥३॥ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय।

(तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६)

वह परब्रह्म नारायण ने कामना की मैं बहुत हो जाऊँ ॥६॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। (छा० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ३)

वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ ॥३॥ इन श्रुतियों के अनुसार विचार किया कि—मेरे रचे हुए अम्भ आदि ये लोक बिना किसी रक्षक के नष्ट हो जायेंगे। अतः इन लोकों की रक्षा के लिये मैं लोकों की रक्षा करने वालों की रचना अवश्य करूँ। ऐसा सोचकर वह परब्रह्म नारायण सत्य संकल्प के द्वारा जल से चतुर्मुख पुरुष ब्रह्मा को निकाल कर उसको समस्त अङ्गों से युक्त करके मूर्तिमान् बनाया। इस श्रुति में "पुरुष" शब्द सबसे पहले उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा का वाचक है। क्योंकि लिखा है—भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे। (अथर्ववे० १६।२३।३०) सब प्राणियों से ब्रह्मा सबसे पहले उत्पन्न हुआ है ॥३०॥ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। (मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १) इन्द्रादि सब देवताओं में सबसे पहले चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥१॥ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ४) जो परब्रह्म नारायण सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को बनाता है ॥४॥ हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्। (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० १८) जो परब्रह्म नारायण सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया ॥१८॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसाध्यायत। तस्य ध्यानान्तः स्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत।

(महोप० अ० १ श्रु० १)

इसके बाद फिर परब्रह्म नारायण ने दूसरे को उत्पन्न करने की

कामना से मन में चिन्तवन किया। उस मन में चिन्तन करते हुए परब्रह्म नारायण के ललाट से पसीना गिरा। वह पसीना फैलकर जल बन गया। उस जल से हिरण्मय तेज के रूप में अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्ड में चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥१॥ और मनुस्मृति में लिखा है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु०अ० १ श्लो०८)
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥

अनेक प्रकार की प्रजा को बनाने की इच्छा वाला वह परब्रह्म नारायण सत्य संकल्प करके अपना अव्याकृत शरीर से पहले जल को बनाया और उस जल में सामर्थ्य शक्ति रूप बीज को आरोपण किया ॥८॥ वह बीज नारायण की इच्छा से सूर्य के समान प्रभावाला सोना के समान प्रकृति अण्ड हो गया उस प्राकृत अण्ड में अपने से सब लोक के पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुआ ॥९॥ इन प्रमाणों से और—

विराजो अधि पुरुषः। (ऋग्वे० अष्ट० ८ मण्डल० १० अध्या० ४ अनुवा० ७ सूक्त० ९० मं० ५) (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपाठ० ६ अर्धप्रपाठ० ३ सूक्त १३ मं० ७) (यजुर्वे० ३१।५) (अथर्ववे० कां० १९ अनुवा० १ सूक्त ६ मं० ९) देदीप्यमान अण्ड प्रकृति से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ५।७।५।९ इस श्रुति में चतुर्मुख ब्रह्मा वाचक "पूरुषः" पद प्रयुक्त हुआ है। अतः यहां "पुरुष" शब्द का अर्थ चतुर्मुख ब्रह्मा ही मानना उचित है ॥३॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य

ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनस श्चन्द्रमा नाभि निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(तम्) उस चमुख ब्रह्मा को लक्ष्य करके (अभ्यतपत्) परब्रह्म नारायण ने भलीभांति संकल्परूप तप किया (अभितप्तस्य) नारायण के संकल्प करके चारों ओर से तपे हुए (तस्य) उस चतुर्मुख पुरुष के पिण्ड से (यथा) जैसे (अण्डम्) पक्षी का अण्डा फट जाता है वैसे ही फूटकर (मुखम्) मुखछिद्र (निरभिद्यत) उत्पन्न हुआ और (मुखात्) मुख छिद्र से (वाक्) वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा (वाचः) वाक् इन्द्रिय से (अग्निः) वाणी के अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि देवता प्रकट हुआ फिर (नासिके) नासिका के दोनों छिद्र (निरभिद्येताम्) उत्पन्न हुए और (नासिकाभ्याम्) नासिकारंध्रों से (प्राणः) प्राण उत्पन्न हुआ तथा (प्राणात्) प्राण से (वायुः) लोकपाल वायु देवता उत्पन्न हुआ पुनः (अक्षिणी) दोनों आंखों के छिद्र (निरभिद्येताम्) उत्पन्न हुए और (अक्षिभ्याम्) आंखों के छिद्रों (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा (चक्षुषः) नेत्र इन्द्रिय से (आदित्यः) नेत्र के अधिष्ठाता लोकपाल सूर्य देवता प्रकट हुआ फिर (कर्णौ) दोनों कानों के छिद्र (निरभिद्येताम्) उत्पन्न हुए और (कर्णाभ्याम्) कानों के छिद्रों से (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा (श्रोत्रात्) श्रोत्र इन्द्रिय से (दिशः) श्रोत्र के अधिष्ठाता देवता दिशाएँ उत्पन्न हुईं फिर (त्वक्) त्वचा (निरभिद्यत) प्रकट हुई और (त्वचः) त्वचा से (लोमानि) रोम उत्पन्न हुए तथा (लोमभ्यः) रोमों से (ओषधिवनस्पतयः) ओषधि और वनस्पतियां उत्पन्न हुईं फिर (हृदयम्) हृदय अन्तःकरण का अधिष्ठान (निरभिद्यत) उत्पन्न हुआ और (हृदयात्) हृदय से (मनः) मन प्रकट हुआ तथा (मनसः) मन से (चन्द्रमाः) मन के अधिष्ठाता लोकपाल चन्द्रमा देवता उत्पन्न हुआ पुनः (नाभिः) संपूर्ण प्राणों के बन्धन का स्थान नाभि (निरभिद्यत) प्रकट हुई और (नाभ्याः) नाभि से (अपानः) अपानवायु उत्पन्न हुआ तथा (अपानात्) अपान वायु से (मृत्युः) पायु इन्द्रिय की

अधिष्ठात्री देवता मृत्यु उत्पन्न हुआ फिर (शिश्नम्) प्रजननेन्द्रिय का आश्रय स्थान लिङ्ग (निरभिद्यत) उत्पन्न हुआ तथा (शिश्नात्) लिङ्ग से (रेतः) वीर्य उत्पन्न हुआ और (रेतसः) वीर्य से (आपः) जल उत्पन्न हुआ ॥४॥

, *विशेषार्थ*—जल से निकला हुआ उस चतुर्मुख ब्रह्मा को उद्देश्य करके परब्रह्मनारायण ने भली भांति संकल्परूप तप किया क्योंकि लिखा है- **यस्य ज्ञानमयं तपः** (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण का ज्ञानमय तप है ॥१०॥ नारायण के सँकल्प से चारो ओर से तपे हुए उस चतुर्मुख पुरुष के पिण्ड से सर्व प्रथम पक्षी के अण्डे की भांति फटकर मुख छिद्र निकला। और मुख छिद्र से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा वाक् इन्द्रिय से वाणी के अधिष्ठाता लोकपाल अग्निदेवता उत्पन्न हुआ। इस श्रुति में सभी जगह प्रायः इन्द्रियगोलक और इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता के क्रम से उत्पत्ति प्रतिपादन किया गया है। और भी लिखा है— **वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतम्** (सुबालो० खं० ५) वाक् इन्द्रिय अध्यात्म है तथा वक्तव्य अधिभूत है और वहां पर अग्नि अधिदैवत है ॥५॥ फिर नासिका के दोनों छिद्र उत्पन्न हुए तथा नासिका छिद्रों से प्राण उत्पन्न हुआ और प्राण से लोकपाल वायु देवता उत्पन्न हुआ। यह उपलक्षण है इससे यहां पर यह भी समझना चाहिये कि—नासिका से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुआ और घ्राण से उसके अधिष्ठाता लोकपाल अश्विनीकुमार देवता उत्पन्न हुए। इसी प्रकार मुख से ही रसना इन्द्रिय उत्पन्न हुई और रसना से उसके अधिष्ठाता लोकपाल वरुणदेवता उत्पन्न हुआ। क्योंकि लिखा है— **जिह्वाध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतम्** (सुबालो० खं० ५) जिह्वा इन्द्रिय अध्यात्म है तथा रसयितव्य अधिभूत है और वहां पर वरुण अधिदैवत है ॥५॥ फिर आंखों के दोनों छिद्र उत्पन्न हुए तथा आँख के छिद्रों से नेत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुआ और नेत्र इन्द्रिय से उसके अधिष्ठाता लोकपाल सूर्यदेवता उत्पन्न हुआ। क्योंकि लिखा है—

चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतम् (सुबा० उ० खं० ५)

नेत्रइन्द्रिय अध्यात्म है तथा द्रष्टव्य अधिभूत है और वहां पर सूर्य अधिदैवत है ।।५।। फिर कानों के दोनों छिद्र निकले तथा कान के छिद्रों से श्रोत्र इन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्र इन्द्रिय से उसके अधिष्ठता लोकपाल देवता दिशाएँ उत्पन्न हुईं । क्योंकि लिखा है—

श्रोत्र अध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतम्
(सुबालो० खं० ५)

श्रोत्र इन्द्रिय अध्यात्म है तथा श्रोतव्य अधिभूत है और वहां पर दिशाएँ अधिदैवत हैं ।।५।। फिर त्वचा उत्पन्न हुई तथा त्वचा से रोम उत्पन्न हुए और रोमों से ओपधियां और वनस्पतियां उत्पन्न हुईं । ओपधि और वनस्पति के विपय में लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः (मनु० अध्या० १ श्लो० ४६)
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।।४७।।

बहुत फूल फल से युक्त और फल के पकने से नष्ट होनेवाले व्रीहि यव आदिक ओपधि हैं ।।४६।। और जो फूल से रहित हों और फल वाले हों ऐसे गूलर पीपल आदि को वनस्पति कहते हैं ।।४७।। फिर अन्तःकरण के अधिष्ठान हृदय उत्पन्न हुआ । और हृदय से मन उत्पन्न हुआ तथा मन से उसके अधिष्ठाता लोकपाल चन्द्रमादेवता उत्पन्न हुआ । क्योंकि लिखा है—

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम् (सुबालो० खं० ५)

मन अध्यात्म है और मन्तव्य अधिभूत है तथा वहां पर चन्द्रमा अधिदैवत है ।।५।। फिर समस्त प्राणों के बन्धन का स्थान नाभि उत्पन्न हुई । तथा नाभि से अपान वायु उत्पन्न हुआ । यहां अपानवायु युक्त होने के कारण पायु इन्द्रिय अपान कहलाती है । और अपान यानी गुदा इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता लोकपाल मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ । क्योंकि लिखा है—

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतम् ।
(सुबालो० खं० ५)

गुदा इन्द्रिय अध्यात्म है और विसर्जयितव्य अधिभूत है तथा वहां पर मृत्यु अधिदैवत है ।।५।। फिर प्रजननेन्द्रिय का आश्रय भूत स्थान लिङ्ग उत्पन्न हुआ । तथा लिङ्ग से वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ । वहां पर यह समझना चाहिये कि—लिङ्ग से उपस्थ

इन्द्रिय उत्पन्न हुई और उपस्थ इन्द्रिय से उसका अधिष्ठाता लोकपाल प्रजापति देवता उत्पन्न हुआ। क्योंकि लिखा है—

उपस्थोऽध्यात्म मानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतम्।
(सुबालो० खं० ५)

उपस्थ इन्द्रिय अध्यात्म है और आनन्दयितव्य अधिभूत है तथा वहां पर प्रजापति अधिदैवत है ॥५॥ यह उपलक्षण मात्र है। इससे यहां पर यह समझना चाहिये कि—समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठान तथा अन्तःकरण और प्राणादि के अधिष्ठान उत्पन्न हुए। और उन अधिष्ठानों से समस्त इन्द्रिय तथा अन्तःकरण और प्राणादि उत्पन्न हुए। इसके बाद उन्हीं सबों से समस्त इन्द्रियादिक के देवता उत्पन्न हुए। इन्द्रियों के विषय में लिखा है—

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः (वराहोप०अ०१ श्रु०२)
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात् ॥३॥

श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, घ्राण ४, रसना ५, ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं ॥२॥ वाक् १, पाणि २, पाद ३, पायु ४, उपस्थ ५ ये क्रम से पांच कर्मेन्द्रियां हैं ॥३॥ और मनुस्मृति में लिखा है—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिकाचैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता (मनु०अ० २ श्लो० ९०)
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥९१॥

श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, जिह्वा ४ और पांचवीं नासिका ५, पायु ६, उपस्थ ७, पाणि ८, पाद ९ और दशवीं वाक् १० ये इन्द्रियां हैं ॥९०॥ इन सबों में श्रोत्र १, त्वक् २, नेत्र ३, जिह्वा ४ और नासिका ५ ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और पायु १, उपस्थ २, पाणि ३, पाद ४ और वाक् ५ ये पांच कर्मेन्द्रियां कही जाती हैं ॥९१॥ और अन्तःकरण के विषय में लिखा है—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् (वराहो० अ० १ श्रु० ४)

मन १, बुद्धि २, अहंकार ३ और चित्त ४ ये अन्तःकरण चतुष्टय

हैं ॥४॥ और देवता के विषय में लिखा है—

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्र मृत्युकाः ।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः (वरा० उ० अ० १ श्रु० १४)

श्रोत्र इन्द्रिय के देवता दिशा १, प्राण के वायुदेवता २, नेत्र इन्द्रिय के देवता सूर्य ३, जिह्वा इन्द्रिय के देवता वरुण ४, घ्राण इन्द्रिय के देवता अश्विनीकुमार ५, वाक् इन्द्रिय के देवता अग्नि ६, पाणि इन्द्रिय के देवता इन्द्र ७; पाद इन्द्रिय के देवता उपेन्द्र ८, पायु इन्द्रिय के देवता मृत्यु ९, मन के चन्द्रमा देवता १०, उपस्थ इन्द्रिय के देवता प्रजापति ११, बुद्धि के ब्रह्मादेवता १२, अहङ्कार के रुद्रदेवता १३, चित्त के क्षेत्रज्ञदेवता १४ ये सब देवता हैं ॥१४॥ और प्राणादि के विषय में लिखा है ।

प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ।
(जाबालद० उ० खं० ४ श्रु० २३)

नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ।
एते नाडीषुसर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥२४॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत ।
प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयो मुने ॥२५॥
आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि ।
प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥२६॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु ।
उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत ॥२७॥
व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि ।
प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव ॥२८॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयो र्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥२९॥
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि साङ्कृते ॥३०॥

अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।
समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव ॥३१॥
उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः ।
व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥३२॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो व्यानाख्यस्य महामुने ।
धनञ्जयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि साङ्कृते ॥३३॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकलस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम् ॥३४॥

प्राण १, अपान २, व्यान ३, समान ४, उदान ५ ॥२३॥ और नाग ६, कूर्म ७, कृकल ८, देवदत्त ९ और धनञ्जय १० ये दश वायु सब नाड़ियों में संचरण करते हैं ॥२४॥ इन दशों में प्राण आदि पांच ही मुख्य हैं हे सुव्रत इन पांचों में भी प्राण और अपान ही श्रेष्ठ एवं आदरणीय माने गये हैं ॥२५॥ हे मुने इनमें से प्राणवायु मुख और नासिका के मध्यभाग में तथा नाभि के मध्य भाग में और हृदय में नित्य निवास करता है ॥२६॥ और हे सुव्रत अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जांघों, घुटनों, संपूर्ण उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियों में भी सदा वर्तमान रहता है ॥२७॥ और हे मुनिपुङ्गव व्यान वायु दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों कंधों, दोनों टखनों तथा प्राण के स्थान में और कण्ठ में भी व्याप्त रहता है ॥२८॥ और उदान वायु की स्थिति दोनों हाथों और पैरों में जाननी चाहिये । और समान वायु निःसंदेह संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है ॥२९॥ नाग आदि पांचो वायु चमड़ी और हड्डी आदि में रहते हैं । हे साङ्कृते श्वास को भीतर ले जाना और बाहर निकालना तथा खांसना ये प्राण वायु के कार्य हैं ॥३०॥ मल मूत्र आदि का त्याग अपान वायु का कार्य है । हे मुनिपुङ्गव समान वायु सब शरीर को सम अवस्था में रखता है ॥३१॥ उदान वायु ही ऊपर की ओर गमन करता है। और वेदान्ततत्त्व के ज्ञाता विद्वानों का कहना है कि व्यान वायु विवाद करने वाला ध्वनि का व्यञ्जक है ॥३२॥ हे महामुने डकार वमन आदि नागवायु का कार्य है । शरीर में शोभा आदि का सम्पादन धनञ्जय वायु का कार्य बताया गया है ॥३३॥ [illegible] आंखों को खोलना मीचना आदि कूर्म वायु का

कार्य है। और भूख प्यास कृकल वायु का कार्य है तथा हे विप्रेन्द्र तन्द्रा और आलस्य देवदत्त वायु का कार्य कहा गया है ॥३४॥ इस प्रकार इन्द्रिय-गोलक तथा इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति प्रतिपादन की गई। यहां "ऐतरेयोपनिषद्" के प्रथमाध्याय का प्रथम खण्ड समाप्त हो गया ॥४॥

॥ अथ द्वितीय खण्डः ॥

ता एता देवता सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनम ब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि । यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१॥

अन्वयार्थ—(ताः) वे (सृष्टाः) परब्रह्म नारायण द्वारा लोकपाल रूप से संकल्प करके रचे हुए (एताः) ये अग्नि आदि (देवताः) देवता (अस्मिन्) इस संसाररूप (महति) बड़े भारी (अर्णवे) समुद्र में (प्रापतन्) गिर गये तब (तम्) पुरुषरूप से प्रथम उत्पन्न किये हुए लोकपाल से युक्त उस ब्रह्मा को (अशनाया पिपासाभ्याम्) भूख और प्यास से (अन्ववार्जत्) परब्रह्म नारायण ने संयुक्त कर दिया तब (ताः) क्षुधा पिपासा से पीडित होकर वे सब अग्नि आदि देवता (एनम) इस जगद्रचयिता परब्रह्म नारायण से (इति) इस प्रकार (अब्रुवन्) बोले कि हे भगवन् (नः) हमारे लिये (आयतनम्) आश्रय स्थान को (प्रजानीहि) दीजिये (यस्मिन्) जिस आयतन में (प्रतिष्ठिताः) स्थित हुए हम (अन्नम्) अन्न को (अदाम) भक्षण कर सकें ॥१॥

विशेषार्थ—परब्रह्म नारायण द्वारा लोकपालरूप से संकल्प करके रचे गये वे इन्द्रियों के अधिष्ठाता अग्नि आदि सब देवता इस संसाररूप बड़े भारी समुद्र में आ पड़े। क्योंकि पुरुष के शरीर से उत्पन्न होने के बाद उनको कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला जिससे वे देवता उसमें रहें। शरीर के देवता के विषय में लिखा है—

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥ ([illegible])

दिशा १, वायु २, सूर्य ३, वरुण ४, अश्विनीकुमार ५, अग्नि ६, इन्द्र ७, उपेन्द्र ८, मृत्यु ९, चन्द्र १०, ब्रह्मा ११, रुद्र १२, क्षेत्रज्ञ १३ और ईश्वर १४ ये शरीर के देवता हैं ॥१४॥ संसार समुद्र में पड़े हुए उस देवताओं के समुद्राय को परब्रह्म नारायण ने भूख और प्यास से संयुक्त कर दिया। अतः भूख और प्यास से पीडित होकर वे अग्नि आदि देवता अपनी सृष्टि करने वाले परम पिता परब्रह्म नारायण से बोले कि—हे भगवन् हमारे लिये एक ऐसे स्थान की व्यवस्था कीजिये जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें। अन्न के विषय में लिखा है—

अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते।

(तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २)

प्राणियों करके खाया जाता है और वह भी प्राणियों को खाता है इसी से वह अन्न कहा जाता है ॥२॥ प्रकृत श्रुति से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य से अलग देवता हैं। और शुक्ल यजुर्वेद में भी लिखा है—

अग्नि र्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पति र्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओंचास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव हैं ॥२०॥ देवता के विषय में अधिक जानना हो तो मेरी बनाई हुई "श्रीवचन भूषण" की "चिन्तामणि" टीका को सज्जन लोग अवलोकन कर लें। ग्रन्थ के विस्तार भय से यहां अधिक मैं नहीं लिखता हूँ ॥१॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

अन्वयार्थ—(ताभ्यः) उन अग्नि आदि देवताओं के लिये (गाम्) गौ को बनाकर (आनयत्) परब्रह्म नारायण ने लाया उस गौ को देखकर (ताः) वे देवता सब (अब्रुवन्) नारायण से कहें कि (नः) हमारे लिये (वै) निश्चय (अयम्) यह गौ का शरीर (अलम्) पर्याप्त (न) नहीं है (इति)

इस प्रकार देवताओं के कहने पर (ताभ्यः) उन अग्नि आदि देवताओं के लिये (अश्वम्) घोड़े को बनाकर (आनयत्) परब्रह्म नारायण ने लाया उस घोड़े को देखकर (ताः) वे अग्नि आदि देवता सब (इति) इस प्रकार (अब्रु वन्) परब्रह्म नारायण से कहे कि (नः) हमारे लिये (वै) निश्चय (अयम्) यह घोड़े का शरीर भी (अलम्) पर्याप्त (न) नहीं है ॥२॥

विशेषार्थ—इस प्रकार देवताओं के प्रार्थना करने पर सृष्टिकर्ता परब्रह्म नारायण ने उन सब देवताओं के रहने के लिये एक गौ का शरीर बनाकर उनको दिखाया। गौ का लक्षण लिखा है—

विषाणी ककुद्मान्प्रान्ते वालधि स्सास्नावानिति । (गोत्वे दृष्टं-लिङ्गम्) । (वैशेषि० अध्या० २ आह्नि० १ सूत्र ८) सींग, डील प्रान्त में वालधि और गर्दन में ललरी जिसको हो उसको गौ कहते हैं ॥८॥ उस गौ को देखकर देवताओं ने कहा कि—हे भगवन् यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है अर्थात् इस गौ के शरीर से हमारा कार्य अच्छी तरह नहीं चलने का है। इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे शरीर की रचना कीजिये। तब परब्रह्म नारायण ने उन देवताओं के लिये घोड़े का शरीर रचकर उनको दिखाया। उस घोड़े को देखकर फिर भी देवताओं ने कहा कि—हे भगवन् यह भी हमारे लिये यथेष्ट नहीं है इससे भी हमारा काम ठीक नहीं चल सकता है। अतः आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये। शरीर के विषय में लिखा है। **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः (शरीरम्)** (न्यायद० अध्या० १ आह्नि० १ सू० ११) चेष्टा और इन्द्रियों के अर्थ का आश्रय जो हो उसको शरीर कहते हैं ॥११॥ इस श्रुति में गौ और अश्व शरीर की उत्पत्ति तथा देवताओं द्वारा उनकी अस्वीकृति प्रतिपादन की गयी है ॥२॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रु वन् सुकृतं बतेति । पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥३॥

अन्वयार्थ—(ताभ्यः) उन अग्नि आदि देवताओं के लिये (पुरुषम्) मनुष्य को बनाकर (आनयत्) परब्रह्म नारायण ने लाया उस मनुष्य के शरीर को देखकर (ताः) वे अग्नि आदि सब देवता (इति) इस प्रकार

(अब्रुवन्) परब्रह्म नारायण से कहें कि (वत) बड़े हर्ष की बात है (सुकृतम्) यह अधिष्ठान बहुत सुन्दर बना है (वाव) सचमुच ही (पुरुषः) मनुष्य शरीर (सुकृतम्) परब्रह्म नारायण की सुन्दर रचना है फिर (ताः) उन अग्नि आदि देवताओं से (इति) इस प्रकार (अब्रवीत्) परब्रह्म नारायण ने कहा (यथायतनम्) अपने अपने यथायोग्य आश्रयस्थानों में (प्रविशत) तुम लोग प्रवेश करो ॥३॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में मनुष्य शरीर की उत्पत्ति और देवताओं द्वारा उसकी स्वीकृति प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार जब अग्नि आदि देवताओं ने गौ और घोड़े के शरीरों को अपने लिये यथेष्ट नहीं समझा तब परब्रह्मनारायण ने उन देवताओं के लिये पुरुष यानी मनुष्य शरीर की रचना की और उन देवताओं को दिखाया। इस श्रुति में "पुरुष" शब्द का अर्थ मनुष्य है। क्योंकि लिखा है—

पुरुषो धातृपुन्नामनरात्मपरमात्मसु (अभिधानकोश०) धाता में १, पुन्नाम में २, मनुष्य में ३, जीवात्मा में ४ और परमात्मा में ५ पुरुष शब्द का प्रयोग होता है। मनुष्य के शरीर को देखते ही सब अग्नि आदि देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि हे भगवन् यह हमारे लिये बहुत सुन्दर निवास स्थान बन गया। इसमें हम आराम से रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभांति पूर्ण हो सकेंगी। सचमुच मनुष्य शरीर पर ब्रह्मनारायण की सुन्दर और श्रेष्ठ रचना है। क्योंकि श्रीमद्भावत में लिखा है— **नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्** (श्रीमद्भागव०) देवदुर्लभ सब धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का आद्य कारण मनुष्य शरीर सुन्दर प्राप्त हुआ है। जब सब अग्नि आदि देवताओं ने मनुष्य शरीर को पसन्द किया तब देवताओं से परब्रह्मनारायण ने कहा— तुम लोग अपने अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीर में प्रवेश कर जाओ ॥३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशदोषधिवनस्पतयो लोमानि-

भूत्वात्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापोरेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

अन्वयार्थः – (अग्निः) अग्निदेवता (वाक्) वाक् इन्द्रिय (भूत्वा) होकर (मुखम्) मुखछिद्र में (प्राविशत्) प्रवेश किया और (वायुः) वायु-देवता (प्राणः) प्राण (भूत्वा) होकर (नासिके) नासिका के दोनों छिद्रों में (प्राविशत्) प्रवेश किया तथा (आदित्यः) सूर्य देवता (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (भूत्वा) होकर (अक्षिणी) आंखों के गोलकों में (प्राविशत्) प्रवेश किया (दिशः) दिशाओं के अभिमानी देवता (श्रोत्रम्) श्रोत्रइन्द्रिय (भूत्वा) होकर (कर्णौ) दोनों कान के छिद्रों में (प्राविशन्) प्रवेश किये और (ओषधि वनस्पतयः) ओषधि तथा वनस्पतियों के अभिमानी देवता (लोमानि) रोएँ (भूत्वा) होकर (त्वचम्) चमड़े में (प्राविशन्) प्रवेश किये (चन्द्रमा) चन्द्र-देवता (मनः) मन (भूत्वा) होकर (हृदयम्) हृदय में (प्राविशत्) प्रवेश किया तथा (मृत्युः) मृत्यु देवता (अपानः) अपानवायु (भूत्वा) होकर (नाभिम्) नाभि में (प्राविशत्) प्रवेश किया और (आपः) जल का अभि-मानीदेवता (रेतः) वीर्य (भूत्वा) होकर (शिश्नम्) लिङ्ग में (प्राविशन्) प्रवेश किये ॥४॥

विशेषार्थ – इस श्रुति में अग्नि आदि देवताओं का अपने अपने आयतनों में प्रवेश करना वर्णन किया गया है कि – जिस प्रकार महाराजा की आज्ञा पाकर नगरी में सेनाध्यक्ष आदिक प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार सृष्टिकर्ता परब्रह्मनारायण की आज्ञा पाकर अग्निदेवता ने वाक् इन्द्रिय का रूप धारण करके मनुष्य के मुख छिद्र में प्रवेश किया और जिह्वा को अपना आश्रय बना लिया। यह उपलक्षणमात्र है इससे यहां पर यह भी समझना चाहिये कि वरुण देवता भी रसना इन्द्रिय बनकर मनुष्य के मुखछिद्र में प्रवेश किया। फिर वायुदेवता प्राणवायु बनकर नासिका के दोनों छिद्रों में प्रवेश किया। यहां उपलक्षण से यह भी समझना चाहिये कि— अश्विनीकुमार देवता घ्राण इन्द्रिय का रूप धारण करके मनुष्य की नासिका के दोनों छिद्रों में प्रवेश कर गये। उसके बाद सूर्यदेवता नेत्र

इन्द्रिय बनकर मनुष्य के आंखों के दोनों गोलकों में प्रवेश कर गया। फिर दिशाभिमानीदेवता श्रोत्र इन्द्रिय बनकर मनुष्य के दोनों कानों के छिद्रों में प्रवेश किये। और ओषधि तथा वनस्पतियों के अभिमानी देवता रोम बनकर मनुष्य के चमड़े में प्रवेश किये। ओषधि और वनस्पति के विषय में लिखा है—

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः (मनु० अ० १ श्लो० ४६)
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥४७॥

बहुत फूल फल से युक्त और फल के पकने से नष्ट होनेवाले व्रीहि यव आदिक ओषधि हैं ॥४६॥ और जो फूल से रहित हों और फलवाले हों ऐसे गूलर आदि को वनस्पति कहते हैं ॥४७॥ और चन्द्रमादेवता मन का रूप धारण करके मनुष्य के हृदय में प्रवेश किया। हृदय के विषय में लिखा है-

पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम् ।
अधोनिष्ठया वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति ।
हृदयं तद्विजानीयाद्विश्वस्यायतनं महत् ॥
(तैत्ति० आ० प्रपाठ० १० अनुवा० ११ श्रु० ८)

नीचे मुखवाला कमलपुष्प के कोश के समान नाभि से एक बीता ऊपर में सुन्दर मांस का पिण्ड है उसी को हृदय जानना चाहिये वह सबके बड़ा स्थान है ॥८॥ और मृत्युदेवता अपान यानी पायु इन्द्रिय का रूप धारण करके मनुष्य की नाभि में प्रवेश किया। तथा जल के अधिष्ठातृ देवता वीर्य बनकर जननेन्द्रिय के स्थान लिङ्ग में प्रवेश कर गए। इस प्रकार सब देवता मनुष्य के देह में अपने अपने उपयुक्त योग्य स्थानों में प्रवेश करके स्थित हो गये। यतिचक्रचूडामणि भगवद्रामानुजाचार्य—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० ५) के श्रीभाष्य में "ऐतरेयोपनिषद्" के प्रथमाध्याय का द्वितीय खण्ड की चतुर्थ श्रुति के "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इन खण्डों को उद्धृत किये हैं ॥४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहि

ति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥५॥

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयखण्डः ॥

अन्वयार्थ—(अशनायापिपासे) भूख और प्यास ये दोनों (तम्) उस परब्रह्मनारायण से (इति) इस प्रकार (अब्रूताम्) बोलीं (आवाभ्याम्) हमारे लिये भी (अभिजानीहि) भलीभांति विचार करके कोई स्थान बतलाइये तब (ते) उन दोनों भूख और प्यास से (अब्रवीत्) वह परब्रह्म नारायण ने कहा (वाम्) तुम दोनों को (एतासु) इन सब (देवतासु) देवताओं में (एव) ही (आभजामि) मैं तुम्हारी वृत्ति का विभाग करके अनुगृहीत करता हूँ (एतासु) इन देवताओं में ही तुम्हें (इति) इस प्रकार (भागिन्यौ) भागग्रहण करनेवाली (करोमि) मैं बनाता हूं (तस्मात्) इसलिये (यस्यै) जिसो (कस्यै) किसो (च) भी (देवतायै) देवता के लिये (हविः) चरुपुरोडाशादि हवि (गृह्यते) ग्रहण किया जाता है (अस्याम्) इस देवता के ही भाग में (अशनायापिपासे) भूख और प्यास ये दोनों (एव) निश्चय (भागिन्यौ) भागवाले (भवतः) होते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में क्षुधा और पिपासा का विभाग प्रतिपादन किया गया है। भूख और प्यास ये दोनों परब्रह्मनारायण से कहने लगीं कि—हे भगवन् इन सबके लिये तो श्रीमान् रहने का स्थान निश्चित कर दिये। अब हमारे लिये भी किसी स्थान विशेष की व्यवस्था करके उसमें हमें स्थापित कीजिये। इस बात को सुनकर सृष्टि के रचयिता परब्रह्म नारायण ने कहा। तुम दोनों के लिये पृथक् स्थान की आवश्यकता नहीं है। तुम दोनों को मैं इन देवताओं के ही स्थानों में भाग देता हूँ। इन देवताओं के आहार में मैं तुम दोनों को हिस्सेदार बनाता हूँ। सृष्टि के आदि में नारायण ने ऐसी व्यवस्था कर दी थी इसलिये इस समय भी जिस किसी देवता के लिये चरु पुरोडाशादि हविष्यान्न दिया जाता है तो उस देवता के भाग में क्षुधा और पिपासा भी हिस्सेदार होती ही हैं। अर्थात् इन्द्रिय के अभिमानी देवता की तृप्ति के साथ क्षुधा पिपासा की भी

शान्ति मिलती है। यहां "ऐतरेयोपनिषद्" के प्रथमाध्याय का द्वितीय खण्ड समाप्त हो गया ॥५॥

॥ अथ तृतीय खण्डः ॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥१॥

अन्वयार्थ—(सः) वह परब्रह्मनारायण ने (इति) इस प्रकार (ईक्षत) विचार किया (नु) निश्चय ही (इमे) ये सब (लोकाः) लोक (च) और (लोकपालाः) लोकपाल देवता (च) भी रचे गये अब (एभ्यः) इनलोकपालों के लिये (अन्नम्) अन्न को (सृजै) मैं रचूं ॥१॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में अन्न रचना का विचार वर्णन किया गया है। इन सबकी रचना हो जाने पर परब्रह्म नारायण ने फिर विचार किया। क्योंकि लिखा है—**स ईक्षाञ्चक्रे ।** (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥३॥ **सोऽकामयत ।** (तैत्ति० उ० व० २ अनु० ६) वह परब्रह्म नारायण ने कामना किया ॥६॥ **तदैक्षत ।** (छा० उ० अ० ६ खं० २ श्रु० ३) वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया ॥३॥ इन श्रुतियों के अनुसार नारायण ने विचार किया कि अम्भ १, मरीचि २, मर ३, और आप ४ इन लोकों की रचना मैंने किया। लोक के विषय में लिखा है—**अम्भो मरीचिर्मरमापः ।** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० २) अम्भ १, मरीचि २, मर ३ और आप ४ ये लोक हैं ॥२॥ और अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, मृत्यु, आदि लोकपालों की रचना मैंने किया। लोकपालों के विषय में लिखा है—

वाचोऽग्निः । प्राणाद्वायुः । चक्षुष आदित्यः। मनसश्चन्द्रमा। अपानान्मृत्युः । (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० ४) वाक् इन्द्रिय से लोकपाल अग्नि देवता उत्पन्न हुआ। प्राणवायु से लोकपाल वायु देवता उत्पन्न हुआ। चक्षु इन्द्रिय से लोकपाल सूर्यदेवता उत्पन्न हुआ। मन से लोकपाल चन्द्रमादेवता उत्पन्न हुआ। अपान वाला पायु इन्द्रिय से लोकपाल मृत्यु देवता उत्पन्न हुआ ॥४॥ इस श्रुति के अनुसार लोकपालों की रचना

भी मैंने कर दी और इन्हें भूख तथा प्यास से भी मैं संयुक्त कर दिया। क्योंकि लिखा है–

तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । (ऐत० उ० अ० १ खं० २ श्रु० १) परब्रह्म नारायण ने उस लोकपालगण को क्षुधा और पिपासा से संयुक्त कर दिया ॥१॥ अतः अन्न के बिना इनकी स्थिति नहीं हो सकती इस लिये इन लोकपालों के लिये मैं अन्न को रचूं। अन्न के विषय में लिखा है–अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यते । (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० २) प्राणियों करके खाया जाता है और वह भी प्राणियों को खाता है इसी से वह अन्न कहा जाता है ॥२॥ पूर्वोक्त प्रकार से अन्न रचना करने का विचार परमात्मा ने किया ॥१॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥२॥

अन्वयार्थ—(सः) वह परब्रह्म नारायण (अपः) जलों को लक्ष्य करके (अभ्यतपत्) भलीभांति विचार रूप तप किया (अभितप्ताभ्यः) परमात्मा के संकल्प द्वारा भलीभांति तपाये हुए (ताभ्यः) उन जलों से (मूर्तिः) मूर्ति (अजायत) उत्पन्न हुई (सा) वह (या) जो (वै) प्रसिद्ध (मूर्तिः) मूर्ति (अजायत) उत्पन्न हुई (तत्) वह (वै) निश्चय (अन्नम्) अन्न है ॥२॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में अन्न की रचना प्रतिपादन किया गया है कि—अन्न रचने की इच्छा वाला वह परब्रह्म नारायण ने उन पूर्वोक्त जलों को ही उद्देश्य करके भलीभांति विचाररूप तप किया। क्योंकि लिखा है— यस्य ज्ञानमयं तपः । (मुण्डको० मुं० १ खं० १ श्रु० १०) जिस परब्रह्म नारायण का ज्ञानमय तप है ॥१०॥ परब्रह्म नारायण के संकल्प द्वारा भलीभांति तपाये हुए उन जलों से शरीर धारण करने में समर्थ चर अचर रूप मूर्ति उत्पन्न हुई। वह जो प्रसिद्ध मूर्ति प्रकट हुई वही अन्न है अर्थात् लोकपालों के लिये भोग्य है। और अन्यत्र भी स्पष्ट लिखा है—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । (मुण्डको० मुं० १ खं० श्रु० ८) परब्रह्म नारायण ज्ञानमय तप से उपचय को प्राप्त होता है तब उस

परब्रह्म नारायण से अन्न यानी भोग्य भोक्तृरूप चेतनाचेतन संघात लक्षण अव्याकृत उत्पन्न होता है ॥६॥ अन्न के विषय में लिखा है—

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ।

(तै० उ० व० २ अनुवा० २)

प्राणियों करके जो खाया जाता है और प्राणियों को जो खाता है इस लिये वह अन्न कहा जाता है ॥२।२॥

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(सृष्टम्) लोकपालों के आहार के लिये उत्पन्न किया हुआ (तत्) वह मूर्तिरूप (एनत्) यह अन्न (पराङ्) भोक्ता पुरुष से पराङ्मुख होकर (अत्यजिघांसत्) भागने की चेष्टा करने लगा तब वह आदि पुरुष ने (तत्) उस अन्न को (वाचा) वाक् इन्द्रिय द्वारा (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (वाचा) वाक् इन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (वाचा) वाक् इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (अभिव्याहृत्य) कहकर (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥३॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में अन्न का पलायन और उसके ग्रहण का उद्योग वर्णन किया गया है—लोकपालों के आहार के लिये उनके सम्मुख निर्मित हुआ अन्न यों समझ कर कि यह मुझे खाने वाला तो मेरी मृत्यु है। अतः उस भोक्ता पुरुष की ओर से मुख फेरकर भागने की चेष्टा करने लगा। तब वह आदि पुरुष ने उस अन्न को वाणी द्वारा पकड़ना चाहा परन्तु वह आदि पुरुष उस अन्न को वाणी द्वारा पकड़ नहीं सका। वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्नको वाणी से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब मनुष्य अन्न को वाणी से उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते अर्थात् अन्न ऐसा कहने से उनका पेट भर जाता परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः

जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को वाणी से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

अन्वयार्थ—तब वह आदि पुरुष ने (तत्) उस अन्न को (प्राणेन) घ्राण इन्द्रिय द्वारा (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (प्राणेन) घ्राण इन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (सः) वह आदि पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (प्राणेन) घ्राण इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (अभिप्राण्य) सूंघकर (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥४॥

विशेषार्थ—तब वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को प्राण के द्वारा अर्थात् घ्राण इन्द्रिय के द्वारा पकड़ना चाहा। इस श्रुति में "प्राण" शब्द घ्राण इन्द्रिय वाचक है। क्योंकि इससे पहले। **वाचाजिघृक्षत्।** (ऐत० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० ३) वाक् इन्द्रिय से पकड़ना चाहा ॥३॥ यह श्रुति है। और प्रकृत चतुर्थ श्रुति के बाद। **चक्षुषाजिघृक्षत्।** (ऐ० उ० अ० १ खं० ३ श्रु० ५) नेत्र इन्द्रिय से पकड़ना चाहा ॥५॥ यह श्रुति है। अतः दोनों श्रुतियों के मध्य में पठित इन्द्रिय प्रकरण में "प्राण" शब्द घ्राण इन्द्रिय वाचक यहां है। और घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध वायु तथा प्राण के सहयोग से ही घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है। और घ्राण इन्द्रिय के निवासस्थान नासिका छिद्रों से ही प्राण का आवागमन होता है। इस लिए यहां घ्राणेन्द्रिय का ही वाचक "प्राण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। वह आदि पुरुष लेकिन उस प्रसिद्ध अन्न को घ्राण इन्द्रिय के द्वारा भी नहीं पकड़ सका। वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्न को घ्राण इन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को नाक से सूंघकर ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः जान पड़ता है कि वह

पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को घ्राण इन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥४॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस अन्न को (चक्षुषा) नेत्र इन्द्रिय द्वारा (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (चक्षुषा) नेत्र इन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (सः) वह आदिपुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (चक्षुषा) नेत्र इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (दृष्ट्वा) देखकर (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥५॥

विशेषार्थ—फिर वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को नेत्र इन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उस प्रसिद्ध अन्न को नेत्र इन्द्रिय से भी नहीं ग्रहण कर सका। वह सब देवताओं से पहले उत्पन्न हुआ देह धारी यदि इस अन्न को चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को आंख से देखकर ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को नेत्र इन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥५॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस अन्न को (श्रोत्रेण) श्रोत्र इन्द्रिय से (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (श्रोत्रेण) श्रोत्र इन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (असक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (सः) वह आदि पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (श्रोत्रेण) श्रोत्र इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (श्रुत्वा) सुनकर (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥६॥

विशेषार्थ—फिर वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उस प्रसिद्ध अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय से भी ग्रहण नहीं कर सका। वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को कान से केवल सुनकर ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥६॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस अन्न को (त्वचा) त्वक् इन्द्रिय से (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (त्वचा) त्वक् इन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लियें (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (सः) वह आदि पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (त्वचा) त्वक् इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (स्पृष्ट्वा) छूकर (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥७॥

विशेषार्थ—जब श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सका तब वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को त्वक् इन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उस प्रसिद्ध अन्न को त्वक् इन्द्रिय से भी ग्रहण नहीं कर सका! वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्न को त्वक् इन्द्रिय से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को त्वक् इन्द्रिय से केवल छूकर ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को त्वक् इन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥७॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम् ।
स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस अन्न को (मनसा) अन्तःकरण मन से (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को

(मनसा) अन्तःकरण मन से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्)यदि (सः) वह आदि पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (मनसा) अन्तःकरण मन से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अव भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (ध्यात्वा) चिन्तन करके (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥८॥

विशेषार्थ—तदनन्तर वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को अन्तःकरण मन से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उस प्रसिद्ध अन्न को अन्तःकरण मन से भी ग्रहण नहीं कर सका। वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्न को अन्तःकरण मन से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को मन से केवल चिन्तन करके ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को मन से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नो च्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्य द्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥९॥

अन्वयार्थ—(तत्) उस अन्न को (शिश्नेन) उपस्थ इन्द्रिय से (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया परन्तु वह (तत्) उस अन्न को (शिश्नेन) जननेन्द्रिय से (ग्रहीतुम्) ग्रहण करने के लिये (न) नहीं (अशक्नोत्) समर्थ हुआ (यत्) यदि (सः) वह आदि पुरुष (ह) प्रसिद्ध (एनत्) इस अन्न को (शिश्नेन) उपस्थ इन्द्रिय से (अग्रहैष्यत्) ग्रहण कर लेता तो अब भी मनुष्य (ह) प्रसिद्ध (अन्नम्) अन्न को (विसृज्य) त्याग करके (एव) निश्चय ही (अत्रप्स्यत्) तृप्त हो जाता ॥९॥

विशेषार्थ—फिर वह आदि पुरुष ने उस प्रसिद्ध अन्न को उपस्थ इन्द्रिय-लिङ्ग से ग्रहण करना चाहा। परन्तु वह उस प्रसिद्ध अन्न को उपस्थ इन्द्रिय से भी ग्रहण नहीं कर सका। वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्न को उपस्थ इन्द्रिय-लिङ्ग से ग्रहण कर लेता तो अब भी सब लोग अन्न को जननेन्द्रिय-लिङ्ग से केवल त्याग करके ही तृप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है इससे जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न पुरुष भी अन्न को उपस्थ इन्द्रिय से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था ॥९॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् । सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायु रन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(तत्) अन्त में उस अन्न को (अपानेन) मुख के छिद्र द्वारा अपान वायु से (अजिघृक्षत्) ग्रहण करने की इच्छा किया और इस बार (तत्) उस अन्न को (आवयत) वह आदि पुरुष ग्रहण कर लिया (यत्) जो (वायुः) अपान वायु है (सः) वह (एषः) यह अपान वायु (अन्नस्य) अन्न का (ग्रहः) ग्रहण करने वाला है (यत्) जो (वायुः) अपान वायु है (एषः) यह अपान वायु (वै) निश्चय (अन्नायुः) अन्न से जीवन धारण करने वाला है ॥१०॥

विशेषार्थ—इस प्रकार वह आदि पुरुष ने उस अन्न को वाणी से, घ्राण से, नेत्र से, श्रोत्र से, त्वचा से, मन से, लिङ्ग से एवं भिन्न भिन्न इन्द्रियों से ग्रहण करने में असमर्थ होकर अन्त में उस अन्न को मुख के छिद्र द्वारा अपान वायु से ग्रहण करने की इच्छा किया। अपान वायु के विषय में लिखा है— **पायुपस्थेऽपानम् ।** (प्रश्नो० प्र० ३ श्रु० ५) मलद्वार और मूत्र द्वार में अपान वायु रहता है ॥५॥ **अपानो गुदमण्डले ।** (योग० चू० उ० श्रु० २३) गुदमण्डल में अपान वायु रहता है ॥२३॥

अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु ।
उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत ॥

(जाबालद० उ० खं० ४ श्रु० २७)

हे सुव्रत अपानवायु गुदा, लिङ्ग, जांघों, घुटनों, सम्पूर्ण उदर, कटि, नाभि और पिण्डलियों में भी सदा वर्तमान रहता है ॥२७॥ और इस बार उस अन्न को अपानवायु से मुखछिद्र द्वारा वह आदिपुरुष ग्रहण कर लिया। इसी कारण से यह अपानवायु अन्न को ग्रहण करने वाला है। और जो वायु अन्न द्वारा जीवन धारण करने वाला प्रसिद्ध है वह यह अपान वायु ही है ॥१०॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतम् ।

यदि प्राणेनाभिप्राणितम् । यदि चक्षुषा दृष्टम् । यदि श्रोत्रेण श्रुतम् । यदि त्वचा स्पृष्टम् । यदि मनसा ध्यातम् । यद्यपानेनाभ्यपानितम् । यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥११॥

अन्वयार्थ—(इदम्) यह मनुष्यरूप पुरुष (मत्) मेरे (ऋते) बिना (नु) निश्चय ही (कथम्) कैसे (स्यात्) रहेगा (इति) इस प्रकार (सः) वह सृष्टि के रचयिता परब्रह्म नारायण ने (ईक्षत) विचार किया (कतरेण) किस द्वार से (प्रपद्यै) मैं इस मनुष्य शरीर में प्रवेश करूँ (इति) इस प्रकार (सः) वह नारायण ने (ईक्षत) विचार किया कि (यदि) जो (वाचा) वह पुरुष वाणी से (अभिव्याहृतम) भलीभांति बोल लिया और (यदि) जो (प्राणेन) घ्राण इन्द्रिय से (अभिप्राणितम्) भलीभांति सूंघ लिया तथा (यदि) जो (चक्षुषा) नेत्र इन्द्रिय से (दृष्टम्) देख लिया और (यदि) जो (श्रोत्रेण) श्रोत्र इन्द्रिय से (श्रुतम्) सुन लिया तथा (यदि) जो (त्वचा) त्वक् इन्द्रिय से (स्पृष्टम्) स्पर्श कर लिया और (यदि) जो (मनसा) मन से (ध्यातम्) चिन्तन कर लिया तथा (यदि) जो (अपानेन) अपान वायु से (अभ्यपानितम्) अन्नभक्षण कर लिया और (यदि) जो (शिश्नेन) उपस्थ इन्द्रिय से (विसृष्टम्) मूत्र और वीर्य का त्याग कर लिया तो (अथ) अब (अहम्) मैं (कः) कौन हूँ (इति) इस प्रकार (सः) वह परब्रह्म नारायण ने (ईक्षत) विचार किया ॥११॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में परब्रह्म नारायण का शरीर प्रवेश संबन्धी विचार प्रतिपादन किया गया है। जब लोक और लोकपालों की रचना हो गयी। तथा उन सबके लिये आहार भी उत्पन्न हो गया। और मनुष्य शरीरधारी पुरुष ने उस आहार को ग्रहण करना भी सीख लिया। तब वह सर्वस्रष्टा नारायण ने फिर विचार किया कि—यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा और साथ ही यह भी विचार किया कि—यदि मेरे बिना यह मनुष्य रूप वाला पुरुष ने वाणी से बोल लिया और घ्राण इन्द्रिय से सूंघ लिया तथा नेत्र इन्द्रिय से देख लिया और कर्णेन्द्रिय से सुन लिया तथा त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श कर लिया और मन से चिन्तन कर लिया तथा

अपानवायु से अन्न भक्षण कर लिया और यदि जननेन्द्रिय से मूत्र और वीर्य का त्याग कर लिया तो फिर मेरा क्या उपयोग रह गया। यह सोच कर वह परब्रह्म नारायण ने विचार किया कि इस मनुष्य शरीर में मैं किस द्वार से प्रवेश करूँ ॥११॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत ।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् ।
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः ।
अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सः) वह सृष्टिकर्ता परब्रह्म नारायण ने (एतम्) इस मनुष्य शरीर के (एव) ही (सीमानम्) सीमा-मूर्धा को (विदार्य) विदीर्णकर (एतया) इसी (द्वारा) ब्रह्मरंध्रद्वार से (प्रापद्यत) मनुष्य शरीर में प्रवेश किया (सा) वह (एषा) यह प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र (द्वाः) द्वार (विदृतिः) विदृति (नाम) नाम वाला है (तत्) वह (एतत्) यह (नान्दनम्) आनन्द देने वाला द्वार है (तस्य) उस परब्रह्म नारायण के (त्रयः) तीन (आवसथाः) निवास स्थान हैं (त्रयः) तीन (स्वप्नाः) स्वप्न हैं (अयम्) यह हृदयगुहा (आवसथः) एक निवास स्थान है और (अयम्) यह परमधामवैकुण्ठ (आवसथः) दूसरा निवास स्थान है तथा (अयम्) यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड (आवसथः) तीसरा निवासस्थान है (इति) इस प्रकार जानना चाहिये॥१२॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में परब्रह्म नारायण का मूर्धद्वार से शरीर में प्रवेश वर्णन किया गया है। वह सृष्टिकर्ता परब्रह्म नारायण ने इस मनुष्य शरीर की सीमा यानी मूर्धा ब्रह्मरन्ध्र को चीर कर इसी ब्रह्मरन्ध्रद्वार से मनुष्य शरीर में जीवरूप शरीर द्वारा प्रवेश किया। क्योंकि लिखा है—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य । (छां० उ० अ० ६ खं० ३ श्रु० २)

इस जीवात्मा के द्वारा पीछे से शरीर में प्रवेश करके ॥२॥ वह यह प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र द्वार विदीर्ण किया जाने के कारण "विदृति" नाम से प्रसिद्ध है। वह ब्रह्मरन्ध्रद्वार आनन्दगुण वाला परब्रह्म नारायण को प्राप्त कराने वाला है। उस परब्रह्म नारायण के हृदय वैकुण्ठ और समस्त ब्रह्माण्ड ये तीन निवास स्थान हैं। परब्रह्म नारायण के एक हृदय स्थान है।

क्योंकि लिखा है—पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। (कठो० अ० २ व० ३ श्रु० १७) सब का अन्तर्यामी परमपुरुष परब्रह्म नारायण सब मनुष्यों के हृदय में सदैव संनिविष्ट है ॥१७॥ निहितं गुहायाम् । (मुण्डको० मुं० ३ खं० १ श्रु० ७) हृदयरूपी गुफा में परमात्मा स्थित है ॥७॥ आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० २०) परब्रह्म नारायण इस जीव की हृदयरूप गुफा में स्थित है ॥२०॥ सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । (श्वे० उ० अ० ४ श्रु० १७) परब्रह्म नारायण सर्वदा सब जनों के हृदय में स्थित रहता है ॥१७॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म । (छा० उ० अ० ८ खं० १ श्रु० १) जो इस ब्रह्मपुर यानी शरीर में हृदय कमल है वह परमात्मा का घर है ॥१॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः । (गी० अ० १५ श्लो० १५)

मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ ॥१५॥ इन प्रमाणों से सबके हृदय में परब्रह्म नारायण का निवास स्थान सिद्ध होता है। और दूसरा वैकुण्ठलोक निवास स्थान है। क्योंकि लिखा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः । (ऋग्वे०अष्टक० ८ मण्डल० १० अध्या० ४ अनुवा० ७ सूक्त ९० मं० ४) (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपाठक ६ अर्धप्रपा० ३ सू० १३ मं० ४) (शुक्लयजु० अध्या० ३१ मं० ४) अपरिच्छिन्न ज्ञानशक्त्यादिमान् संसारस्पर्श रहित वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्नरूप तीनपाद परब्रह्मनारायण प्रकृति मण्डलसे ऊपर परमव्योम वैकुण्ठ में स्थित होता है ॥४॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् । (अथर्ववे० कां० १९ अनुवा० १ सूक्त ६ मं० २) तीन पादों से परमव्योम वैकुण्ठ में परब्रह्म नारायण स्थित रहता है ॥२॥ सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । (कठो०अ० १ व० ३ श्रु० ९) वह उत्तमोपासक संसारमार्ग के पार पहुँच कर परब्रह्म नारायण भगवान् के उस सुप्रसिद्ध सबसे श्रेष्ठ परमपद वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेता है ॥९॥

मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति । (बृह०उ०अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १५)

मानस पुरुष आकर मुक्तजीव को परब्रह्म के वैकुण्ठलोक में ले जाता है ॥१५॥

स ब्रह्मलोकम् । कौषीतकि ब्राह्मणो० अ० १ श्रु० ३) वह मुक्तजीव ब्रह्मलोक वैकुण्ठ को प्राप्त करता है ॥३॥

वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्धं जगत्पतिः ।
उभाभ्यां भूमिनीलाभ्यां सेवितः परमेश्वरः ॥ (पाञ्चरात्र०)

सबसे श्रेष्ठ वैकुण्ठलोक में भूदेवी और नीलादेवी से सेवित श्रीदेवी के साथ जगत्पति परब्रह्म नारायण रहते हैं। इन निगम आगम के प्रमाणों से वैकुण्ठलोक में परब्रह्म नारायण का निवासस्थान सिद्ध होता है। और तीसरा संपूर्ण ब्रह्माण्ड नारायण का निवास स्थान है। क्योंकि लिखा है—ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । (ईशो० श्रु० १) (यजुर्वे० अ० ४० मं० १) अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी स्थावर जंगम स्वरूप संसार है ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त यह भोक्तृ भोग्य रूप सब जगत् सर्वेश्वर परब्रह्म नारायण से व्याप्त है ॥१॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् । (श्वे०उ०अ०१ श्रु०१६) दूध में स्थित घी की भांति सर्वव्यापक परब्रह्म नारायण को ॥१६॥

यच्चकिञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । (तैत्ति० आ० प्रपाठ० १० अनुवा० ११ श्रु० ६) जो कुछ भी संसार देखा जाता है या सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्यापक होकर नारायण स्थित हैं ॥६॥

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः । (गी० अ० ११ श्लो० ४०) आप सबको व्याप्त कर रहे हैं इस लिये आप सर्वरूप हैं ॥४०॥

जगत्सर्वं शरीरं ते । (वाल्मीकिरामा० युद्धकां० ६ सर्ग० १२१) समस्त संसार आपका शरीर है ॥१२१॥ इन श्रुति, स्मृति, इतिहास के प्रमाणों से संपूर्ण ब्रह्माण्ड में परब्रह्म नारायण का निवास स्थान सिद्ध होता है। और इस जगत् की जो स्थूल सूक्ष्म और कारण रूप तीन अवस्थाएँ हैं वे ही इसके तीन स्वप्न हैं ॥१२॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वाव-

दिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् । इदमदर्शमिती ३ ॥१३॥

अन्वयार्थ—(जातः) मनुष्यरूप में उत्पन्न हुआ (सः) वह आदिपुरुष ने (भूतानि) पंच महाभूतों को (अभिव्यैख्यत्) चारों ओर से भलीभांति देखा और (इह) इस शरीर में (अन्यम्) दूसरा (किम्) कौन है (इति) इस प्रकार (वावदिषत्) कहा तब (सः) वह मनुष्य देहधारी आदि पुरुष ने (एतम्) इस अन्तर्यामी (पुरुषम्) परम पुरुष नारायण को (एव) ही (ततम्) सर्वव्यापक (ब्रह्म) परब्रह्म परमात्मा (अपश्यत्) देखा और (इती ३) इस प्रकार विचार प्रकट किया – अहो बड़े सौभाग्य की बात है कि (इदम्) इस परब्रह्म नारायण को (अदर्शम्) मैंने देख लिया ॥१३॥

विशेषार्थ—मनुष्यरूप में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने इस भौतिक जगत् की विचित्र रचना को बड़े आश्चर्य पूर्वक चारों ओर से देखा और अपने मनमें इस प्रकार विचार किया 'इस विचित्र जगत् की रचना करने वाला यहां दूसरा कौन है क्योंकि यह मेरी की हुई रचना तो है नहीं और कार्य होने के कारण इसका कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार विचार करने पर उस साधक ने अपने हृदय में अन्तर्यामी रूप से विराजमान जगत् में व्यापक परम पुरुष परब्रह्म नारायण को देखा। कर्ता परब्रह्म नारायण को प्रत्यक्ष करने के बाद वह भगवदुपासक आनन्द में मग्न होकर कहने लगा—अहो बड़े ही सौभाग्य की बात है कि मैंने परब्रह्म नारायण को देख लिया। इस श्रुति में "पुरुषम्" पद का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है – **सहस्रशीर्षा पुरुषः ।** (ऋग्वे० अष्ट० ८ मण्ड० १० अध्या० ४ अनु० ७ सू० ९० मं० १) (सामवे० पूर्वार्चि० प्रपाठ० ६ अर्ध-प्रपा० ३ सू० ५.३ मं० ३) (शुक्लय० अ० ३१ मं० १) अनन्त शिर वाला परब्रह्म नारायण हैं ॥१॥ **सहस्रबाहुः पुरुषः ।** (अथर्व० काण्ड० १९ अनुवा० १ सूक्त० ६ मं० १) अनन्त भुजा वाला परब्रह्म नारायण हैं ॥१॥ **पुरुषान्न परं किञ्चित् ।** (कठो० अ० १ व० ३ श्रु० ११) परब्रह्म नारायण से श्रेष्ठ कोई नहीं है ॥११॥ **इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ।** (प्रश्नो० प्र० ६ श्रु० ५) परब्रह्म नारायण को और

जाने वाली यह सोलहकला नारायणको प्राप्त होकर विलीन हो जाती हैं॥५॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद । (मुण्डको० मु० १ खं० २ श्रु० १३) जिससे अविनाशी परब्रह्म नारायण को जानता है ॥१३॥ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते । (छां० उ० अ० १ प्रपाठ० १ खं० ६ श्रु० ६) जो यह सूर्यमण्डल में हिरण्मय परब्रह्म नारायण देखा जाता है ॥६॥ योऽसावसौ पुरुषः । (बृह० उ० अ० ५ ब्रा० १५ श्रु० १) जो यह सूर्यमण्डल में वह परब्रह्म नारायण है ॥१॥ तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् । (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० ९) उस परब्रह्म नारायण से यह समस्त जगत् पूर्ण है ॥९॥ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत । (नाराय०उ० श्रु० १) निश्चय करके परब्रह्म नारायण ने कामना किया ॥१॥ ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषम् । (तैत्ति० आर० प्रपाठ० १० अनुवा० १२) ऋत सत्य परब्रह्म नारायण को ॥१२॥

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषोयोऽयं पवते योऽस्यां पुरिशेते तस्मात्पुरुषः । (शतपथ० १३।६।२।१) इन सब लोकों में पूर्ण होने से और सब शरीर में शयन करने से यह परब्रह्म नारायण पुरुष कहा जाता है ॥१॥

अनेन विधिना कृत्वा स्नपनं पुरुषस्य तु ।
दत्वा पायसमन्नं च शेषं परिसमापयेत् ॥

(बोधायनसूत्र विष्णवाराधनप्रकरण०)

इस विधि से परब्रह्म नारायण का स्नपन करके और पायसान्न को निवेदन करके शेष क्रिया को समाप्त करे ।

स्वहृदयपद्मस्यावाङ्मुखस्य मध्ये दीपवत्पुरुषं ध्यायेत् ।

(विष्णुस्मृ० अध्या० ९८)

अवाङ्मुख अपने हृदय कमल के मध्य में दीपक के समान प्रकाश परब्रह्म नारायण का ध्यान करे ॥९८॥

एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तः सनातनः । (शङ्खस्मृ० अ० ७)

यह परब्रह्म नारायण निश्चय ही व्यक्ति से अव्यक्त सनातन परमात्मा हैं ॥७॥ सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे। (गी० अ० ११ श्लो० १८) आप सनातन परब्रह्म नारायण हैं ऐसा मेरा मत है ॥१८॥ अव्ययः पुरुषः साक्षी। (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० २) अव्यय, पुरुष, साक्षी ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥२॥ महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्। (महाभार० शान्तिप० भीष्मस्तवरा० श्लो० ४३) महान् अन्धकार से परे अति तेजस्वी परब्रह्मनारायण हैं ॥४३॥

युगान्तशेषं पुरुषं पुराणं तं वासुदेवं शरणं प्रपद्ये ।

(महाभार० शान्तिप० गजेन्द्रमो० श्लो० ७५)

युगान्त में रहनेवाले सनातन सर्वव्यापी उस वासुदेव परब्रह्म नारायण की शरण मैं प्राप्त करता हूँ ॥७५॥

प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्। (वाल्मीकिरामा०)

प्राणायाम से जनार्दन परब्रह्मनारायण का ध्यान करती हुई।

पुरुषस्यांशसंभूतं त्वां वयं निरणैष्महि । (हरिवंशपु०)

हम परब्रह्मनारायण के अंश से उत्पन्न आपको निर्णय करते हैं।

तत्र गत्वा जगन्नाथं वासुदेवं वृषाकपिम् ।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥ (श्रीमद्भागवतपु०)

वहां पर जाकर वृषाकपि अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्वव्यापक परब्रह्म नारायण को समाहित होकर पुरुषसूक्तसे उपस्थान किये। अथवा—

पुरुषसूक्तेन पुरुषं नित्यमर्चयेत्। (अग्निपुरा०)

अथवा-पुरुषसूक्त से नित्यप्रति परब्रह्मनारायण की पूजा करे।

सर्वलोकपतिः साक्षात्पुरुषः प्रोच्यते हरिः ।
तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक् ॥ (नरसिंहपु०)

सर्वलोक के पति परब्रह्म नारायण साक्षात् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं उस कमलनयन परब्रह्मनारायण के बिना दूसरा कौन पुरुष शब्द से कहा जा सकता है।

पुंसंज्ञे तु शरीरेऽस्मिन् शयनात्पुरुषो हरिः ।
शकारस्य षकारोऽयं व्यत्ययेन प्रयुज्यते ॥ (पाद्मपुरा०)
यद्वा पुरे शरीरेऽस्मिन्नास्ते स पुरुषो हरिः ।
यदि वा पुरुवासीति पुरुषः प्रोच्यते हरिः ॥
यदि वा पूर्वमेवासमिहेति पुरुषं विदुः ।
यदि वा बहुदानाद्वै विष्णुः पुरुष उच्यते ॥
पूर्णत्वात्पुरुषो विष्णुः पुराणत्वाच्च शार्ङ्गिणः ।
पुराणभजनाच्चापि विष्णुः पुरुष ईर्यते ।
यद्वा पुरुषशब्दोऽयं रूढ्या वक्ति जनार्दनम् ॥

पुम् नाम इस शरीर में सोने से नारायण भगवान् पुरुष हैं। शकार का पुरुष शब्द में व्यत्यय से षकार प्रयोग किया जाता है ॥ अथवा इस शरीर में नारायण भगवान् रहते हैं इससे पुरुष कहे जाते हैं। या शरीर में वास करते हैं इससे परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं ॥ अथवा इस संसार में पहले से नारायण भगवान् थे इससे महर्षि लोग उनको पुरुष जानते हैं। या बहुत दान देने से ही विष्णुभगवान् पुरुष शब्द से कहे जाते हैं ॥ सर्वत्र पूर्ण होने से परब्रह्म नारायण के वे विष्णुभगवान् पुरुष कहे जाते हैं अथवा सबसे पुराने होने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं। या पुराण के सेवन करने से परब्रह्म नारायण पुरुष कहे जाते हैं। अथवा यह पुरुष शब्द रूढी से ही परब्रह्म नारायण को कहता है ॥

पुराणपुरुषो यज्ञः पुरुषः पुरुषोत्तमः ॥ (अभिधान को०)
पुराणपुरुष, यज्ञ, पुरुष और पुरुषोत्तम ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥ इन श्रुति स्मृति इतिहास पुराण और कोश के प्रमाणों से "पुरुष" का अर्थ परब्रह्म नारायण होता है। और ब्रह्मका लक्षण लिखा है ॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ॥
(तैत्ति० उ० व० ३ अनुवा० १)

जिससे निश्चय ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। और उत्पन्न हुए

सबभूत जिस करके जीवित रहते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं तथा अन्त में जिस कर के मुक्त हो जाते हैं उसको विशेषरूप से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म है ॥१॥ जन्माद्यस्य यतः ॥ (शा० मी० अ०१ पा० १ सू० २)

इस समस्त ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ मिश्र जगत् के जिस से उत्पत्ति पालन प्रलय आदिक होता है वही ब्रह्म है ॥२॥ यहां "इती३" पदमें जो प्लुत है वह विचार प्रदर्शित करने के लिये है। ऐसा समझना चाहिये ॥१३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम ।
तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण ।
परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१४॥

॥ इति प्रथमाध्याये तृतीयखण्डः ॥

॥ इति प्रथमाध्यायः ॥

अन्वयार्थ—(तस्मात्) इस लिये वह परब्रह्म नारायण (इदन्द्रः) इदन्द्र (नाम) नाम वाला है (इदन्द्रः) इदन्द्र (नाम)- नाम वाला वह नारायण (वै) निश्चय (ह) प्रसिद्ध है परन्तु (इदन्द्रम्) इदन्द्र (सन्तम्) होते हुए भी (तम्) उस परब्रह्म नारायणको (परोक्षेण) परोक्ष यानी गुप्त नाम से (इन्द्रः) इन्द्र (इति) ऐसा (आचक्षते) ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं (हि) क्योंकि (देवाः) देवता लोग (परोक्षप्रियाः) परोक्षसे प्रेम कर ने वाले के (इव) समान होते हैं (हि) क्योंकि (देवाः) देवता लोग (परोक्षप्रियाः) परोक्षसे प्रेम करने वाले के (इव) समान होते हैं ॥१४॥

विशेषार्थ—इसश्रुतिमें इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपादन की जाती है कि—परब्रह्म नारायण को उस मनुष्य शरीर में उत्पन्न हुए पुरुषने पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष कर लिया इसी कारण परब्रह्म नारायण का नाम "इदन्द्र" है। अर्थात् "इदम् + द्रः" इसको मैंने देख लिया। इस व्युत्पत्ति के अनुसार परब्रह्म नारायण का "इदन्द्र" नाम है। इस प्रकार यद्यपि उस परब्रह्म नारायण का नाम "इदन्द्र" ही प्रसिद्ध है। तौभी ब्रह्मवेत्ता लोग उस परब्रह्म नारायण को अत्यन्त पूज्य होने से और उसका प्रत्यक्ष नाम लेने के

भय से सम्यक् व्यवहार के निमित्त "इन्द्र" इस परोक्ष नाम से पुकारते हैं। क्योंकि लिखा है - इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।

(ऋग्वेद० अ० २ अ० ३ व० २२)

इन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि; गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक, सद् इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण नारायण को कहते हैं ॥२२॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥ (तैत्ति० आ० प्रपाठ० १० अनुवा० ११ श्रु० १४) वह परब्रह्म नारायण ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और अविनाशी परम स्वतंत्र परमात्मा है ॥१४॥ स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ (कैवल्योप० खं० १ श्रु० ८) वह परब्रह्म नारायण ही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अविनाशी परम स्वतंत्र परमात्मा है, वही विष्णु है वही प्राण है, वही काल है, वही अग्नि है, और वही चन्द्रमा है ॥८॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

(मनु० अ० १२ श्लो० १२३)

कुछ लोग इस परब्रह्म नारायण को अग्नि कहते हैं, कुछ लोग मनु कहते हैं और लोग प्रजापति कहते हैं तथा कुछ लोग इन्द्र कहते हैं कुछ लोग प्राण कहते हैं और लोग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥ इन श्रुति स्मृति के प्रमाणों से परब्रह्म नारायण को ही इन्द्र इस परोक्ष नाम से कहते हैं। निश्चय ही देवता लोग अपना परोक्ष नाम ग्रहण किया जाना ही प्रिय मानने वाले हैं। तो सब देवताओं के भी देव परब्रह्म नारायण के विषय में कहना ही क्या है। क्योंकि लिखा है—तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥ (श्वे० उ० अ० ६ श्रु० ७) उस संपूर्ण देवताओं के भी परम देवता नारायण को ॥७॥ दिव्यो देव एको नारायणः । (सुबालो० खं० ७) दिव्य देव एक नारायण है ॥७॥ निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः

शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्तिकश्चित् । (नारायणोप० श्रु० २) कलंक रहित, निरंजन, विकल्पहीन, निराख्यात, शुद्ध देव एक नारायण हैं दूसरा कोई नहीं है ॥२॥ और देवताओंके विषयमें लिखा है—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरास्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥

(यजु० अ० ३३ मं० ७)

तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा और इस अग्नि के लिये कुशा को आच्छादन करते हुए होता को होतृ कर्म में नियुक्त किया ॥७॥ अथवा "त्रीणि शता" ३०० तीन सौ "त्री सस्राणि" ३००० तीन सहस्र गुणित अर्थात् ९०००० त्रिंशत् नव च" और उन्तालीस ९०००३९ नव लाख उन्तालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं । अथवा—

नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः ।
ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः ॥

इस आगम प्रमाण से ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की शक्ति रूप से ३३३३३३३३३ इतने देवता होते हैं ॥७॥

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ॥

(अथर्ववे० कां० ११ प्रपा० अनुवा० १ मं० २४)

सबके अन्त में शेष रहने वाले श्रीमन्नारायण भगवान् से ऋक्, साम, छन्द और यजुः के साथ पुराण तथा दिवलोक में रहने वाले दिवि श्रित समस्त देवगण उत्पन्न हुए ॥२४॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्यु स्थानस्तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति । (निरु० दैवतकां० अ० ७ खं० ५)

यह तीन देवता हैं, अग्नि देवता पृथिवी स्थान में, वायु देवता और इन्द्र देवता अन्तरिक्ष स्थान में, और सूर्य देवता द्यु स्थान में हैं इन

देवताओं के महाभाग्य होने से एक एक के बहुत से नाम होते हैं ॥५॥

मध्याहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि ।

(शतप० अ० ११ प्र० ३ ब्रा० ८ कं० ८)

ये शास्त्र देवताओं की मध्यम आहुति हैं ॥८॥

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । (ईशो० श्रु० ४)

ब्रह्मा रुद्र आदिक देवता पहिले प्राप्त हुए इस परब्रह्म नारायण को नहीं प्राप्त कर सकें ॥४॥

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।

(केनो० खं० ३ श्रु० १)

परब्रह्म नारायण ने निश्चित है कि देवताओं में प्रवेश कर देवताओं के लिये असुरों को विजय किया विजय होने के बाद निश्चय करके तिस देवाविष्ट परब्रह्म नारायण के विजय में इन्द्रादिक देवताओं ने पूजा या गौरव अथवा अपने में महत्त्व का अभिमान कर लिया ॥१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

(कठो० अ० १ व० १ श्रु० २२)

हे नचिकेता इस मुक्तात्म स्वरूप के विषय में पहले आदि युग में बहुदर्शि देवताओं ने भी सन्देह किया था निश्चय करके यह मोक्ष स्वरूप बड़ा सूक्ष्म धर्म है सहज में जानने योग्य नहीं है ॥२२॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ ।

भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ॥ (प्रश्नो० प्र० २ श्रु० १)

इसके बाद प्रसिद्ध इस पिप्पलाद महर्षि से विदर्भ के पुत्र भृगु गोत्र में उत्पन्न होने वाले ऋषि ने पूछा कि हे भगवन् कितने देवता स्थावर जङ्गमरूप प्रजा को धारण करते हैं ॥१॥

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ।

(मुण्डको० मु० १ खं० १ श्रु० १)

ब्रह्मा चतुर्मुख इन्द्रादि सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ ॥१॥

ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः ।

(तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० ८ श्रु० ३)

देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवराज इन्द्र का एक आनन्द है ॥३॥ कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।

(मनु० अ० १ श्लो० २२)

वह प्राणियों का प्रभु कर्मात्मा इन्द्रादि देवगण को बनाया ॥२२॥

यान्ति देवव्रता देवान् । (गी० अ० ६ श्लो० २५) इन्द्रादिक देवताओं के पूजन विषयक संकल्प वाले पुरुष इन्द्रादि देवताओं को प्राप्त होते हैं ॥२५॥ देवादिवदपि लोके । (शा० मी० अ० २ पा० १ सू० २५) जैसे इन्द्रादि देवादिक अपने अपने लोक में संकल्पमात्र से अपेक्षित वस्तुओं को रचते हैं वैसे ही परब्रह्म नारायण समस्त जगत् को संकल्पमात्र से ही रचते हैं ॥२५॥ इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि देवता मनुष्य से अलग हैं देवता लोग परोक्ष से ही प्रेम करते हैं। इस श्रुति में "परोक्ष प्रिया इव हि देवाः" इस अन्तिम वाक्य को दो बार कह कर प्रकृत प्रथमाध्याय की समाप्ति सूचित की गयी है। क्योंकि लिखा है—

अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः ।
द्विरुक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये ॥

(वाराहसंहिता अ० १ पा० ४ सू० २६)

अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिये प्राज्ञजन अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करते हैं ऐसा श्रौत सिद्धान्त का विशेष रूप से निर्णय है ॥२६॥

अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद्वेदे वा वैदिकेऽपि वा ।
विचारो यत्र सज्जेत पूर्वोक्तस्यावधारणे ॥
अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतो भवेत् ।
विनिन्द्य चेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा ॥

(गारुडसंहिता० अ० २ पा० ४ सू० २३)

वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण

होना चाहिये। पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहां पर प्रवृत्त होता है वहां पर दो बार उच्चारण होता है। और जहां पर नहीं कहे हुए प्रमाणों का स्वीकार किया जाता है तथा वेद विरुद्ध मार्गों की निन्दा करके संपूर्णता रूप फल प्राप्त होता है वहां पर भी अन्तिम वाक्य दो बार कहा जाता है ॥२३॥ यहां "ऐतरेयोपनिषद्" के प्रथम अध्याय का तृतीय खण्ड और प्रकृत प्रथम अध्याय भी समाप्त हो गया ॥१४॥

॥ अथ अद्वितीयाध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह संसारी जीव (ह) प्रसिद्ध (आदितः) सबसे पहले पहल (पुरुषे) पुरुष के शरीर में (वै) निश्चय ही (गर्भः) वीर्य रूप से गर्भ (भवति) होता है (यत्) जो (एतत्) यह (रेतः) पुरुष के देह में वीर्य है (तत्) वह (एतत्) यह (सर्वेभ्यः) पुरुष के समस्त (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (सम्भूतम्) उत्पन्न हुआ (तेजः) तेज है (आत्मानम्) पुरुष पहले अपने ही स्वरूप भूत शुक्र रूप तेज को (आत्मनि) अपने शरीर में (एव) ही (बिभर्ति) धारण करता है फिर (यदा) जब (तत्) उस वीर्य को (स्त्रियाम्) स्त्री में (सिंचति) वह पुरुष सिंचन करता है (अथ) अनन्तर (एनत्) इसको (जनयति) गर्भ रूप से उत्पन्न करता है (तत्) वह (अस्य) इस संसारी पुरुष का (प्रथमम्) पहला (जन्म) जन्म है ॥१॥

विशेषार्थ—प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्तिका क्रम और मनुष्य शरीर का महत्त्व बताया गया और यह बात भी संकेत से कही गयी कि जीवात्मा इस शरीर में परमात्मा को जान कर कृतकृत्य हो जाता है। अब इस शरीर की अनित्यता दिखा कर वैराग उत्पन्न करने के लिये पुरुष का पहला जन्म वर्णन किया जाता है। यह संसारी जीव पहले पहल पिता-

रूप पुरुष के शरीर में वीर्यरूप से गर्भ बनता है। पुरुष के शरीर में जो यह वीर्य है वह संपूर्ण अङ्गों में से निकल कर उत्पन्न हुआ तेज यानी सार है। यह पिता अपने स्वरूपभूत उस वीर्यरूप तेज को पहले तो अपने शरीर में ही धारण पोषण करता है। फिर जिस समय भार्या ऋतुमती होती है उस समय पिता उस शुक्र को स्त्रीरूप अग्नि अर्थात् स्त्री की योनी में उस से संयोग कर के सिंचन करता है उस समय वह इस शुक्र को अपने गर्भरूप से उत्पन्न करता है। वह माता के शरीर में प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है। स्त्री के सहवास के विषय में लिखा है ॥

ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ (प्रश्नो० प्र० १ श्रु० १३)

जो गृहस्थ पुरुष रात में अपनी भार्या के सहवास रूप रति करके संयुक्त होते हैं वह निश्चय करके ब्रह्मचर्य है ॥१३॥

पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायाम् । (मुण्डको० मु० २ खं० १ श्रु० ५)

गृहस्थ पुरुष अपनी स्त्रीरूप अग्नि में वीर्य को सिंचन करता है ॥५॥ जो गृहस्थ पुरुष ऋतौ भार्यामुपेयात् ॥ (श्रुति०) ऋतुकाल में अपनी स्त्री से सहवास करे ॥ इस श्रुति के अनुसार ऋतुकाल में रात्रि के समय नियमानुसार अपनी भार्या के सहवासरूप रति को करते हैं वे तो शास्त्र की आज्ञा पालन करने से भगवान् के प्रिय हो जाते हैं। स्त्री के विषय में लिखा है—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ (मनु० अ० ३ श्लो० ५)

जो कन्या माता की छः पीढ़ियों में न हो और विवाह करने वाले के पिता के गोत्र की न हो उस से ही द्विजातियों का विवाह करना चाहिए और वही स्त्री मैथुन में प्रशस्त है ॥ ५॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः (मनु० अ० ३ श्लो० ४४)
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्तास्तत्र रात्रयः ॥४५॥
अमावस्याष्टमी चैव पौर्णमासी चतुर्दशी ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥४७॥

स्त्रियों के प्रतिमास में स्वाभाविक सोलह रात्र ऋतु काल कहा गया है ॥४॥ रजो दर्शन से लेकर सोलह दिनों तक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है इनमें पहली चार रात्रियां और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियां सर्वथा वर्जित हैं और शेष रात्रियां मैथुन कर्म में प्रशस्त हैं ॥४५॥ और शेष दश रात्रियों में पर्व—एकादशी, अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी और चतुर्दशी तिथि को छोड़कर पत्नी की रति कामना से जो स्नातक—गृहस्थ द्विज अपनी स्त्री से मैथुन करता है वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ नित्य ब्रह्मचारी है ॥४७॥

ततः स्त्रियं सुस्नातां चतुर्थेऽहनि धौतवाससमलङ्कृतां कृत-मङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्ता पश्येत् । (धन्वन्तरि)

चौथे दिन सुन्दर स्नान की हुई और स्वच्छ वस्त्र पहनी हुई सुन्दर अलंकृत और मङ्गल तथा स्वस्तिवाचन की हुई पत्नी को पति अवलोकन करे ।

स्तोकां तु न स्त्रियं गच्छेन्नातुरां न रजस्वलाम् । नातिबालां न कुपितामप्रशस्तां च गर्भिणीम् । (आह्निकसू० भाग ८)

छोटी, रोगी, रजस्वला, अत्यन्त बाल्यावस्था वाली, खिसिआयी हुई, आचरण भ्रष्ट और गर्भवाली स्त्री को रति के लिये कभी भी नहीं प्राप्त करे ॥८॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

(सुश्रुत० अ० १० श्लो० ४७)

जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥४८॥

सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में पचीस वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षि में प्राप्त हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है ॥४७॥ जो उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे और जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो इस कारण से अति बाल्यावस्था में गर्भ स्थापन न करे

॥४८॥ इन नियमों के अनुसार रात में जो अपनी ऋतुमती स्त्री के गर्भाशय में वीर्य स्थापन करता है वही माता के शरीर में प्रवेश करना इस संसारी पुरुष का पहला जन्म है। अपनी स्त्री से मैथुन करने में भी अग्नि में हवन करने की बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि लिखा है—

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमंत्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः।

(छां० उ० अ० ५ खं० ८ श्रु० १)

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥२॥

हे गौतम स्त्रीही अग्नि है उसका उपस्थ ही इन्धन है जो उपमंत्रण करता है वह धूम है योनि ज्वाला है और जो योनि के भीतर करता है वह अङ्गारे हैं तथा मैथुन से जो सुख होता है वह चिनगारियां हैं ॥१॥ उस इस स्त्रीरूप अग्नि में देवगण वीर्य को हवन करते हैं उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥२॥ और वृहदारण्यकोपनिषद् में भी लिखा है—

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति।

(बृह० उ० अ० ६ ब्रा० २ श्रु० १३)

हे गौतम स्त्रीही अग्नि है उपस्थ ही उसकी समिध है लोम धूम हैं योनि ज्वाला है और जो योनि के भीतर करता है वह अङ्गारे हैं तथा मैथुन से जो सुख होता है वह चिनगारियां हैं उस इस स्त्री रूप अग्नि में देवगण वीर्य को हवन करते हैं उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है ॥१३॥ इस प्रकार संसारी जीव का पहला जन्म वर्णन किया गया है ॥१॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति । यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह गर्भ (स्त्रियाः) स्त्री के (आत्मभूतम्) आत्मस्वरूप को (गच्छति) प्राप्त हो जाता है (यथा) जैसे (स्वम्) अपना (अङ्गम्) अङ्ग स्तनादि होता है (तथा) वैसे ही हो जाता है (तस्मात्) इसी कारण से (एनाम्) इस गर्भिणी स्त्री को (न) नहीं (हिनस्ति) वह गर्भ पीड़ा देता है (सा) वह गर्भिणी स्त्री (अत्र) यहां अपने शरीर में (गतम्) आये हुए (अस्य) इस अपने पति के (आत्मानम्) आत्मस्वरूप भूत (एतम्) इस गर्भ को (भावयति) अनुकूल भोजनादिका उपयोग करती हुई पालन पोषण करती है ॥२॥

विशेषार्थ—स्त्री के शरीर में उसके पति के द्वारा स्थापित किया हुआ वह गर्भ उस स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि होते हैं उसी प्रकार वह गर्भ भी उस गर्भिणी स्त्री के शरीर का एक अङ्ग साही हो जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उस स्त्री के उदर में रहता हुआ भी गर्भिणी स्त्री को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुंचाता है। वह गर्भिणी स्त्री इस अपने पति के आत्मा को अपने उदर में प्रविष्ट हुआ जानकर गर्भ के विरोधी भोजनादि को त्याग कर अनुकूल भोजनादि का उपयोग करती हुई उस गर्भ की भलीभांति रक्षा करती है ॥२॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥३॥

अन्वयार्थ—(भावयित्री) उस गर्भ का पालन पोषण करने वाली (सा) वह गर्भिणी स्त्री (भावयितव्या) पति द्वारा पालन पोषण करने योग्य (भवति) होती है (स्त्री) गर्भिणी स्त्री (तम्) उस (गर्भम्) गर्भ को (अग्रे) प्रसव से पहले (बिभर्ति) धारण करती है फिर (जन्मनः) जन्म लेने के (अधि) बाद (सः) वह पिता (अग्रे) पहले (एव) ही (कुमारम्) उत्पन्न हुए कुमार को (भावयति) जातकर्मादि संस्कारों से अभ्युदयशील बनाकर उस

बालक की उन्नति करता है (सः) वह पिता (यत्) जो (जन्मनः) जन्म लेने के (अधि) बाद (अग्रे) पहले ही (कुमारम्) बालक को (भावयति) जातकर्मादि संस्कारों से अभ्युदयशील बनाकर उसकी उन्नति करता है (तत्) वह (एषाम्) इन (लोकानाम्) लोक के मनुष्यों के (संतत्या) बढ़ाने के द्वारा (आत्मानम्) अपने को (एव) ही (भावयति) अभ्युदयशील बनाकर उन्नति करता है (हि) क्योंकि (एवम्) इसी प्रकार (इमे) ये सब (लोकाः) लोक (सन्तताः) विस्तार को प्राप्त हुए हैं (तत्) वह गर्भ से बाहर होकर बालक रूप में उत्पन्न होना (अस्य) इस संसारी पुरुष का (द्वितीयम्) दूसरा (जन्म) जन्म है ॥३॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में पुरुष का दूसरा जन्म वर्णन किया जाता है कि—अपने पति के आत्म स्वरूप उस गर्भ की सब प्रकार से रक्षा करने वाली गर्भिणी स्त्री घर के लोगों द्वारा और विशेषतः उसके पति द्वारा पालन पोषण करने योग्य होती है। क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
(मनु० अ० ३ श्लो० ५५)

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥५६॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥५९॥
संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥

यदि हि स्त्रीन रोचेत पुमासं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥६१॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥६२॥

बहुत कल्याण के चाहने वाले पिता, भ्राता, पति और देवर से ये सब स्त्रियां भोजनादि द्वारा पूजा करने योग्य और वस्त्र अलंकारादि द्वारा भूषण करने योग्य हैं ॥५५॥ जिस कुल में पिता आदि से स्त्रियां पूजित रहती हैं उस कुल में सब देवता प्रसन्न रहते हैं और जिस कुल में ये स्त्रियां पूजित नहीं रहती हैं उस कुल में समस्त यज्ञादि क्रियायें निष्फल हो जाती हैं ॥५६॥ जिस कुल में पत्नी, भगिनी, कन्या आदि स्त्रियां परितापादि से दुःखी रहती हैं वह कुल शीघ्र ही विनाश हो जाता है और जिस कुल में ये पत्नी, भगिनी, कन्या आदि स्त्रियां परितापादि से दुःखी नहीं रहती हैं वह कुल सर्वदा धन धान्य आदि से वृद्धि को प्राप्त करता है ॥५७॥ भोजन आदि से अपूजित पत्नी, भगिनी, कन्या आदि स्त्रियां जिस घर को शाप देती हैं वह घर अभिचार से नष्ट धन पशु आदि सहित विनाश हो जाता है ॥५८॥ इस कारण से समृद्धि चाहने वाले मनुष्य द्वारा भूषण वस्त्र और भोजन आदि से सत्कार में और उपनयन आदि उत्सवों में भगिनी, पत्नी, कन्या आदि स्त्रियां सर्वदा पूजा करने योग्य हैं ॥५९॥ जिस कुल में अपनी स्त्री से ही पति संतुष्ट रहता है और अपने पति से ही भार्या संतुष्ट रहती है उस कुल में निश्चय करके नित्य श्री और नित्य कल्याण होता है ॥६०॥ यदि स्त्री वस्त्र भूषण आदि शोभा से युक्त दीप्तिमती नहीं होगी तो वह अपने पति को निश्चय ही प्रसन्न नहीं करेगी और अप्रसन्नता से फिर पति के गर्भ धारण नहीं संपन्न हो सकता है ॥६१॥ स्त्री के कान्तिमती रहने पर सब कुल दीप्त रहता है और स्त्री के मलिन रहने पर समस्त कुल मलिन हो जाता ॥६२॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ (मनु० अ० ९ श्लो० ५)

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।

यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥६॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥७॥
पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥९॥
न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥११॥

थोड़ा भी बुरा सङ्ग से और दौःशील्य संपादकों से विशेष करके स्त्री रक्षा करने योग्य हैं अरक्षित स्त्रियां पिता और पति इन दोनों कुलों में शोक-संताप देने वाली हैं ॥५॥ सब ब्राह्मण आदि वर्णों के यह भार्यारक्षण रूप धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है ऐसा जानते हुए अन्धा, पङ्गु आदि दुर्बल भी पति भार्या को रक्षा करने के लिये यत्न करते हैं ॥६॥ निश्चय करके अपनी भार्या को रक्षा करता हुआ पति अपनी संतति को तथा शिष्ट सच्चरित्र को और अपने कुल को तथा अपनी आत्मा को और अपने धर्म को भी यत्न से रक्षा करता है ॥७॥ पति शुक्ररूप से भार्या में प्रवेश करके स्त्री के पेट में गर्भ होकर यहां पुत्र रूप से उत्पन्न होता है जाया की वही जायात्व है जो कि इस स्त्री में फिर नवा होकर दशवें मास में उत्पन्न होता है ॥८॥ स्त्री जैसे पुरुष की सेवा करती है वैसे ही पुत्र को उत्पन्न करती है इस लिये पुत्र विशुद्धि के लिये स्त्री को यत्न से रक्षा करे ॥९॥ कोई पुरुष बलात्कार से रोक कर स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता है इस लिये इन वक्ष्यमाण रक्षा के उपाय का प्रयोगों से स्त्रियों की रक्षा करने के लिये समर्थ हो सकता है ॥१०॥ धन के संग्रह में और खर्चा करने में तथा द्रव्य और शरीर आदि की शुद्धि में तथा पति सेवा आदि धर्म में और अन्न परिपाक करने में तथा

गृहोपकरण शय्या आसन कुण्ड कटाह आदि के अवेक्षण में इस स्त्री को नियुक्त करे ॥११॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
(मनु० अ० ९ श्लो० २६)

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥२७॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥२८॥

महान् उपकार करने वाली ये स्त्रियां गर्भ उत्पादन के लिये अन्न वस्त्र भूषण आदि से संमान करने योग्य हैं घर में शोभा करने वाली स्त्री और श्री गृह में तुल्य हैं क्योंकि इन दोनों में कोई विशेष नहीं है ॥२६॥ सन्तान उत्पन्न करना और उत्पन्न सन्तान का पालन करना तथा प्रतिदिन अतिथि मित्र आदि का भोजन आदिक लोक व्यवहार का प्रत्यक्ष स्त्री ही कारण है ॥२७॥ पुत्र उत्पन्न करना अग्निहोत्र आदि धर्म कार्य करना अतिथि सेवा करना और उत्तम रति करना तथा पितरों के और अपने अपत्य जनन आदि के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करना यह सब कार्य स्त्री के अधीन हैं ॥२८॥ गर्भिणी स्त्री उस गर्भ को प्रसव से पहले अपने शरीर में धारण करती है। फिर जन्म लेने के बाद वह उसका पिता जातकर्म आदि संस्कारों से और नाना प्रकार के उपचारों से उस कुमार को अभ्युदयशील बनाकर उन्नति करता है। जातकर्म आदि संस्कारोंके विषय में लिखा है—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मंत्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥
(मनु० अ० २ श्लो० २९)

नाभिच्छेदन से पहले पुरुष का जात कर्म नाम का संस्कार किया जाता है उस समय में स्वगृह्योक्त मंत्र से स्वर्ण मधु और घृत का भक्षण शास्त्र में विधान किया गया है ॥२९॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ३०)

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥
शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥३२॥
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३॥

जन्म के दिन से दसवें या बारहवें दिन बालक का नाम पिता करे यदि उस दिन नाम संस्कार न हो सके तो प्रशस्त तिथि प्रशस्त मुहूर्त और प्रशस्त नक्षत्र और गुण वाले सुन्दर दिन के नाम संस्कार पिता करे ॥३०॥ ब्राह्मण का मङ्गल वाचक नाम धरे क्षत्रिय का बल वाचक नाम धरे तथा वैश्य का धन वाचक नाम धरे और शूद्र का निन्दा वाचक नाम धरे ॥३१॥ ब्राह्मण का शर्मान्त नाम करे और क्षत्रिय का वर्मान्त नाम करे तथा वैश्य का गुप्तान्त नाम करे और शूद्र का प्रेष्यान्त नाम करे ॥३२॥ सुख से उच्चारण करने योग्य हो तथा क्रूर अर्थ वाचक न हो और स्पष्ट अर्थ का वाचक हो तथा मन का प्रीतिजनक हो और मङ्गलवाची हो तथा दीर्घ-स्वरान्त हो और आशीर्वाद वाचक शब्द से युक्त हो ऐसा स्त्री का नाम रखना चाहिये ॥३३॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ३४)

बालक के जन्म से चौथे मास में घर से बाहर सूर्य देखने के लिये निकाले और जन्म से छठवें मास में अन्न प्राशन करे तथा जो कुल में परम्परा से मङ्गल इष्ट हो उसको समय से करे ॥३४॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ३५)

वेद की प्रेरणा से सब द्विजातियों का चूडाकर्म संस्कार जन्म से पहले या तीसरे वर्ष में धर्म के लिये करने योग्य है ॥३५॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ३६)

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७॥

गर्भ के वर्ष से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे और गर्भ के वर्ष से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का उपनयन संस्कार करे तथा गर्भ के वर्ष से बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन संस्कार करे ॥३६॥ ब्रह्मवर्चसकाम वाला ब्राह्मण का उपनयन संस्कार गर्भ के वर्ष से पांचवें वर्ष में करे तथा बल चाहने वाला क्षत्रिय का उपनयन संस्कार गर्भ के वर्ष से छठवें वर्ष में करे और बहुत कृषि आदि अर्थ चाहने वाला वैश्य का उपनयन संस्कार गर्भ के वर्ष से आठवें वर्ष में करे ॥३७॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥

(मनु० अ० २ श्लो० ६५)

गर्भ के वर्ष से सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का केशान्त नाम का संस्कार विधान किया गया है तथा गर्भ के वर्ष से बायिसवें वर्ष में क्षत्रिय का केशान्त संस्कार विधान किया गया है और गर्भ के वर्ष से चौबिसवें वर्ष में वैश्य का केशान्त नाम का संस्कार शास्त्र में विधान किया गया है ॥६५॥ इन संस्कारों से उस बालक को संस्कृत करके जो वह पिता बालक का पालन करता है वह मानो इन मनुष्यों की परम्परा बढ़ाने के द्वारा अपनी ही रक्षा करता है। क्योंकि इसी प्रकार एक से एक उत्पन्न

होकर ये सब मनुष्य विस्तार को प्राप्त हुए हैं। यह कुमार रूप से माता के गर्भ से बाहर निकलना संसारी जीव का दूसरा जन्म है ॥३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥४॥

अन्वयार्थ—(अस्य) इस पिता का (सः) वह (अयम्) यह (आत्मा) पुत्र रूप आत्मा (पुण्येभ्यः) पवित्र कर्मों के अनुष्ठान के लिये (प्रतिधीयते) प्रतिनिधि रूप से स्थापित किया जाता है (अथ) उसके अनन्तर (अस्य) इस पुत्र का (अयम्) यह पिता रूप (इतरः) दूसरा (आत्मा) आत्मा (कृतकृत्यः) अपना कर्तव्य पूरा करके (वयो गतः) आयु पूरी होने पर (प्रैति) यहां से मर कर चला जाता है (सः) वह पिता (इतः) यहां से (प्रयन्) जाता हुआ (एव) ही (पुनः) फिर (जायते) उत्पन्न होता है (तत्) वह (अस्य) इस संसारी पुरुष का (तृतीयम्) तीसरा (जन्म) जन्म है ॥४॥

विशेषार्थ—यह जो उस पिता का पुत्र रूप आत्मा है। क्योंकि लिखा है—**आत्मा वै पुत्रनामासि।** (श्रुति) पिता की आत्मा ही पुत्र है। वह पुत्र अग्निहोत्र देव पूजा और अतिथि सेवा आदि शास्त्रोक्त पवित्र कर्मों को करने के लिये पिता का प्रतिनिधि होता है। इससे वह पिता पुत्र के ऊपर अपना सब भार रख कर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् अपने को पितृ ऋण से मुक्त मानता है। क्योंकि लिखा है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः। (श्रुति) उत्पन्न होता हुआ ही ब्राह्मण देवऋण तथा पितृऋण और ऋषिऋण इन तीन ऋणों से युक्त ही उत्पन्न होता है। यज्ञ से देवऋण से मुक्त होता है तथा सन्तान से पितृऋण से मुक्त होता है और वेदाध्ययन से ऋषिऋण से मुक्त हो जाता है।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृ-

लोको विद्यया देवलोकः। (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ५ श्रु० १६)

अब मनुष्यलोक पितृलोक और देवलोक ये ही तीन लोक हैं। वह यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है किसी अन्य कर्म से नहीं। तथा पितृलोक कर्म से जीता जा सकता है। और देवलोक विद्या से जीता जा सकता है ॥१६॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

(मनु० अ० ६ श्लो० ३५)

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥३६॥

तीन ऋणों को संशोधन करके मन को मोक्ष में लगावे ॥३५॥ शास्त्र विधि के अनुसार वेदों को पढ़कर तथा धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों को अनुष्ठान करके मन को मोक्षाश्रम में लगावे ॥३६॥ इस प्रकार ऋणों से मुक्त होकर वह पिता शरीर की आयु पूर्ण होने पर इस शरीर को छोड़ कर यहां से विदा हो जाता है तब यहां से जाकर दूसरी जगह कर्मानुसार जहां जिस योनि में जन्म लेता है वह इस संसारी जीव का तीसरा जन्म है ॥४॥

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥५॥

अन्वयार्थ—(तत्) यही बात (ऋषिणा) मंत्रद्रष्टा वामदेव ऋषि द्वारा (उक्तम्) कही गयी है (नु) अहो (अहम्) मैंने (गर्भे) गर्भ में (सन्) रहते हुए ही (एषाम्) इन अग्नि आदि (देवानाम्) समस्त देवताओं के (विश्वा) संपूर्ण (जनिमानि) जन्मों को (अन्ववेदम्) भलीभांति जान लिया (मा) मुझको (शतम्) सैकड़ों (आयसीः) लोहे के समान कठोर (पुरः) शरीरों ने (अरक्षन्) अवरुद्ध कर रक्खा था (अधः) अब नीचे (श्येनः) मैं बाजपक्षी के (इव) समान (जवसा) वेग से (निरदीयम्)

उनको छेदन करके बाहर निकल आया हूँ (गर्भे) माता के गर्भ में (एव) ही (शयानः) सोते हुए (वामदेवः) वामदेव ऋषि ने (एवम्) इस प्रकार (एतत्) यह बात (उवाच) कही ॥५॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में वामदेव ऋषि का कथन प्रतिपादन किया गया है कि— पूर्वोक्त चार मन्त्रों में कही हुई बात का ही रहस्य रूप यह बात वामदेव ऋषि ने भी कही है। ऋषि के विषय में लिखा है—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् सन्नियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥

(वायुपुरा० अ० ४९ श्लो० ७९)

गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नाम निर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेष स्वयंभूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥८१॥

"ऋष्" धातु गमन, श्रवण, सत्य और तप इन अर्थों में प्रयुक्त होता है ये सब बातें जिसके अन्दर एक साथ निश्चितरूप से हों उसीका नाम ब्रह्मा ने ऋषि रक्खा है ॥७९॥ गत्यर्थक "ऋष्" धातु से ही ऋषि शब्द की निष्पत्ति हुई है और आदि काल में यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है इसी से इसकी ऋषि संज्ञा है ॥८१॥ वामदेवऋषि ने माता के गर्भ में रहते हुए ही कहा था—अहो कितने आश्चर्य और आनन्द की बात है कि माता के उदर में रहते ही मैंने अग्नि आदि देवताओं के सब जन्मों के वृत्तान्त को जान लिया। देवता के विषय में लिखा है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता दित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता (यजु० अ० १४ मं० २०)

अग्निदेव, वायुदेव, सूर्यदेव, चन्द्रदेव, आठ वसुदेव, ग्यारह रुद्रदेव, बारह आदित्यदेव, ओञ्चास मरुतदेव, विश्वेदेवदेव, बृहस्पतिदेव, इन्द्रदेव, वरुणदेव हैं ॥२०॥ यथार्थ ज्ञान होने से पहले मुझको सैकड़ों लोहे के समान कठोर शरीररूपी पिंजरों में अवरुद्ध कर रक्खा था। परन्तु अब मैं संसाररूप जाल में से नीचे को देखता हुआ अर्थात् नीचे के नरकादि लोकों के कष्ट की ओर ध्यान देता हुआ श्रीमन्नारायण की उपासना रूप

बल के वेग से बाज पक्षी के समान जाल काटकर बाहर निकल आया हूँ। उन शरीर रूप पिंजरों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वामदेवऋषि ने माता के गर्भ में सोते हुए ही ऐसा कहा था ॥५॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गेलोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥६॥

॥ इति द्वितीयाध्याये प्रथमखण्डः ॥

॥ इति द्वितीयाध्यायः ॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) जन्म-जन्मान्तर के रहस्य को जाननेवाला (सः) वह वामदेवऋषि (अस्मात्) इस प्राकृत (शरीरभेदात्) शरीरके नाश होने से (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वगति के द्वारा (उत्क्रम्य) संसार से निकल कर (अमुष्मिन्) उस (स्वर्गे) स्वर्ग (लोके) लोक परम-धाम में जाकर (सर्वान्) समस्त (कामान्) भोगों को (आप्त्वा) पाकर (अमृतः) अमर (समभवत्) भली भांति हो गया अमर (समभवत्) भली भांति हो गया ॥६॥

विशेषार्थ—इस प्रकार के जन्मजन्मान्तर के रहस्य को जाननेवाला ज्ञानी वामदेवऋषि माता के गर्भ से बाहर आकर अन्त में प्राकृत शरीर के नाश होने पर संसार से ऊपर उठ गया और ऊर्ध्वगति के द्वारा भगवान् के परमधाम यानी मोक्ष स्थान में पहुँचकर वहां समस्त कामनाओं को पाकर जन्म मृत्यु के चक्र से सदा के लिये छूट गया। इस श्रुति में "स्वर्ग" शब्द परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्षवाचक है। क्योंकि लिखा है—

अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ।

(के० उ० खं० ४ श्रु० ६)

समस्त पापों को नष्ट करके अनन्त सबसे श्रेष्ठ मोक्षस्थान में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥६॥ **शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके** (कठो० अ० १ व० १ श्रु० १८) भगवदुपासक शोक से पार होकर मोक्षस्थान में आनन्द भोगता है ॥१८॥ **अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्व**

विमुक्ताः (बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ८) विमुक्त ब्रह्मवेत्ता लोग इससे ऊपर मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥८॥ इन प्रमाणों से यहाँ पर "स्वर्ग" का अर्थ मोक्ष स्थान होता है। वामदेवऋषि के विषय में अन्यत्र भी लिखा है— **वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्** (सांख्यद० अ० १ सू० १५८) वामदेव आदि ऋषि मुक्त हो गये हैं इससे मायावादियों का अद्वैतमत नहीं सिद्ध होता है ॥१५८॥ **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्** (शा० अ० १ पा० १ सू० ३१) उपास्य परब्रह्म नारायण के स्वात्मत्वेन यह उपदेश शास्त्र दृष्टि से ही किया गया है वामदेवऋषि के समान ॥३१॥

तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि (बृह०उ०अ०३ब्रा०४श्रु०१०) (श्रीभाष्य०इन्द्रप्राणाधि०११)

इस ज्ञान को साक्षात्कार करता हुआ वामदेवऋषि ने कहाकि— मैं मनु हुआ था और मैं सूर्य हुआ था अब मैं कक्षीवान् ऋषि हूँ ॥१०॥११॥ इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि—जन्म जन्मान्तर के रहस्य को जानने वाला वामदेव ऋषि था। इस श्रुति में "समभवत्" पद का दो बार उच्चारण द्वितीय अध्याय की समाप्ति का सूचना करता हुआ उक्त विषय की निश्चितता को भी प्रतिपादन करता है। क्योंकि यह लिखा है कि—

अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः ।
द्विरुक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये ॥

(वाराहसंहि० अ० १ पा० ४ सू० २६)

अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिये प्राज्ञ जन अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करते हैं ऐसा श्रौत सिद्धान्त का विशेषरूप से निर्णय है ॥२६॥

अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद्वेदे वा वैदिकेऽपि वा ।
विचारो यत्रसज्जेत पूर्वोक्तस्यावधारणे ॥
अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्चकृतोभवेत् ।
विनिन्द्यचेतरान्मार्गान्सम्पूर्णफलता तथा ॥

(गारुडसंहि० अ० २ पा० ४ सू० २३)

वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण होना चाहिये। और पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहां पर प्रवृत्त होता है वहां पर दो बार उच्चारण होता है। और जहां पर नहीं कहे हुए प्रमाणों का स्वीकार किया जाता है तथा वेद विरुद्ध मार्गों की निन्दा करके संपूर्णता रूप फल प्राप्त होता है वहां पर भी अन्तिम वाक्य दो बार कहा जाता है ॥२३॥ यहां ऐतरेयोपनिषद्" के द्वितीय अध्याय का प्रथम खण्ड और द्वितीय अध्याय भी समाप्त हो गया ॥६॥.

॥ अथ तृतीयाध्यायः ॥

॥ अथ प्रथमखण्डः ॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतर स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥१॥

अन्वयार्थ—(वयम्) हमलोग (उपास्महे) जिसकी उपासना करते हैं वह (अयम्) यह (आत्मा) आत्मा परब्रह्म नारायण (कः) कौन है (इति) इस प्रकार का विचार प्रारम्भ किया जाता है (वा) अथवा (येन) जिससे (पश्यति) मनुष्य रूप को देखता है (वा) या (येन) जिससे (शृणोति) मनुष्य शब्द को सुनता है (वा) अथवा (येन) जिससे (गन्धान्) गन्धों को (आजिघ्रति) भलीभांति सूंघता है (वा) या (येन) जिससे (वाचम्) वाणी को (व्याकरोति) स्पष्ट बोलता है (वा) अथवा (येन) जिससे (स्वादु) स्वादयुक्त (च) और (अस्वादु) स्वादरहित वस्तु को (च) भी (विजानाति) अलग अलग जानता है (सः) वह (आत्मा) आत्मा (कतरः) पहले अध्यायों में कहे हुए दो आत्माओं में से कौन है ॥१॥

विशेषार्थ—"ऐतरेयोपनिषद्" के पहले अध्याय में आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। (ऐत० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र परमात्मा ही था ॥१॥ इस श्रुति द्वारा एक आत्मा का वर्णन किया गया है। जिसने सृष्टि की रचना की और सजीव पुरुष को

प्रकट करके उसका सहयोग देने के लिये स्वयं ब्रह्मरंध्र को चीरकर उसमें प्रवेश किया है। और दूसरे अध्याय में—**पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति।** (ऐत० उ० अ० २ खं० १ श्रु० १)यह संसारी जीव निश्चय करके पहले पहल पुरुष शरीर में ही वीर्य रूप से गर्भ बनता है ॥१॥ इस श्रुति द्वारा एक आत्मा का वर्णन किया गया है। जिसके गर्भ में आने से लेकर मरण पर्यन्त का और जन्म जन्मान्तर की परम्परा का वर्णन किया गया है। इन दोनों में से उपास्य देव कौन है और वह कैसा है। इन बातों का निर्णय करने के लिये यह तीसरा अध्याय कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—**ओमित्येवं ध्यायथात्मानम्।** (मुण्डको० मु० २ खं० २ श्रु० ६) ओम् इस नाम के द्वारा परब्रह्म नारायण का ध्यान करो ॥६॥ **आत्मानमेव लोकमुपासीत।** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ४ श्रु० १५) प्रकाशमान आत्मा की उपासना करे ॥१५॥ **आत्मेत्येवोपासीत।** (बृह० उ० अ० ३ ब्रा० ४ श्रु० ७) आत्मा की ही उपासना करे ॥७॥ इन श्रुतियों के द्वारा उपास्य जो आत्मा है उसी के विषय में करुणामयी श्रुति स्वतः प्रश्न करती है। क्योंकि लिखा है—**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।** (गी० अ० ४ श्लो० ३४) उस आत्म विषयक ज्ञान को साष्टाङ्ग प्रणिपात करने से तथा जिज्ञासु भाव से प्रश्न करने से और सेवा करने से तुम जानो ॥३४॥ इस गीता के वचनानुसार मुमुक्षु लोग अनित्य संसार से निवृत्त होने की इच्छा से परस्पर विचार करते हुए पूछते हैं कि—जिसकी हम लोग उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है। इस श्रुति में "आत्मा" पद परब्रह्म नारायण का ही वाचक है। क्योंकि लिखा है—**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।** (ऐत० उ० अ० १ खं० १ श्रु० १) यह ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त स्थावर जंगम स्वरूप जगत् सृष्टि से पहले एकमात्र प्रसिद्ध संपूर्ण हेय गुणों से रहित एकतान कल्याणमय परमात्मा ही था ॥१॥ **नैवेह किञ्चनाग्र आसीत। दिव्यो देव एको नारायणः।** (सुबालो० खं० ६) सृष्टि से पहले यहां कुछ भी नहीं था दिव्य देव एक नारायण ही था ॥६॥ **एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नाग्नीषोमौ**

नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः । (महोप०अ० १ श्रु० १) सृष्टि के आदि समय निश्चय करके एक नारायण ही थे न ब्रह्मा थे, न रुद्र थे, न अग्नि था, न सोम था, न ये द्युलोक और भूलोक थे न नक्षत्र थे, न सूर्य थे और न चन्द्रमा ही थे ॥१॥

शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । (नारायणो० श्रु०२) शुद्धदेव एक नारायण हैं दूसरा कोई भी नहीं है ॥२॥ इन जगत् कारणवादिनी श्रुतियों का यथार्थ विवेचन करने से और— नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । (कठो० अ० १ व० २ श्रु० २३) (मुण्डको० मु० ३ खं० २ श्रु० ३) यह परब्रह्म परमात्मा प्रवचन साधन मनन से नहीं प्राप्त हो सकता है और ध्यान से भी नहीं प्राप्त हो सकता है और बहुत सुनने से भी नहीं प्राप्त हो सकता है ॥२३।३॥ आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । (श्वे० उ० अ० ३ श्रु० २०) परमात्मा इस जीव की हृदय रूप गुफा में छिपा हुआ है ॥२०॥ आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् । (मनु० अ० १२ श्लो० ११९) परमात्मा ही इन समस्त जीवों के कर्म संबन्ध को उत्पन्न करता है ॥११९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । (गी० अ० १० श्लो० २०)
हे अर्जुन सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ ॥२०॥

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥
(लिङ्गपु० १।७०।९६)

जो यह सबको व्याप्त करता है तथा ग्रहण करता है और इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है इसलिये यह आत्मा कहलाता है ॥९६॥ इन पूर्वोक्त श्रुति स्मृति पुराणों के प्रमाणों से तथा व्याप्ति बोधक "आप्" भक्षणार्थक "अद्" सतत गमन बोधक "अत" धातु से "आत्मा" पद निष्पन्न होने से "आत्मा" का अर्थ परब्रह्मनारायण होता है । जिसके सहयोग से मनुष्य समस्त रूपों को नेत्रों से देखता है ।

और जिसके सहयोग से मनुष्य शब्दों को कानों से सुनता है। तथा जिसके सहयोग से मनुष्य गन्धों को घ्राण इन्द्रिय से भलीभांति सूंघता है। और जिसके सहयोग से मनुष्य वचन को वाणी से स्पष्ट बोलता है। तथा जिसके सहयोग से मनुष्य रसना द्वारा स्वादयुक्त और स्वादहीन वस्तु को अलग अलग जानता है। वह पहले और दूसरे अध्यायों में वर्णित दो आत्माओं में से कौन है। इस श्रुति के कुछ अंश में समान अर्थ प्रतिपादन करने वाली श्रुति "केनोपनिषद्" में भी है—

येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ॥ (केनो० खं०१ श्रु० ४) **येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ॥५॥ येन चक्षूंषि पश्यन्ति । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ॥६॥ येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ॥७॥ येन प्राणः प्रणीयते । तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि ॥८॥**

जिस परब्रह्म नारायण से प्रेरित वाणी पुरुषों से उच्चारण की जाती है। तुम उसको ही परब्रह्म नारायण जानो ॥४॥ जिस परब्रह्म नारायण से प्रेरित मन मनुष्य का जाना हुआ हो जाता है ऐसा भगवदुपासक लोग कहते हैं। तुम उसको ही परब्रह्म नारायण जानो ॥५॥ जिस परब्रह्म नारायण से प्रेरित नेत्र रूपों को देखते हैं। तुम उसको ही परब्रह्म नारायण जानो ॥६॥ जिस परब्रह्म नारायण से प्रेरित यह कान शब्दों को सुनता है। तुम उसको ही परब्रह्म नारायण जानो ॥७॥ जिस परब्रह्म नारायण से प्रेरित प्राण अपने विषय के तरफ चेष्टा युक्त होकर जाता है। तुम उसको ही परब्रह्म नारायण जानो ॥८॥ इस प्रकार प्रकृत श्रुति में विचार किया गया है ॥१॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिधृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (एतत्) यह (हृदयम्) हृदय है (एतत्) यही (मनः) मन (च) भी है (संज्ञानम्) सम्यक् ज्ञानशक्ति (आज्ञानम्) आज्ञा देने की शक्ति (विज्ञानम्) विभिन्न रूप से जानने की शक्ति (प्रज्ञा-

नम्) तत्काल जानने की शक्ति (मेधा) धारण करने की शक्ति (दृष्टिः) देखने की शक्ति (धृतिः) धैर्य (मतिः) आगामी वस्तु के निश्चय करने की शक्ति (मनीषा) मनन करने की शक्ति (जूतिः) वेग यानी क्षण भर में कहीं से कहीं चले जाने की शक्ति (स्मृतिः) स्मरणशक्ति (संकल्पः) संकल्प शक्ति (क्रतुः) मनोरथशक्ति (असुः) प्राणशक्ति (कामः) अप्राप्त विषय की तृष्णा (वशः) स्त्री संसर्ग आदि की इच्छा (इति) इस प्रकार (एतानि) ये (सर्वाणि) सब (प्रज्ञानस्य) प्रज्ञान के (एव) ही (नामधेयानि) नाम (भवन्ति) होते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—इस श्रुति में प्रज्ञान का सोलह नाम वर्णन किया गया है। जो यह अन्तःकरण हृदय है यही पहले बताया हुआ मन है। सम्यक् प्रकार से जानने की शक्ति १, दूसरों पर आज्ञा द्वारा शासन करने की शक्ति २, विज्ञान यानी परम तत्त्व के विषय में असाधारण विशेष ज्ञान ३. क्योंकि लिखा है—

विज्ञानं परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम् ।

(रामानुजभाष्य० गी० अ० १८ श्लो० ४२)

परतत्त्व के विषय में असाधारण विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है ॥४२॥ तत्काल जानने की शक्ति ४, धारण करने की शक्ति ५, देखने की शक्ति ६, धृति ७ धृति के विषय में लिखा है—

वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा । इति विज्ञाननिष्पत्ति-धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः । (जाबालद० उ० खं० १ श्रु० १८)

वेद से ही संसार को मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है उसी को वैदिकों ने धृति कहा है ॥१८॥ मति ८ मति के विषय में लिखा है—

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र सम्बन्धवर्जितः । वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् । (जाबालद० उ० खं० २ श्रु० १०)

गुरुजनों के कहने पर भी वेद विरुद्ध मार्ग से संबन्ध न रखते हुए संपूर्ण वैदिक उपदेशों में जो पूर्णतः श्रद्धा होती है उसीका नाम मति है ॥१०॥ मनन करने की शक्ति ९, वेग यानी क्षण भर में कहीं से कहीं चले जाने की शक्ति १० स्मृति ११ स्मृति के विषय में लिखा है—

स्मृतिः यथावस्थिततत्त्वज्ञानम् । (रामानुजभाष्य० गी० अ० १८ श्लो० ७३) यथार्थ तत्त्वज्ञान का नाम स्मृति है ॥७३॥ संकल्प की शक्ति १२, क्रतु १३, क्रतु के विषय में लिखा है—

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रम् । (महाभार०अनुशा०विष्णुसह० श्लो० ६१) यज्ञ, इज्य, महेज्य, क्रतु और सत्र ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥६१॥ **अहं क्रतुः ।** (गी० ६ श्लो० १३) मैं क्रतु हूं ॥१३॥ प्राण शक्ति १४, प्राण के विषय में लिखा है—

प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति । (बृह० उ० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० ७)

प्राणन करने के कारण ही परमात्मा प्राण नाम वाला है ॥७॥

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः ।

(कौषीतकिब्रा० उ० अ० ३ श्रु० ३)

जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है ॥३॥

अच्युतः प्रथितः प्राणः । (महाभार० अनुशा० विष्णुसह० श्लो० ४८)

अच्युत, प्रथित, प्राण, ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥४८॥ अप्राप्त बिषय की तृष्णा १५ काम के विषय में लिखा है—

कामः कामप्रदः प्रभुः । (महाभार०अनुशा०विष्णुसह० श्लो० ४५)

काम, कामप्रद और प्रभु ये परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥४५॥ वश यानी स्त्री सहवास आदि की इच्छा १६ ये सब प्रज्ञान यानी परब्रह्म नारायण के नाम हैं। इस श्रुति में "प्रज्ञान" का अर्थ परब्रह्म नारायण है। क्योंकि लिखा है—**प्रज्ञानं ब्रह्म ।** (ऐत० उ० अ० ३ खं० १ श्रु० ३) प्रज्ञान परब्रह्म नारायण है ॥३॥ पूर्वोक्त सोलह परब्रह्म नारायण के नाम हैं ॥२॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानी-तराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेद जानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किं

चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥

अन्वयार्थ—(एषः) यह (ब्रह्मा) ब्रह्मा है (एषः) यह (इन्द्रः) इन्द्र है (एषः) यह (प्रजापतिः) प्रजापति है (एते) ये (सर्वे) समस्त (देवाः) देवता (च) तथा (इमानि) ये (पृथिवी) पृथिवी (वायुः) वायु (आकाशः) आकाश (आपः) जल और (ज्योतींषि) तेज (इति) इस प्रकार (एतानि) ये (पञ्च) पांच (महाभूतानि) महाभूत (च) और (इमानि) ये (क्षुद्रमिश्राणि) छोटे छोटे मिले हुए के (इव) समान (बीजानि) बीजरूप समस्त प्राणी (च) और (इतराणि) इनसे भिन्न (इतराणि) दूसरे (च) भी (अण्डजानि) अण्डे से उत्पन्न होने वाले (च) और (जारुजानि) जेर से उत्पन्न होने वाले (च) तथा (स्वेदजानि) पसीने से उत्पन्न होने वाले (च) और (उद्भिजानि) जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले (च) तथा (अश्वाः) घोड़े (गावः) गायें (हस्तिनः) हाथी (पुरुषाः) मनुष्य (यत्) जो (किम्) कुछ (च) भी (इदम्) यह जगत् है (च) और (यत्) जो (पतत्रि) आकाश में उड़ने वाला पांख वाला (च) तथा (जङ्गमम्) चलने फिरने वाला (च) और (स्थावरम्) नहीं चलने वाला (प्राणि) प्राणिवर्ग है (तत्) वह (सर्वम्) सब (प्रज्ञानेत्रम्) प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने अपने कार्य में समर्थ होने वाले हैं और (प्रज्ञाने) प्रज्ञान स्वरूप परब्रह्म नारायण में ही (प्रतिष्ठितम्) स्थित है (लोकः) समस्त ब्रह्माण्ड (प्रज्ञानेत्रः) प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा से ही ज्ञान शक्ति युक्त है (प्रज्ञा) प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही (प्रतिष्ठा) इस स्थिति का आधार है (प्रज्ञानम्) प्रज्ञान ही (ब्रह्म) उपास्य देव परब्रह्म नारायण है ॥३॥

विशेषार्थ—इस प्रकार विचार करके मुमुक्षुओं ने निश्चय किया कि सबको उत्पन्न करके सब प्रकार की शक्ति प्रदान करने वाले और उनकी रक्षा करने वाले परब्रह्म नारायण ही उपास्यदेव हैं। ये ही ब्रह्मा हैं ये ही पहले अध्याय के तृतीय खण्ड की चौदहवीं श्रुति में वर्णित इन्द्र हैं। ये ही सबको उत्पन्न और पालन करने वाले सबके स्वामी प्रजापति हैं।

ये ही समस्त अग्नि इन्द्र आदि देव हैं। क्योंकि लिखा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वे० अ० २ अ० ३ व० २२)

इन्द्र, सूर्य; वरुण, अग्नि, दिव्य, गरुड, गरुत्मान्, दीप्तिमान्, यम, वायु, एक 'सत्' इत्यादि इत्यादि अनेक प्रकार से विप्रगण परब्रह्म नारायण को कहते हैं ॥२२॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।

(तैत्ति० आर० प्रपाठ० १० अनुवा० ११ श्रु० १४)

वह परब्रह्मनारायण ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और अविनाशी परम स्वतन्त्र परमात्मा है ॥१४॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा ॥

(कैवल्यो० खं० श्रु० ८)

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥९॥

वे परब्रह्मनारायण ही चतुर्मुख ब्रह्मा हैं वे ही पञ्चमुख शिव हैं वे ही देवराज इन्द्र हैं वे ही अक्षर परमात्मा हैं वे ही चतुर्भुज विष्णु हैं वे प्राण हैं वे काल हैं वे अग्नि हैं वे चन्द्रमा हैं ॥८॥ जो कुछ हो चुका और जो कुछ आगे होने वाला है सब वे ही हैं उन सनातन भगवान् को जानकर जीव मृत्यु के परे चला जाता है इसके अतिरिक्त मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥९॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

(मनु० अ० १२ श्लो० १२३)

इस परब्रह्म नारायण को कोई अग्नि बतलाते हैं और कोई मनु कोई प्रजापति कोई इन्द्र कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं ॥१२३॥

और ये ही पांचों महाभूत जो पृथिवी वायु आकाश जल तथा तेज के रूप में प्रकट हैं। तथा ये छोटे छोटे मिले हुए से बीज रूप में स्थित समस्त प्राणी और उनसे भिन्न दूसरे अण्डे से उत्पन्न होनेवाले जेर से उत्पन्न होने वाले पसीने से उत्पन्न होने वाले और जमीन फोर कर उत्पन्न होने वाले हैं सब वे ही हैं। अण्डज के विषय में लिखा है—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैव प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥

(मनु० अ० १ श्लो० ४४)

पक्षी, सांप, नक्र, मछली, कच्छप और इसी प्रकार स्थल में उत्पन्न होनेवाले कृकलास आदिक और उदक में उत्पन्न होने वाले शंख आदिक ये सब अण्डे से उत्पन्न होनेवाले प्राणी हैं ॥४४॥ और जरायुजों के विषय में लिखा है—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥

(मनु० अ० १ श्लो० ४३)

पशु, मृगा और ऊपर नीचे दांत वाले व्याल तथा राक्षस और पिशाच तथा मनुष्य ये जेर से उत्पन्न होनेवाले प्राणी हैं ॥४३॥ तथा स्वेदजों के विषय में लिखा है—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्॥

(मनु० अ० १ श्लो० ४५)

डंस, मच्छड़, जोंक, मांछि, खटमल और इसी प्रकार पिपीलिका आदिक हैं ये सब पसीने से उत्पन्न होनेवाले प्राणी हैं ॥४५॥ और उद्भिज के विषय में लिखा है—उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः (मनु० अ० १ श्लो० ४६) स्थावर सब प्राणी दो प्रकार के होते हैं एक बीज से उत्पन्न और दूसरे शाखा से उत्पन्न होते हैं ये सब जमीन फोर कर उत्पन्न होनेवाले प्राणी हैं ॥४६॥ अर्थात् घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है तथा जो कोई पांव वाले और चलने

फिरने वाले तथा नहीं चलनेवाले जीवों के समुदाय हैं ये सब प्राणी प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने अपने कार्य में समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा में ही स्थित हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा की शक्ति से ही ज्ञानशक्तियुक्त है। प्रज्ञा ही इसकी स्थिति का आधार है। प्रज्ञा के विषय में कौपीतकि ब्राह्मणोपनिषद्में लिखा है—

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति। प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वाञ्छब्दानाप्नोति। प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसा-नाप्नोति। प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति। प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति। प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति। प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति (कौपीतकिब्रा० उ० अ० ३ श्रु० ६)

प्रज्ञा से वाक् इन्द्रिय पर आरूढ़ होकर मनुष्य वाणी से समस्त नामों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से घ्राणेन्द्रिय पर आरूढ़ होकर घ्राण से समस्त गन्धों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से नेत्र पर आरूढ़ होकर नेत्र से सब रूपों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से श्रोत्र पर आरूढ़ होकर श्रोत्र से सब शब्दों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से जिह्वा पर आरूढ़ होकर जिह्वा से संपूर्ण अन्नरसों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से हाथों पर आरूढ़ होकर हाथों से समस्त कर्मों को करता है। प्रज्ञा से शरीर पर आरूढ़ होकर शरीर से सुख और दुःख को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से उपस्थ इन्द्रिय पर आरूढ़ होकर उपस्थ से आनन्द रति और प्रजोत्पत्ति को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से पैरों पर आरूढ़ होकर पैरों से संपूर्ण गमनक्रियाओं को ग्रहण

करता है। और प्रज्ञा से ही बुद्धि पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा अनुभव करने योग्य वस्तु एवं कामनाओं को ग्रहण करता है ॥६॥ यह प्रज्ञान ही उपास्यदेव परब्रह्मनारायण है। यह निश्चय हुआ ॥३॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्सम भवत् ॥४॥

॥ इति तृतीयाध्याये प्रथमखण्डः ॥

॥ ॥इति तृतीयाध्यायः ॥

॥ इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता ॥

अन्वयार्थ—(सः) वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष (अस्मात्) इस (लोकात्) लोक-संसार से (उत्क्रम्य) ऊपर निकल कर (अमुष्मिन्) उस (स्वर्गे) स्वर्ग (लोके) लोक परमधाम वैकुण्ठ में (प्रज्ञेन) प्रकर्षरूप से सब कुछ जानने वाला (आत्मना) परब्रह्म परमात्मा के साथ (सर्वान्) समस्त (कामान्) दिव्य भोगों को (आप्त्वा) प्राप्त होकर (अमृतः) अमर (समभवत्) भली भांति हो गया (समभवत्) अमर भलीभांति हो गया ॥४॥

विशेषार्थ—इस प्रकार चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्मनारायण को जानने वाला ब्रह्मवेत्ता वह वामदेवऋषि इस संसार से ऊपर निकल कर उस स्वर्गलोक परमधाम वैकुण्ठ में जाकर प्रकर्ष रूप से सब कुछ जाननेवाला परब्रह्मनारायण के साथ समस्त दिव्य भोगों को पाकर अमर भलीभांति हो गया अर्थात् जन्म मृत्यु के चक्र से सदा के लिये छूट गया। भोगों के विषय में लिखा है—परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तैत्ति० उ० व० २ अनुवा० १) वह भगवदुपासक उपाधि रहित अनन्याधीन असंकुचित सर्वविषयक ज्ञानवाला सर्वज्ञ परब्रह्मनारायण के साथ सबसे उत्कृष्ट अप्राकृत आकाश परमपद में समस्त

कल्याण गुणों को अनुभव करता है ॥१॥ इस श्रुति में "स्वर्ग" शब्द परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्ष वाचक है। क्योंकि लिखा है—

अपहत्य पाप्मानमनन्ते। स्वर्गेलोके ज्येये प्रतितिष्ठति।

(केनो० खं० ४ श्रु० ६)

समस्त पापों को नष्ट करके त्रिविध परिच्छेद रहित अविनाशी सबसे श्रेष्ठ सुखरूप प्रकाश स्वरूप मोक्ष स्थान में सदा के लिये प्रतिष्ठित हो जाता है ॥६॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।

(कठो० अ० १ व० १ श्रु० १२)

"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" ॥१३॥ मोक्ष स्थान में कुछ भी भय नहीं है वहां मृत्यु नहीं है और वहां पर कोई भी बुढ़ापे से नहीं डरता है मोक्ष स्थान में रहने वाले पुरुष भूख और प्यास इन दोनों को पार करके शोकरहित होकर आनन्द भोगते हैं ॥१२॥ परंपद प्राप्त करने वाले अमृत को सेवन करते हैं ॥१३॥

अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः।

(बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ८)

विमुक्त ब्रह्मवेत्ता लोग इस लोक से ऊपर मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेते हैं ॥८॥ "ऐतरेयोपनिषद्" के दूसरे अध्याय के पहले खण्ड की आठवीं श्रुति में भी "उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गेलोके सर्वान् कामानाप्त्वा मृतः समभवत् समभवत्" ये पद पठित हैं। इस श्रुति में "समभवत्" इस वाक्य की पुनरुक्ति प्रकृत तृतीय अध्याय की और "ऐतरेयोपनिषद्" की समाप्ति सूचित करने के लिये की गयी है। क्योंकि यह लिखा है—

अवधारणार्थं सर्वस्याप्युक्तस्याध्यायमूलतः ।
द्विरुक्तिं कुर्वते प्राज्ञा अध्यायान्ते विनिर्णये ॥

(वाराहसंहि० अ० १ पा० ४ सू० २६)

अध्याय के मूल से लेकर अन्त तक कहे हुए समस्त उपदेश की निश्चितता सूचन करने के लिये ज्ञानी लोग अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करते हैं ऐसा वैदिक मत का विशेष रूप से निर्णय है ॥२६॥

अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्याद्वेदे वा वैदिकेऽपि वा ।
विचारो यत्र सज्जेत पूर्वोक्तस्यावधारणे ॥
अनुक्तानां प्रमाणानां स्वीकारश्च कृतोभवेत् ।
विनिन्द्य चेतरान्मार्गान् सम्पूर्णफलता तथा ॥

(गरुडसंहि० अ० २ पा० ४ सू० २३)

वेद और वेदानुसार ग्रन्थों में अध्याय के अन्त में दो बार उच्चारण करना चाहिये। और पहले कहे हुए अर्थ के निर्धारण में भी विचार जहां पर प्रवृत्त होता है वहां पर दो बार उच्चारण होता है। और जहां पर नहीं कहे हुए प्रमाणों का स्वीकार किया जाता है तथा वेद विरुद्ध मार्गों की निन्दा कर के संपूर्णतारूप फल प्राप्त होता है वहां पर भी अन्तिम वाक्य दो बार कहा जाता है। "ऐतरेयोपनिषद्" में तीन अध्याय हैं। और प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं तथा द्वितीय और तृतीय अध्याय में एक एक खण्ड हैं। सब मिलकर इस उपनिषद् में पांच खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में चार मन्त्र हैं और द्वितीय खण्ड में पांच मन्त्र हैं तथा तृतीय खण्ड में चौदह मन्त्र हैं और चतुर्थ खण्ड में छौ मन्त्र हैं तथा पञ्चम खंड में चार मन्त्र हैं। इस प्रकार सब परिगणन करने से "ऐतरेयोपनिषद्" में तैंतीस मंत्र हैं। यहां 'ऐतरेयोपनिषद्" के तृतीय अध्याय का प्रथम खंड तथा तृतीय अध्याय और "ऐतरेयोपनिषद्" ग्रन्थ समाप्त हो गया ॥४॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम् ।
श्रीरङ्गवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधं
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम् ॥

इति श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्यवेदान्तप्रवर्तकाचार्यश्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्यसत्सम्प्रदायाचार्यजगद्गुरुभगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्यत्रिदण्डिस्वामिविरचिता "गूढार्थ-दीपिका" समाख्या "ऋग्वेदीय-ऐतरेयशाखान्तर्गता ऐतरेयोपनिषद्" भाषा व्याख्या समाप्ता ।

॥ इति माण्डूक्याद्युपनिषत्त्रयी समाप्ता ॥

मुद्रक—श्री श्याम बिहारी सिंह, श्री भारती प्रेस, छपरा (बिहार) ।

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

(१) श्रीलक्ष्मी नारायण मन्दिर
चरित्रवन
मु० पो० बक्सर जि० आरा (शाहाबाद)

(२) वेदाचार्य राजेन्द्र (पं० श्रीराजपति शुक्ल)
रामानुज श्रीवैष्णव दास
३२/१७ ब्रह्मनाल बनारस

(३) छपरा शहर में दो जगह—

पं० श्रीरामदेवाचार्य
संस्कृत कालेज, छपरा

पं० श्रीनाथप्रपन्नाचार्य
दधीचाश्रम, छपरा

मुद्रक :— श्री श्यामबिहारी सिंह, श्री भारती प्रेस, छपरा (बिहार) — १९५४